GL H 891.431
JAI

123904
LBSNAA

त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी
L.B.S. National Academy of Administration
मसूरी
MUSSOORIE
पुस्तकालय
LIBRARY
— 123904
अवाप्ति संख्या
Accession No. 15527
वर्ग संख्या
Class No. GLH 891.431
पुस्तक संख्या
Book No. JAI जायसी

ग,

अलीगढ़

—

FOR ALL KINDS OF
BOOKS & STATIONERY
PLEASE VISIT
ENGLISH BOOK DEPOT
DEHRA DUN

सूफी
महाकवि जायसी

(मलिक मुहम्मद जायसी के जीवन, काव्य और दर्शन का विशद विवेचन)

डा० जयदेव
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशक
भारत प्रकाशन मन्दिर
अलीगढ़

मूल्य ६)

मुद्रक—
बद्रीप्रसाद शर्मा आदर्श प्रेस, अलीगढ़।

परिचय

वर्षों के निरंतर परिश्रम के फलस्वरूप श्री जयदेव कुलश्रेष्ठ हिन्दी जगत को, महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी पर, एक महत्त्व-पूर्ण खोज ग्रन्थ देने में सफल हो सके हैं। मेरी धारणा है कि जायसी के अध्ययन की शृङ्खला में यह प्रयास एक सुदृढ़ कड़ी है। भविष्य में प्रेमाख्यानक काव्य पर कार्य करने वालों को इससे पर्याप्त सहायता मिलेगी। श्री जयदेव जी के प्रबन्ध 'जायसी, उसका काव्य और दर्शन' पर आगरा विश्व विद्यालय ने १९४९ में उनको पी-एच० डी० की उपाधि से विभूषित किया। प्रस्तुत ग्रन्थ थोड़े से परिवर्तन के साथ डाक्टरेट के लिए स्वीकृत प्रबन्ध ही है। यह जायसी का पूर्ण और विशद विवेचन प्रस्तुत करता है। इसमें साहित्यिक विधाओं की विकसित परम्परा एवं मान्यताओं का भी विवेचन किया गया है। कवि के जीवन, उनकी रचनाओं के काल आदि का, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, निश्चय करने की ओर तर्कयुक्त प्रयास है। कवि की कृतियों का विस्तृत अध्ययन, कवि के भाव, भाषा आदि के समझने में सहायक होता है। उपसंहार में कवि के विषय में अपनी धारणाओं की चर्चा करते हुए उसका मूल्यांकन किया गया है। सभी दृष्टियों से यह ग्रन्थ सुन्दर बन पड़ा है। आज आठ वर्ष के उपरांत इस प्रबन्ध को पुस्तक रूप में प्रकाशित होते देख कर मुझे प्रसन्नता होती है। आशा है कि श्री जयदेव जी, परिस्थितियों के अनुकूल न होने पर भी, अपने शोध कार्य में अपनी गति को मन्द न होने देंगे।

अयोध्यानाथ शर्मा,
एम० ए०,
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
सनातन धर्म कालेज.

'साकेत'
आर्य नगर-कानपुर
दिनांक २८-२-१९५७

निवेदन

मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी के प्रथम महाकाव्यकार हैं। इनके पद्मावत् ने हिन्दी के आदि युग में भी वह प्रसिद्धि प्राप्त की थी जिसके परिणाम स्वरूप इसका अनुवाद अन्य प्रादेशिक भाषा—बँगला में हुआ और इसका प्रचलन भारतीय जनता के मध्य होता रहा। फलतः इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ विभिन्न लिपियों—फारसी, अरबी, कैथी नागरी, में उपलब्ध हैं और ज्यों-ज्यों इस ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान जा रहा है, इन प्रतियों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ की इतनी हस्तलिखित प्रतियां प्राप्य हों। परन्तु जायसी के विषय में हिन्दी के विद्वान पर्याप्त समय तक मौन ही धारण किये रहे। जायसी की ख्याति को प्रकाश में लाने का श्रेय एक विदेशी विद्वान् सर जार्ज ग्रियर्सन को है जिन्होंने जायसी की काव्य-कौमुदी को छिटकाया तथा अपने सहयोगी महा महोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी से पद्मावत पर टीका लिखाकर रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल से उसे मुद्रित कराया। सुधाकर जी के असामयिक अवसान के फलस्वरूप जायसी की कीर्ति-कौमुदी को भी ग्रहण लग गया।

परन्तु हिन्दी-जगत् उस काव्य-सुधा का पान करने के लिए आंदोलित होने लगा। इस बार स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने न केवल जायसी के काव्य-द्वय—पद्मावत और अखरावट—का संपादन कर सन् १९२४ ई० में नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित कराया वरन् सुविस्तृत एवम् विद्वत्तापूर्ण भूमिका द्वारा कवि की कृतियों का प्रथम बार सही मूल्यांकन कर जायसी की महत्ता की स्थापना कर दी। यह जायसी विषयक अध्ययन का द्वितीय दौर था। इसके अनन्तर जायसी का अध्ययन उच्च कक्षाओं में प्रायः अनिवार्य सा हो गया। फलतः जायसी की चर्चा पत्र-पत्रिकाओं, निबन्धों और पुस्तकों में चल पड़ी। सैयद कल्बे मुस्तफ़ा के खोज के फलस्वरूप जायसी की एक अन्य कृति 'आखिरी कलाम" प्रकाश में आयी जो जायसी-ग्रन्थावली के सन् १९३५ ई० वाले संस्करण में सम्मिलित हो गयी और आउलो उजालो कृत पद्मावत का बँगला अनुवाद भी

उपलब्ध हुआ। परन्तु शायद समयाभाव से आचार्य शुक्ल इन अध्ययनों के प्रकाश में अपनी भूमिका में विशेष परिमार्जन न कर सके। केवल 'पद्मावत' का प्रारम्भ ६४५ हि० के स्थान पर बँगला अनुवाद के अनुसार ६२७ हि० मान्य ठहराया। आखिरी-कलाम पर भी कोई विशेष प्रकाश न डाला। एक प्रकार से उनका ध्यान पद्मावत पर ही विशेष-रूपेण केन्द्रित रहा।

इसके उपरान्त जायसी से प्रेरित अनुशीलन के तृतीय दौर का श्रीगणेश हुआ। "तसव्वुफ अथवा सूफीमत" नामक ग्रन्थ में पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने सूफीमत पर विद्वत्ता पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया। डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने "हिन्दी प्रेमाख्यानिक काव्य" में प्रेम-मार्गीय कवियों का विवेचन किया और "मलिक मुहम्मद जायसी" नामकी पुस्तक में जायसी पर आलोचना प्रस्तुत की।

इस प्रकार जायसी, सूफीमत, प्रेममार्गीय कवि, आदि विषयों में विभिन्न दृष्टिकोण से स्वतन्त्र अध्ययन प्रस्तुत हुये। इसी दिशा में मेरा प्रयास भी आपके समक्ष उपस्थित है। बड़े हर्ष की बात है कि अध्ययन की यह परम्परा सम्प्रति प्रगति पाती जा रही है। डा० विमल कुमार जैन अपने खोज ग्रन्थ, 'सूफीमत और हिन्दी साहित्य' पर दिल्ली विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० प्राप्त कर चुके हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय ने डा० हरिकान्त श्रीवास्तव को 'भारतीय प्रेमाख्यानक काव्य' पर डाक्टरेट की उपाधि प्रदान की है। डा० माता प्रसाद गुप्त ने वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा जायसी के शुद्ध पाठ के स्थिरीकरण का प्रशंसनीय कार्य प्रस्तुत कर दिया है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने डा० गुप्त के कार्य को और आगे बढ़ाया है, साथ ही कवि के अर्थों को ठीक प्रकार से हृदयंगम कराने के उद्देश्य से गत वर्ष 'पद्मावत—मूल और संजीवनी व्याख्या सहित' अमूल्य ग्रन्थ की भेंट हिन्दी जगत को दी है।

मेरे अनुशीलन का उद्देश्य कवि का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करना था अर्थात् कवि के जीवन वृत, उसके काव्यों का पूर्ण विवेचन तथा उसके दार्शनिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण। कुछ विद्वानों की सम्मति में अनुशीलन कृतियों में प्राप्य सामग्री का चयन और उसका विश्लेषणात्मक वर्गीकरण मात्र होना चाहिये तथा अन्य विवेचक

कतिपय सुनिश्चित निर्णयों की आशा अनुसंधाता से करते हैं। वस्तुतः दूसरे प्रकार के निर्णय बिना विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के सम्भव नहीं है और न वे उस दशा में महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। अस्तु लेखक का दृष्टिकोण प्राप्य सामग्री के विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा अन्य विवेचकों के विचारों के परीक्षण के उपरान्त निजी मान्यताओं को स्पष्ट व्यक्त कर देना रहा है। यथा सम्भव प्रत्येक विवादास्पद विषय को उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री की सहायता से सुलझाकर विभिन्न दृष्टिकोणों की सम्भावनाओं पर पूर्ण रूपेण विवेचन किया गया है।

जायसी के दार्शनिक दृष्टिकोण के स्पष्टीकरण से पूर्व सूफीमत और उसके मूल इस्लाम धर्म के क्रमिक विकास एवम् उसको प्रभावित करने वाली नाथों तथा सिद्धों की विचार-परम्परा, उनकी मान्यताओं एवम् शैली-विशेष का विवेचन भी प्रस्तुत कर दिया गया है। सूफियों की मान्यताओं, उस मत के प्रमुख संस्थापकों, आचार्यों और कवियों के विवेचन से जायसी के निजी दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण उसके काव्यों में पाये जाने वाले विचारों के आधार पर अधिक सुबोध हो सका है। कवि के दार्शनिक विचारों का स्पष्टीकरण करने में पारिभाषिक शब्दों का यथासम्भव कम प्रयोग है, क्योंकि परिभाषिक शब्दों के सहारे विषय का प्रतिपादन तो अधिक विद्वत्ता-पूर्ण प्रतीत होने लगता है, परन्तु बोधगम्य स्पष्टीकरण प्रायः रह जाता है। अस्तु विषय को सुस्पष्ट करने का ध्यान सदैव समक्ष रहा है।

जायसी हिन्दी के आदि युगीन महाकवि हैं। उनके काव्य-विधान को स्पष्ट करने के हेतु साहित्यिक विधानों की चर्चा करना आवश्यक जान पड़ी। अस्तु प्रचलित कतिपय विधानों के विकास के विवेचन से स्पष्ट समझ में आ जाता है कि पद्मावत महाकाव्य का ढाँचा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश के चरित काव्यों तथा लोक प्रचलित लोक कथाओं के सुन्दर समन्वय एवं सामंजस्य का प्रशंसनीय प्रयास है। पद्मावत में पायी जाने वाली अनेक प्रवृतियाँ जो सम्प्रति अनुपयुक्त सी प्रतीत होती हैं, उन्हीं विधानों के कारण हैं। अस्तु पद्मावत जिस सुनिश्चित ढांचे में ढली है उसी का सुविकसित रूप 'रामचरितमानस' उससे लगभग ३० वर्ष पश्चात् उपलब्ध हुआ। कुछ विद्वान Literary Motif को 'साहित्यिक उद्देश्य' कहना तथा कुछ उसके

लिए 'साहित्यिक विधा' कहना अधिक उपयुक्त मानते हैं परन्तु मुझे साहित्यिक विधान ही अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ है।

कवि के जीवन सम्बन्धी सामग्री पुष्ट ऐतिहासिक साक्ष्य के अभाव में सुनिश्चित तो नहीं कही जा सकती है, फिर भी किंबदन्तियों, अन्तः साक्ष्य एवम् अन्य साक्ष्य के आधार पर सत्य के निकट पहुँचने का प्रयास है, जिसमें विशेष त्रुटि न होगी ऐसी आशा है।

इनके अतिरिक्त लेखक के अध्ययन के परिणाम स्वरूप नीचे लिखी मान्यतायें विशेष उल्लेखनीय हैं—

जीवन वृत्त सम्बन्धी—

(१) जायसी का जन्म-काल ६०० हि० तथा मृत्यु काल ६४६ हि० है।

(२) कवि सैयद अशरफ जहाँगीर का शिष्य नहीं था वरन् उनके उत्तराधिकारी मुहम्मद शाह दोदले (शेख मुबारक) का शिष्य था।

(३) जायसी ६४८ हि० में अमेठी पहुँचे थे।

(४) वह अति वृद्ध नहीं हुये थे जैसा कि बुढ़ापे सम्बन्धी उनकी सूक्तियों को पढ़ कर कुछ विवेचकों का अनुमान है।

(५) वे बड़े सहृदय, कर्मठ और विचारशील व्यक्ति थे।

काव्य सम्बन्धी —

(१) जायसी की कृतियों का क्रम और रचनाकाल इस प्रकार है—आखिरी कलाम ६३६ हि०, पद्मावत ६४७ हि०, अखरावट ६४८-४६ हि०।

(२) पद्मावत न अन्योक्ति है न समासोक्ति, वरन् सरस प्रबंध काव्य है जिसमें इन दोनों अलंकारों की बहुलता है।

(३) जायसी पर फारसी का प्रभाव है।

(४) पद्मावत में सरस वर्णन, सुन्दर शब्द-योजना और अलंकार छटा है।

(५) रस परिपाक की दृष्टि से रस-व्यंजना में सफल न होने पर भी करुण की सुन्दर व्यंजना करने में कवि समर्थ हुआ है।

दर्शन सम्बन्धी—

(१) जायसी सूफी कवि है जिस पर भारतीय नाथ-सिद्ध सम्प्रदायों का पर्याप्त प्रभाव है।

(२) कवि पूर्णतया भाग्यवादी है। भाग्य-विधान में पूरी आस्था रखने वाला।

(३) प्रेम-मार्ग का प्रमुख कवि होते हुये भी ज्ञान-मार्ग की उच्चता को मान्यता देने वाला है।

(४) कवि की सर्वोपरि विशेषता है समन्वयवादी होना, घृणा और विद्वेष से ऊपर उठ कर सबके दृष्टिकोण का मूल्यांकन करने वाला।

इस प्रकार 'जायसी, उसका काव्य और दर्शन' पर विशद विवेचन करने वाले मेरे प्रबन्ध को आगरा विश्वविद्यालय ने सन् १६४६ ई० में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत किया था। परन्तु व्यस्त और अव्यवस्थित जीवन, अन्य विषयों पर अनुशीलन की धुन, आदि अनेक कारणों से यह प्रबन्ध जैसे का तैसा पड़ा रहा और प्रकाश में न आ सका, यद्यपि जायसी विषयक नवीनतम विवेचनों के प्रकाश में इसमें आवश्यक परिमार्जन होता रहा। पूज्य पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा के प्रोत्साहन, श्रद्धेय डॉ० दीनदयाल गुप्त के अनुरोध तथा अनुज डॉ० ओम्प्रकाश की व्यवस्था से वह प्रबन्ध 'सूफी महाकवि जायसी' के नाम से प्रस्तुत किया जा रहा है। मुझे वर्तमान नाम व्यापक और लक्ष्य का अधिक स्पष्टीकरण करने वाले प्रतीत हुआ है। इसका सूफी शब्द कवि के दार्शनिक दृष्टिकोण का सूचक है, महाकवि उसके काव्य का मूल्यांकन कर देता है और अन्तिम शब्द से कवि के जीवन-वृत्त की ओर इंगित हो जाता है। अस्तु प्रस्तुत कृति मलिक मुहम्मद जायसी का पूर्ण और विषद विवेचन प्रस्तुत करती है।

इस पुस्तक के लिखने में अनेक विद्वानों की कृतियों का उपयोग किया गया है जिनका यथास्थान निर्देश है। जायसी की पंक्तियों के उद्धरण के साथ जायसी ग्रन्थावली के नवीन संस्करण (सं० २००३ वि०) के पृष्ठों की संख्या दी गई है। यदि किसी अन्य संस्करण की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक हुआ है तो उसका निर्देश यथा स्थान

है। छापे की अशुद्धियाँ तो हिन्दी पुस्तकों का स्वत्व हो गया है जिनसे यह कृति भी वंचित नहीं रह पाई है।

इस पुस्तक के प्रणयन में पूज्य गुरुवर श्री पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सनातन धर्म कालेज कानपुर तथा आगरा विश्वविद्यालय के हिन्दी बोर्ड ऑव स्टडीज के संयोजक) का आशीर्वाद, प्रेरणा एवं परामर्श पंक्ति-पंक्ति में निहित है। उनके प्रति आभार प्रदर्शन शब्दों में नहीं हो सकता। उन्होंने अपने व्यस्त और अमूल्य समय से समय निकाल इस पुस्तक का 'परिचय' लिखकर न केवल इस कृति की उपादेयिता में वृद्धि की है, वरन् अपने सहज स्नेह से लेखक को आप्लावित किया है। जिसके लिए मैं उनका चिर कृतज्ञ हूँ।

अनुसंधान-कार्य के लिये मूल प्रेरक परम स्नेही श्री गौरीप्रसाद बागची, डिप्टी कमिश्नर, गढ़वाल तथा डा० वीरेन्द्र वर्मा, नेशनल डिफेन्स एकडेमी, खडगवासला (पूना) हैं जिनके स्नेह का मैं सदैव आभारी हूँ। जायसी-अध्ययन की ओर विशेष रुचि दिलाने वाले हिन्दी के वयोवृद्ध उद्भट आलोचक बाबू गुलाबराय जी (आगरा) हैं, जिनके प्रोत्साहन एवम् परामर्श के लिए मैं आभारी हूँ। जायसी अध्ययन में उपस्थित कतिपय कठिनाइयों को सुलझा देने एवम् समय समय पर उपयुक्त सुझाव देने वाले आदरणीय डा० वासुदेव शरण अग्रवाल (प्राच्य-विभाग विद्यालय, काशी वि० वि०) का आभार मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ। इनके अतिरिक्त जिन विद्वानों की कृतियों तथा परामर्श से मैंने लाभ उठाया है, उन सबके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। अन्त में आदर्श प्रेस के स्वामी पं० बद्री-प्रसाद शर्मा तथा उनके सहयोगियों को जिन्होंने अपनी लगन और उत्साह से इस पुस्तक को सुन्दर रूप में प्रकाशित करने का भरसक प्रयत्न किया है मैं धन्यवाद देता हूँ।

जयदेव

शिवरात्रि, २०१३ वि०

विषय-सूची

वातावरण

विषय-प्रवेश

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। सामयिक उथल-पुथल वैभव-पराभव, आशा-निराशा, शान्ति-संघर्ष में सक्रिय भाग न लेकर भी, उदासीन द्रष्टा होकर भी, वह इन सब के प्रभाव से अछूता नहीं रहता। इन प्रतिक्रियाओं के मूल कारण अतीत के अन्धकार पूर्ण गर्भ में पोषित होकर यथावसर प्रसूत हो जाते हैं। तत्पश्चात् अनुकूल वातावरण में फेल-फूट उठते हैं। इतिहासकार इन परिणामों का उनके आदि कारणों से सम्बन्ध स्थापित करता है। किन्तु प्रतिभा-सम्पन्न नेता और सहज कवि, इन सहज कारणों से पूर्ण परिचित और अनागत परिणामों के स्पष्ट द्रष्टा होते हैं। अतः वे इस स्वाभाविक परिवर्तन में सक्रिय भाग लेते हैं और सर्व साधारण को निर्दिष्ट मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं। वे समाज की नाड़ी पहिचानते हैं और जानते हैं उसका उपचार। मैथ्यू आर्नल्ड महोदय ने कदाचित् काव्य को जीवन की विवेचना[1] कहकर इसी ओर इंगित किया है। काव्य की अद्भुत क्षमता में तो कदाचित् किसी को कोई आपत्ति नहीं है। काव्य से यश-प्राप्ति, द्रव्य-लाभ, व्यवहार-ज्ञान, दुःख-विनाश, शीघ्र परमानंद और कान्ता-सुलभ मधुर उपदेश[2] ही नहीं, वरन् धर्म चतुष्टयः—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की भी प्राप्ति होती है। नव परिणीता, भारतीय दासता विधात्री संयोगिता के प्रेम-जाल में जकड़े हुए महाराज पृथ्वीराज को "तू घर गोरी रत्तियं। तो घर गोरी तक्कियं" की गूँज ने तथा प्रेयसी के प्रेमासव से पराभूत कि कर्त्तव्य-विमूढ़ मिर्जा राजा जयसिंह को—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही स्यों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

के पाठ-मात्र ने सजग, सचेष्ट और सक्रिय बना दिया था। अतः

१—Poetry is the criticism of life.

२—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

निस्सन्देह सच्चा कवि किसी भी व्यक्ति की स्पर्धा का पात्र हो सकता है। कवि उत्पन्न होते हैं, तैयार नहीं किये जाते (Poets are born not created)। इसीलिये किसी भी कवि की विचार धारा, उसके काव्य तथा उसके सन्देश और महत्त्व को समझने के लिए तत्कालीन परिस्थिति-राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि का पूरा अध्ययन आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य है। अस्तु कविवर मलिक मुहम्मद जायसी के काव्य-विवेचन से पूर्व हम उन समस्त परिस्थितियों तथा उनसे उत्पन्न सम्पूर्ण घात-प्रतिघातों का सिंहावलोकन करेंगे, जिनसे जायसी को प्रेरणा मिली और जिनमें उन्होंने सहयोग प्रदान किया।

राजनैतिक परिस्थिति

भारतीय इतिहास के विद्वान् प्राचीन भारत की समस्याओं पर वर्तमान दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत कर कुछ भूलें कर बैठे हैं। वस्तुतः उनका विवेचन तत्कालीन वातावरण पर दृष्टि रखकर होना चाहिए। भारत के प्रसिद्ध विदेशी यात्री-फाहियान, हुएनस्वांग, मेगस्थनीज़ आदि यहाँ के निवासियों के विषय में साक्षी हैं कि वे सत्य-परायण, साहसी, न्यायी, संयमी, सम्पन्न और संतोषी थे। यहाँ की प्रकृति सदैव अध्यात्म की ओर रही है। भारतवासियों ने कभी किसी का अविश्वास नहीं किया। उन्होंने अपनी तथा दूसरे की बातों का प्रकृत अर्थ ही ठीक माना और समझा। 'पोलसी' से वे शायद, सब कुछ जानकर भी अपरिचित रहे। यही कारण है कि यहाँ सबल केन्द्रीय सत्ता की आवश्यकता न समझी गई। यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में राजसूय यज्ञ और चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन भी मिलता है। मेरा विचार है कि वे यज्ञ केवल वैभव प्रदर्शनार्थ ही होते थे, न कि अन्य का राज्य हड़पने के लिये किंवा अर्थलिप्सा के कारण। इस कमी का अनुभव करने वाले विख्यात भारतीय अर्थशास्त्री आचार्य विष्णु गुप्त (चाणक्य) थे। उन्होंने यूनानी आक्रमण की आशंका से भारत-साम्राज्य का निर्माण किया था।[1] यह सर्व प्रथम भारतीय साम्राज्य

१—जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त नाटक की भूमिका—"वह मनुष्य चाणक्य बड़ा प्रतिभाशाली था जिसके बुद्धि बल से प्रशंसित राज कार्य-क्रम से चन्द्रगुप्त ने भारत का साम्राज्य स्थापित किया। पृ० ५०। तथा वही चन्द्रगुप्त नाटक······'चाणक्य—···चन्द्रगुप्त ने दक्षिणा पथ के स्वर्ण-गिरि से पंचनद तक, सौराष्ट्र से बंग तक एक महान् साम्राज्य स्थापित किया है। यह साम्राज्य मगध का नहीं है, यह आर्य साम्राज्य है।' पृष्ठ ७८।

था जिसमें अनेक प्रजातंत्र राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता को देश की स्वतंत्रता के हेतु बलि देकर, सबल केन्द्रीय सत्ता का निर्माण किया था। विष्णु गुप्त अपने कार्य में सफल हुआ और भारतवासियों ने एक सुसंगठित साम्राज्य का महत्त्व समझा। योग्य शासकों ने समय-समय पर शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित किये तथा समय-समय पर आवश्यकता पड़ने पर सम्मिलित सेनाओं का संगठन भी हुआ। किन्तु भारतीय प्रकृति तथा राजपूतों का व्यक्तिगत स्वाभिमान सदैव इसके विरुद्ध रहा।

हर्ष का साम्राज्य आर्यों का अन्तिम साम्राज्य था। इसके अवसान पर अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो गई।[1] यद्यपि इनके शासक बड़े योग्य, प्रतिभा-सम्पन्न तथा वीर थे, तथापि दुर्भाग्यवश उनमें मिथ्याभिमान और अदूरदर्शिता की मात्रा इतनी अधिक थी कि उन्होंने अपनी व्यक्तिगत तनिक-सी बातों के पीछे राष्ट्र-हित की ओर ध्यान नहीं दिया। ऐसी ही परिस्थिति में नवीन धार्मिक आवेश में अनुरक्त, लूट के लिए लालायित सुसंगठित इस्लामी सत्ता का भारत में प्रवेश हुआ। कुछ दूरदर्शी शासकों ने अपने व्यक्तित्व को दूर फेंक कर संगठन भी किया।[2] किन्तु सब व्यर्थ। 'मेरे मन कछु और है, विधिना के कछु ओरे'। विधाता की क्रूर दृष्टि से भारत की लूट ही नहीं हुई, देवताओं और देवालयों का विनाश ही नहीं हुआ, वरन् महाराज पृथ्वीराज की वीरगति के

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : ए शार्ट हिस्टरी ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया—

'After Harsa's death in 647 A.D. India broke up into a number of iudependent states, always fighting against one another.' (Page 16)

२—वही—

'Jayapala received help from his fellow princes of Ajmere, Delhi, Kalanjar and Kanauj, and at the head of a hundred thousand men he advanced to meet the invader (Subuktigin) on the same battel field.' (page 56)

तथा 'Anandpala like the gallaut Rana Sanga of Mewar organised a Confederacy of the Rajas of Ujjain, Gwalior, Kalanjar, Kanauj, Delhi and Ajmere and marched towards the Punjab to give battle to the invader.' (Page 58)

पश्चात् भारत पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ गया जो साढ़े सात सौ वर्ष की पुरानी होकर अब टूटी हैं।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से पन्द्रहवीं शती के मध्य तक मुस्लिम साम्राज्य यदा-कदा उथल पुथल के साथ चलता रहा। परन्तु फीरोज तुगलक की मृत्यु के पश्चात् उसकी जड़ें हिल गई और तैमूर के आक्रमण ने (१४५५ वि०) तो उसको नष्ट-भ्रष्ट ही कर दिया। लोदियों ने उसको सम्हालने का प्रयत्न किया और सिकन्दर लोदी बहुत कुछ सफल भी हुआ, किन्तु उसके उत्तराधिकारी ने अपनी निरंकुशता से समस्त राजाओं, नवाबों और सूबेदारों को अपने विरुद्ध कर लिया। पंजाब के शासक दौलत खाँ लोदी और चित्तौड़ के राणा संग्रामसिंह के द्वारा भेजे हुए बाबर को भारत आक्रमण के निमंत्रण इस पावन भूमि को निरंकुश शासन से बचाने के प्रयत्न थे। इब्राहीम लोदी तो हट गया, परन्तु उसके स्थान पर बाबर जम गया। इस अप्रत्याशित घटना को देखकर राजपूत भौचक्के हो गये। उन्होंने राणा साँगा के नेतृत्व में बाबर को समूल उखाड़ फेंकने का वीरोचित प्रयत्न कनवाहा के प्रसिद्ध युद्ध (१५२७ई०) में किया। किन्तु भाग्य में कुछ और ही बदा था। राजपूतों की पराजय से बाबर की जड़ें और भी जम गईं।

बाबर की इस विजय से राजपूत शक्ति को बड़ी भारी ठेस तो लगी ही, किन्तु अभी उनको निराशा न हुई। चंदेरी के मेदिनीराव ने बाबर से लोहा लिया। तत्पश्चात् अफगानों की सम्मिलित शक्ति से घाघरा के युद्ध में (१५२६ ई०) बाबर को टक्कर लेनी पड़ी। इस प्रकार चार वर्ष के थोड़े से काल में वह अपने राज्य को भले प्रकार स्थापित भी न कर पाया था कि सन् १५३० ई० में वह इस असार संसार से चल बसा। हुमायूँ को राजगद्दी के साथ-साथ चारों ओर से कठिनाइयाँ भी उत्तराधिकार में प्राप्त हुईं। एक बार अफगानों ने फिर मुगलों की डांवाडोल स्थिति से लाभ उठाना चाहा। संयोगवश शेरशाह जैसा एक सुयोग्य शासक, वीर सेनानी और नीतिज्ञ नेता उनको प्राप्त हो गया था। उसने चौसा के युद्ध में (१५३६ ई०) हुमायूँ को पूर्ण रूप से पराजित कर दिया। अभागे हुमायूँ को उसके भाइयों ने भी धोखा दिया और बेचारे को ईरान में शरण लेनी पड़ी। शेरशाह की आकस्मिक मृत्यु ने अफगान संगठन को छिन्न-भिन्न

कर दिया। हुमायूँ ने अवसर पाकर १५५५ ई० में पुनः भारत का खोया हुआ राज्य प्राप्त किया। परन्तु एक वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु ने मुगल राज्य को पुनः भँवर में डाल दिया और भारतीय अफगानों और राजपूतों को भारत से मुगलों को खदेड़ने के लिए प्रयत्नशील बना दिया। अन्त में १५५६ ई० के पानीपत के द्वितीय युद्ध ने भारत के भाग्य का निपटारा कर दिया। मुगल-साम्राज्य की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गई और भारतवासी अफगानों तथा राजपूतों के हृदय से यह बात निकल गई कि मुगल विदेशी हैं और उनको भारत से निकाल देना चाहिये, जिस राष्ट्रीय भावना के लिए १५२७ ई० से १५५६ ई० तक इतने भीम-प्रयत्न किये गये थे। मुगल भी सर्वथा भारतीय बन गए। इस प्रकार विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के प्रभात ने अलसाये भारतवासियों को सुख-संतोष प्रदान किया।

सामाजिक परिस्थिति—

मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है। एकाकी और सूनेपन से उसे घृणा है। समाज से उसे लगाव रहता है, समाज में ही उसकी शिक्षा होती है तथा समाज में ही जीवन-यापन करके इस भौतिक शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर ही उसका समाज से पीछा छूटता है। मनुष्य की सम्पूर्ण शक्तियों के स्वाभाविक विकास के लिए, राष्ट्र, धर्म, संस्कृति तथा सार्वभौम सुख-शान्ति के हेतु समाज नितान्त आवश्यक है। समाज से रक्षित मनुष्य सर्वोत्कृष्ट प्राणी है। नियम और न्याय से उच्छृङ्खल मनुष्य अति भयावह जन्तु है।[1] मनुष्य ज्यों-ज्यों विकास को प्राप्त होता जाता है, त्यों-त्यों समाज का संगठन भी परिवर्तित होता रहता है। अस्तु समाज एक प्रगतिशील सगठन है जिसका आयोजन मनुष्य की उत्तरोत्तर वृद्धि में आवश्यक सहायता प्रदान करना है। जब दो समाजों का सम्मिलन होता है तब उन दोनों में एक दूसरे का प्रभाव, प्रकट किंवा-अप्रकट रूप से थोड़े बहुत परिमाण में अवश्य पड़ता है। अतः भारतीय समाज पर विजयी मुस्लिम समाज का प्रभाव विचारणीय है।

1—"Man perfected by society is the best of all animals; he is the most terrible of all when he lives without law and without justice."

—Aristot.el

मुस्लिम-विजय से पूर्व भारतीय समाज—

आर्यों में "वसुधैव कुटुम्बकम्" का आदर्श अति प्राचीन काल से प्रतिष्ठित था। प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता, रुचि एवम् आवश्यकता के अनुसार कार्य करता था। समाज में उसका स्थान उसके व्यवसाय से नहीं, अपितु उसके उच्च-चरित्र, सत्य-निष्ठा तथा त्याग के कारण होता था। समाज की दृष्टि में सब बराबर थे। किन्तु तत्कालीन परिस्थिति, आये दिन युद्धों का तारतम्य, अव्यवस्थित जीवन-प्रवाह ने आर्यों में वर्ण-व्यवस्था स्थापित करदी। वर्ण-व्यवस्था स्थापित हो जाने पर भी प्रारम्भ में वर्णों में भेद-भाव न था। सब मनुष्य बराबर थे! सब के अधिकार समान थे। उस समय की वर्ण-व्यवस्था कार्य-विभाजन की श्रेणी मात्र थी। परन्तु शनैः शनैः वर्ण व्यवस्था में से उदारता दूर होने लगी। प्रत्येक वर्ण का संगठन अलग-अलग होने लगा। बहुत दिनों तक ब्राह्मणों और क्षत्रियों का समान महत्त्व रहा किन्तु अन्त में ब्राह्मण सर्वोत्तम स्वीकृति हुए और राजाओं तथा जन-साधारण द्वारा विशेष आदरणीय माने गए।[१] इस प्रकार वर्ण-व्यवस्था विकसित होकर जाति व्यवस्था में परिणत होगई। जाति-संगठन ने राष्ट्रीयता का गला घोंट दिया। महात्मा बुद्ध के अवतरण से पूर्व ही (५६३ ई० पू०) शूद्र, अछूत और अन्त्यज समाज के निकृष्ट प्राणी समझे गए थे। उनका जीवन दयनीय था। जिसमें आशा की झलक भी न रह गई थी।[२] स्त्रियां शिक्षिता थीं और समाज उनका सत्कार करता था। विदेशियों को भी समाज ने अपना लिया था।

यद्यपि ब्राह्मणों में विवेक और त्याग था, राजपूतों में महत्त्वाकांक्षा तथा शरणागत की रक्षार्थ मर मिटना था, वैश्यों में सत्य और दानशीलता थी तथा अन्य व्यक्तियों में अपने कार्य के प्रति सच्ची निष्ठा और उच्च वर्णों के प्रति आदर-भाव था, तथापि

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : ए शार्ट हिस्टरी ऑव मुस्लिम रूल इन इण्डिया, पृष्ठ ३१

२—सी० ई० एम० जोड़ : दी स्टोरी ऑव इण्डियन सिविलीजैशन पृ० ४१

By the time Buddha was born (563 B. C.) the caste system was already tending to degenerate into a hard and rigid framework which perpetuated inequality and put a premium upon snodblry.'

जाति-व्यवस्था में इतनी अधिक असमानता आ गई थी कि विवेक-शील व्यक्ति उसको उचित न समझ पाते थे तथा समाज-शरीर में उससे उत्पन्न बड़ी पीड़ा होने लगी थी। अस्तु प्रतिक्रिया-स्वरूप जैन और बौद्ध धर्म उत्पन्न हुए जिन्होंने समाज के इस कुष्ट का शोध करना चाहा। इन धर्मों में शूद्रों के लिए विशेष आकर्षण था। अतः इन धर्मों ने बड़ा व्यापक रूप किया। समाज में एक विशेष हल-चल मच गई।

मुस्लिम-समाज

मुहम्मद साहब के जन्म से पूर्व अरब-निवासी मूर्ति पूजक थे। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते फिरते थे। एक कुटुम्ब का एक मुखिया होता था जिसका अन्य सब सत्कार करते थे और जिसकी आज्ञा मान्य थी। वे प्रायः शिकारी थे। उनमें शराब पीने और जुआ खेलने की लत थी तथा बहु-विवाह का भी चलन था। उनका न कोई आचार था और न उनकी कोई सभ्यता थी। उनमें प्रतिशोध की ज्वाला सदैव धधकती रहती थी।[१] उनको घुड़दौड़ बड़ी प्रिय थी। स्त्रियों का स्थान उच्च था, वे प्रायः अपने पति का वरण स्वयं करती थीं और यदि पति के व्यवहार से असंतुष्ट किंवा दुःखी होतीं तो सबंध-विच्छेद कर प्रायः अपने माता-पिता के पास लौट आती थीं।[२] ऐसे वातावरण में इस्लाम का जन्म हुआ। बाल्य-काल में चारों ओर से विपत्तियों का आक्रमण हुआ। अतः संगठन और भ्रातृत्व इस्लाम के मुख्य अंग बन गए। इस प्रकार इस्लाम को पहले पहल विजय, प्रसार और व्यवस्था तदनन्तर ग्रह-युद्ध में समस्त शक्ति का नियोजन करना पड़ा।[३] तत्पश्चात् अब्बासियों के काल में ईरानियों की सभ्यता और समाज का गहरा प्रभाव उन पर पड़ा। इस्लाम में हराम (निषिद्ध) होते हुए भी शराब समाज और साहित्य की आवश्यक वस्तु बन गई। इसप्रकार युद्ध-प्रिय कठोर इस्लाम-सेवक ऐश आराम का स्वाद लेकर भारत में आया। यहां की अतुल सम्पत्ति से उसका जीवन मधुर से मधुरतर की ओर ढलता गया।

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : ए शार्ट हिस्ट्री ऑव मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० १

२—सैयद मुहम्मद बदरुद्दीन अलवी: अरेबियन पोइट्री एण्ड पोइट्स पृ० ३६।

३—वही, पृ० ३८।

भारत में मुस्लिम

वस्तुतः मुस्लिम राज्य के लाड़ले थे। यद्यपि इनमें भी बड़ाई-छुटाई का विचार था। बलबन ने फखरू नामक व्यक्ति के विशेष उपहार को इसीलिए अस्वीकृत कर दिया था कि वह नीच वर्ग का था। १२वीं तथा १३वीं शती में मद्यपान एवम् द्यूत क्रीड़ा का प्रायः चलन था, जिसके प्रतिरोध में बलवन ने राजाज्ञा प्रचलित की थी तथा अलाउद्दीन ने इनको रोकने के लिए बड़े कड़े नियम बनाए थे। किन्तु कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के राज्य-काल में फिर विलासिता ने जोर पकड़ा। बर्नी के कथनानुसार इस काल में एक सुन्दर युवक, नपुंसक अथवा युवती का मूल्य ५०० से २००० टंका तक था। मुहम्मद तुगलक और उसके पिता के शासनकाल में सामाजिक व्यवस्था बहुत कुछ सम्हल गई थी। किन्तु "अपने कई सुधारों से फीरोज ने मुसलमानों को विलासता का स्वाद चखा दिया। ऐश्वर्य की मनोमोहक सुगन्धि से मस्त होकर वे विलास की अतृप्य पिपासा को बुझाने के लिए सागर की ओर दौड़ पड़े और निरन्तर पतित होते गए। .....भारतीय मुसलमानों ने विलासिता में निमग्न होकर आत्मघात किया। वे मृत प्राय हो गए"।[१] दास-प्रथा बहुत साधारण सी बात थी और योग्य दास अपनी योग्यता के कारण उच्चतम पद प्राप्त कर लेते थे। स्त्रियों की स्वतन्त्रता सीमित थी। उनको नगर के बाहर फकीरों की समाधि के दर्शन करने की आज्ञा न थी। फीरोज तुगलक ने तो इस आज्ञा को न माननेवाली स्त्रियों के लिए बड़े कड़े दण्ड की व्यवस्था की थी। धर्म-शास्त्रियों—मुल्लाओं का प्रायः राज्य में प्रभाव रहा, किन्तु अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक उनके हाथ की कठपुतली न थे। न्याय-प्रिय मुहम्मद तुगलक ने तो शेख और मौलवियों को भी उनके दुराचरण की कठोर सजाएँ दी थीं। व्यभिचारादि के अपराधियों को बड़ा कठोर दण्ड दिया जाता था और ऐसे अपराधों में राज कुटुम्ब के व्यक्तियों के साथ भी साधारण प्रजा की भाँति व्यवहार किया जाता था। कुँवर मसऊद की माता को पत्थरों की मार से मार डाला गया था, क्योंकि व्यभिचारी के प्रति ऐसी ही दण्ड-व्यवस्था थी।[२]

१—डा० रघुवीरसिंह : पूर्व-मध्य कालीन भारत, पृ० २६३।

२—डा० ईश्वरीप्रसाद : मेडिकल इण्डिया, पृ० ४७३।

हिन्दुओं के प्रति व्यवहार

राजनैतिक दासता के साथ-साथ हिन्दुओं में सामाजिक पतन का भी श्रीगणेश हुआ। वे राज्य के शत्रु समझे जाते थे और उनको प्रायः उच्चाधिकार से वंचित रखा जाता था।[१] अलाउद्दीन ने काजी मुगीसुद्दीन से कहा था, "इस बात का पूर्ण विश्वास रखो कि जब तक हिन्दू निर्धन न हो जावेंगे, तब तक वे किसी तरह भी नरम और आज्ञाकारी नहीं बनेंगे।[२] किन्तु उसने उनके धर्म में हस्तक्षेप न किया। उसकी इस कठोरता का कारण, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों के साथ थी, राजनैतिक था। "सब मनुष्य रोटी के प्रश्न को हल करने में ऐसे उलझ गए कि किसी को विद्रोह करने की न सूझती थी"।[३] इसके पश्चात् खुसरो ने हिन्दुओं के प्रति उदार नीति का व्यवहार किया और प्रथम दोनों तुगलकों ने भी हिन्दुओं के प्रति कठोरता न दिखलाई थी। किन्तु फ़ीरोज़ के राज्य काल में धर्माधिकारियों का प्रभुत्त्व बहुत बढ़ गया। 'न्याय-शासन पुनः काजी-मुल्लाओं के हाथ में चला गया और उलेमा ही अब साम्राज्य की नीति के विधाता हो गए".[४] फीरोज़ की मृत्यु के पश्चात् हिन्दुओं को कुछ चैन की सांस मिली थी कि "सिकन्दर लोदी ने पुनः धर्मान्ध नीति का अनुसरण किया। इस्लाम अब सल्तनत का शाही धर्म हो गया."[५]

प्रभाव

इस प्रकार दो समाजों का तीन-चार शताब्दियों तक संघर्षण चलता रहा। विजयी मुसलमानों ने विजित हिन्दुओं की कुछ बातें अपनाईं और हिन्दुओं ने भी नये शासकों को प्रसन्न करने के लिए, रोटी की समस्या को हल करने के लिए तथा स्वरक्षा के लिए मुसलमानों की कुछ बातों को अपना लिया। उनमें भी विलासिता घर कर गई। शराब और जुआ उच्च और सम्पन्न समाज में सम्मिलित हो गया। पर्दे का प्रचार भी चल निकला, यद्यपि सती की प्रथा भी प्रचलित थी। मनुष्य में जादू-टोना और करामात का महत्त्व बढ़ा।

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : मेडिवल इण्डिया, पृ० ४७५।

२—ईलियट ऐण्ड डाउसन : भाग ३ पृ०, १८५।

३— वही, पृ० १७९।

४—डा० रघुवीरसिंह : पूर्व मध्यकालीन भारत, पृ० ३२।

५— वही, पृष्ठ ३४।

स्त्री-शिक्षा की ओर भी ध्यान दिया जाता था और उसके लिए अलग पाठशालाएँ भी थीं। परस्पर भाई-चारे का सम्बन्ध दृढ़तर हुआ और अछूतों के प्रति व्यवहार में उदारता आने लगी। "१५वीं शताब्दी के भारतीय मुसलमानों की प्रवृत्ति यही थी कि वे अपने पड़ोसी हिन्दुओं से मेल मिलाप उत्पन्न करें। इस प्रवृत्ति को एक ओर हुसेन-शाह आदि मुसलमानों ने और दूसरी ओर कबीर, चैतन्य, रामानन्द आदि हिन्दू साधुओं ने बहुत उत्तेजना दी"।[1]

सांस्कृतिक परिस्थिति

संसार की प्राचीनतम सभ्य जातियों में—मिश्र, भारत और चीन—भारत अग्रणी माना गया है। यहाँ की सभ्यता अति प्राचीन तथा बड़ी महत्त्वपूर्ण है। संसार की सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है, जो भारत का धर्मग्रन्थ है। विज्ञान, गणित, ज्योतिष, वैद्यक आदि सभी विद्याओं का यहाँ पूरा प्रचार था। यहाँ की विद्या, सभ्यता और संस्कृति के आगे सबने दाँतों तले उँगली दबाई है। चीन के प्रसिद्ध यात्री फाहियान तथा ह्वएनत्सांग ने मुक्त कण्ठ से भारत की संस्कृति की प्रशंसा की है। और पाश्चात्य सभ्य शिरोमणि प्रदेश यूनान के राजदूत मेगस्थनीज ने भारत की सम्पन्नता, उच्च-चरित्रता, न्याय-प्रियता तथा उदारता का राग बड़े मनोयोग से गाया है। यहाँ पर व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक और धार्मिक-आचरण में विषमता को स्थान नहीं था। इसी कारण पाखंड और कपटाचार भारतीय जीवन में प्रवेश न कर सके। शुद्ध सात्त्विक, सत्याचरण ही यहाँ की मनुष्यता की कसौटी रहा है। इस प्रकार सामाजिक, धार्मिक एवम् आचारिक प्रतिबन्ध सर्वमान्य होकर अनिवार्य हो गये और जीवन-प्रवाह विच्छृंखल न होकर एक निर्दिष्ट और स्पष्ट लक्ष्य की ओर स्वच्छन्द गति से बहने लगा।

अस्तु भारतीय यद्यपि प्राचीनता-प्रिय (Conservative) है, तथापि वह स्वभावतः स्वीकार करता है कि भिन्न-भिन्न जातियों में और व्यक्तियों में आचार-विचार, स्वभाव तथा धर्म की विभिन्नताएँ होती हैं। अतः इन विभिन्नताओं को न मिटाना ही चाहिए और न

१—डा० रघुवीरसिंह : पूर्व-मध्य कालीन भारत, पृ० २८८।

बुरा समझना चाहिए।[1] अस्तु भारत में जातिव्यवस्था के कड़े नियम होते हुए भी भारतवासी अपने से भिन्न व्यक्तियों के धर्म, संस्कृतियों अथवा स्वभाव को घृणा या क्षोभ की दृष्टि से नहीं देखते। फलतः मुसलमानों से पूर्व जितनी जातियाँ यहाँ आईं वे सब यहाँ के वातावरण में घुल मिलगईं। वे सर्वथा भारतीय बन गईं। भारत ने उनका स्वागत किया, उनके आचार-विचार, धर्म और स्वभाव भारतीय संस्कृति में घुल मिल गये। अस्तु "निस्संदेह विभिन्नता में एकत्व स्थापन की योग्यता भारतवासियों की मनुष्यमात्र के प्रति बड़ी भारी देन है"।[2]

सिन्ध-विजय के पश्चात् भारत का इस्लाम से सम्पर्क हुआ। "विजयी होकर भी अरबों ने सभ्यता, विद्या आदि के लिए भारत के सम्मुख मस्तक झुकाया। अरब की सभ्यता ने नत मस्तक होकर भारत की सभ्यता से पाठ पढ़ा"।[3] अरबों द्वारा भारत की सभ्यता विद्या, आदि का प्रचार समस्त योरुप एवम् मिश्र में हुआ। 'किन्तु जब मुस्लिम सभ्यता के साथ द्वितीय बार संघर्षण हुआ उस समय जो जो भारतीय विचार इस्लाम धर्म में प्रविष्ट हो चुके थे वे भारतीय होकर भी पराये हो गए"।[4] इस बार का मुस्लिम बड़ा असहिष्णु, कुरान तथा इस्लाम के सिवाय अन्य समस्त पुस्तकों तथा धर्मों की आवश्यकता न समझने वाला, विजय की मादकता से विवेक-विहीन और भारत की अतुल सम्पत्ति की चकाचौंध से प्रायः अंधा होकर आया था। उसका यह सिद्धान्त था कि "विजित जातियों की विचारधारा, आचार-विचार, विश्वास, धर्म आदि को मेंट देना चाहिए"।[5] इस मुस्लिम-विजय ने बड़ी उथल-पुथल कर दी।

१—सी० ई० एम०, जोड : दी स्टोरी आव इंडियन सिविलीजेशन, पृ० २५।

२—वही, पृ० २१—
Whatever the reason, it is a fact that India's gift to mankind has been the ability and willingness of Indians to effect a synthesis of many different elements both of thought and of peoples, to create, in fact, unity among diversity.

३—डा० रघुबीरसिंह : पूर्व-मध्य कालीन भारत, पृ० ७९।

४—वही, पृ० ८०।

५—सी० ई० एम० जोड : दी स्टोरी आव इंडियन सिविलीजेशन, पृ० २०—
It may be taken, then, more or less for granted in the History mankind that the manners, customs, thoughts, values, tastes, and beliefs, of the conquerred or incorporated peoples should be persecuted and suppressed.

हिन्दू धर्म को बड़ा धक्का लगा, पंडितों और पुरोहितों का सत्कार उठ सा गया। हिन्दू-स्मारक नष्ट कर दिये गए। साहित्य बिना राजाश्रय के प्रपम्नावस्था को प्राप्त हुआ। संक्षेपतः राजनैतिक पराजय सांस्कृतिक मृत्यु प्रतीत होने लगी।[1]

इस प्रकार दो सभ्य जातियों की संस्कृति में भिड़न्त हुई। दोनों ही सम्पन्न थीं, दोनों में अपनी संस्कृति के प्रति कठोर आग्रह था। एक संस्कृति दूसरी की ऋणी होकर भी नवीन रूप में अपनी कृतघ्नता की साक्ष्य दे रही थी। एक ओर उदारशीला संस्कृति अनेक एवं क्रमागत आक्रमणों से अनुभव-सम्पन्न कुछ खिन्नता के साथ मुस्करा उठती थी, परन्तु दूसरी जिसने सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् को अपने रंग में रंग दिया था, इस नवीन प्रतिद्वन्द्वी की उदारता, उच्चता एवम् उदासीनता पर खीज उठी। रोष के उत्रार के पश्चात् विवेक के दर्शन हुए। तीन-चार शताब्दियों के संघर्ष के साथ ही साथ एक दूसरे को समझने का प्रयत्न भी चल पड़ा।[2] मुस्लिम भी भारतीय होकर यहाँ के वातावरण और सभ्यता से अछूते न रहे।[3] भारतीय वास्तुकला में भी यह सम्मिलन दृष्टिगोचर होता है। हिन्दुओं के

१—डा० ताराचन्द : इन्फल्यूएन्स आव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १३६–
The Muslim conquest had a tremendous effect upon the evolution of Indian culture. Superficially, it upset everything: the Hindu religion received a terrible blow, the patronage of priests and pandits ceased, the Hindu monuments were destroyed, literature received no royal encouragement and languished; to all outward appearances political conquest was synonymous with cultural death.

२—वही, पृ० १३७–
Thus after the first shock of conquest was over, the Hindus and Muslims prepared to find a viamedia whereby to live as neighbours.

३—सी० ई० एम० जोड : ए स्टोरी ऑव इण्डियन सिविलीजेशन पृ० ५६–
During the middle Ages Hindu thought came into conflict with the ideas of Islam. In India the clash between these two opposing systems resulted in the predominence of the native culture and Islamic thought was largely absorved in Hinduism

इस काल के मन्दिरों और भवनों में नवीनता का पुट लक्षित होता है और स्पष्टतया जान पड़ता है कि प्राचीन आदर्शों में परिवर्तन उपस्थित हो गया है। चित्र-कला भी वास्तु-कला की भाँति नवीनता लिए हुए है।[1] हिन्दू ज्योतिषियों ने भी कई बातें मुसलमानों से सीखी[2] किन्तु घरेलू व्यवहार, संगीत, पहनावे, मेले, उत्सव तथा दरबारी ढंग में जितना मुस्लिम-प्रभाव स्पष्टतः लक्षित होता है उतना अन्य बातों में नहीं।[3]

धार्मिक परिस्थिति

आर्य भारत निवासी थे, किंवा किसी अन्य स्थान से आकर यहाँ बस गये। यह प्रश्न अभी तक विवाद ग्रस्त है और इस समय उसके सुलझाने से विशेष लाभ भी नहीं है। अस्तु, यह तो निर्विवाद है कि भारत प्रागैतिहासिक काल से धर्म-प्रधान देश रहा है। यहाँ जीवन, धर्म और दर्शन का समन्वय रहा है।[4] भारतीय धर्म के आदि स्रोत वेद संसार का प्राचीनतम अक्षय निधि हैं। आर्य-धर्म में ज्ञान, कर्म और उपासना का पूर्ण सामंजस्य था। किन्तु काल-क्रम से यजुर्वेद का विशेष महत्त्व हो गया और वैदिक धर्म में कर्म-काण्ड की प्रतिष्ठा स्थापित हो गई। अनेक प्रकार के यज्ञ तथा विधि-विधानों का क्रम चल पड़ा। ब्राह्मण ग्रन्थों, कल्प-सूत्रों तथा कर्म-मीमांसाओं ने इन विधानों को उन्नतिशील बनाकर प्रणाली-बद्ध कर दिया तथा धर्म-शास्त्रों, महाभारत और पुराणों ने उनको लोक-प्रिय बना दिया।[5] इस प्रकार उदार वैदिक धर्म में संकीर्णता प्रवेश कर गई। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयतामिति श्रुतिः" कहकर स्त्री और शूद्रों को वेदाध्ययन से अधिकार-च्युत ही नहीं कर दिया गया, अपितु यदि भूल से उनके कान में श्रुति-वाक्य पड़ जावे, तो उस कर्ण के लिये कठिन दण्ड की व्यवस्था भी करदी गई। धार्मिक तथा सामाजिक,

---

१—डा० ताराचन्द : इन्फल्यूएन्स-आव इस्लाम-आन इण्डियन कल्चर पृ० १३८

२—वही पृ० १४०

३—वही, पृ० १४१।

४—सी० ई० एम० जोड : दी स्टोरी आव इन्डियन सिविलीजेशन, पृ० ३२—But philosophy was for the Hindu sage, no less a mode of belief than a way of life.

५—डा० ताराचन्द : इनफ्यूएन्स आव इस्लाम आन इन्डियन कल्चर, पृ० १।

अधिकारों से वंचित अछूतों की दुर्दशा से व्यथित और कर्म-काण्ड की प्रधानता की प्रतिक्रियास्वरूप जैन तथा बौद्ध धर्मों का आविर्भाव हुआ।[1] इन धर्मों में अछूतों के लिए विशेष आकर्षण था। अतः ये धर्म शीघ्र ही लोक-प्रिय होकर व्यापक हो गए। राजाश्रय पाकर बौद्ध-धर्म भारत से बाहर सुदूर पूर्व और पश्चिम तथा उत्तर में फैल गया। महाराज अशोक का राज्य-काल बौद्ध-धर्म का स्वर्ण-युग कहलाता है।

बौद्ध-धर्म का पतन

बौद्ध-धर्म की प्रधान शाखाओं—महायान तथा हीनयान में पर्याप्त अन्तर है। हीनयानी वास्तविकतावादी थे; उनका ध्येय था व्यक्तिगत निर्वाण। किन्तु महायानी आदर्शवादी थे, शून्यतावादी थे और उनका ध्येय बुद्धत्व प्राप्त करना था। फलतः हीनयानी धार्मिक आडम्बर-विहीन थे, परन्तु महायानियों ने बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण किया और उनमें बोधिसत्त्व एवम् अमिताभ की पूजा-अर्चना का उपक्रम चलाया।[2] परन्तु महात्मा बुद्ध के निर्वाण को जितना ही अधिक समय व्यतीत होता जाता था, उतना ही लोगों की दृष्टि से उनके मानुष-गुण दूर होते जाते थे। जहाँ इस प्रकार मानुष गुण वाले बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुण वाले बुद्ध की सृष्टि का उपक्रम बढ़ता जाता था। यहाँ तक कि वैपुल्यवादियों ने ईसा से प्रथम शताब्दी पूर्व ही बुद्ध के अवतरण से इन्कार कर दिया। बौद्ध न्यायाचार्य नागार्जुन ने बौद्धों के 'मध्यम-दर्शन'—शून्यता या सापेक्षवाद का विवेचन किया है। परन्तु 'कथावत्थु' की 'अट्ठ कथा' में वैपुल्यवादियों को महाशून्यवादी कहा है। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान (जिसकी उत्पत्ति ईसा की प्रथम शती है) एक सिद्ध होते हैं। वैपुल्यवादियों की तीन बातें—

(१) संघ के महत्त्व का अस्वीकार।

(२) ऐतिहासिक बुद्ध के अस्तित्त्व से इन्कार। तथा

(३) एकाभिप्रायेण मैथुन की अनुज्ञा।

१—डा० ईश्वरी प्रसाद : मेडीवल इन्डिया, पृ० ५०६—

Budhism and Jainism were protests against the tyranny of caste and the overweening claims of priestly order.

२—डा० ताराचन्द इन्फलुएन्स आव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० २१।

बौद्ध-धर्म में विप्लव मचा देने वाली थीं। दूसरी में महायान के अन्तिम विकास का स्पष्ट रूप पाया जाता है तथा अन्तिम में वज्रयान या तान्त्रिक बौद्ध धर्म का स्फुट बीज। बुद्ध की अलौकिक शक्तियों के साथ उनके वचनों के पारायण मात्र से पुण्य समझा जाने लगा और 'ओं' तथा 'स्वाहा' लगाकर अनेक मन्त्र गढ़े जाने लगे जिनको बहुत से लोगों ने अपना भी लिया। विशेष शारीरिक शक्ति, अलौकिकता तथा सर्व साधारण में श्रद्धा का साधन होने के कारण हठ योग का प्रचार बुद्ध धर्म में पूर्व से ही चला आ रहा था। इसी युग में चढ़ावे की अपार धन-राशि मठों में जमा हो गई थी, लोग श्रद्धा के अंधे थे ही। इन मठाधीशों ने विषय भोगों की ठानी और इस प्रकार मद्य तथा स्त्री-संभोग का श्रीगणेश बुद्ध के नाम पर होने लगा। अस्तु मन्त्र, हठ योग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होगए।[1] इस बौद्ध-धर्म को 'मन्त्रयान' कहते हैं। यदि मन्त्रयान नरमदलवादी था तो उसका विकसित रूप वज्रयान (८०० से १२०० ई०) गरम दल-वादी है। "मद्य, मन्त्र, हठ योग और स्त्री—ये चार ही चीजें वज्रयान के मुख्य रूप हैं। यह (चौथी बात) बुद्ध की मूल शिक्षा से दूर तो थी ही, महायान के लिये भी इसे जल्दी हज्म करना मुश्किल था। इसीलिए महायान से साधारण मन्त्रयान में होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा।[2] वज्रयान के ८४ सिद्ध विख्यात हैं। उनका क्षेत्र पूर्व था और बिहार का नालंदा तथा विक्रमशिला मठ उनके मुख्य अड्डे थे। जब बख्तियार खिलजी ने नालंदा विध्वंस किया, तब ये सिद्ध भोट प्रदेश की ओर चले गए। इन सिद्धों के वामाचार को छोड़कर हठयोग, करामात और सिद्धाई को विशेषता देने वाले 'आदिनाथ' अथवा 'जालंधरपा' ने पंजाब की ओर जो सिद्धान्त फैलाया वह 'नाथ पंथ' के नाम से प्रख्यात हुआ। इसके नवनाथों में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ अधिक प्रसिद्ध हुए। इनके अनुयायी सम्प्रति 'कनफटे जोगी' कहलाते हैं जो 'जाहरपीर' की जोति (कथा) अष्टमी-नवमी को डमरू पर गाते हैं। इन नाथ पन्थियों का नवागन्तुक मुसलमानों पर विशेष प्रभाव पड़ा जो 'भारत में सूफीमत' प्रकरण में पूर्ण रूप से दिखलाया जायगा। इस प्रकार शुद्ध सात्विक बौद्ध-धर्म पाखंडियों तथा लोलुपों के हाथ पड़कर इतना अधः पतित हुआ।

१—राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व-निबंधावली पृष्ठ १३०, १३५ तथा १३६।
२—वही, पृ० १४३।

बौद्ध-धर्म का नास्तिकवाद भारत की प्रकृति के विरुद्ध था ही, क्षत्रियों को उसकी अहिंसा अरुचिकर थी और उसका प्रारम्भिक आकर्षण भी कुछ-कुछ फीका पड़ने लगा था। उसमें अनाचार के प्रवेश से लोग उसे सन्देह की दृष्टि से भी देखने लगे थे। इसी समय जगद् गुरु शंकराचार्य की ललकार ने उसकी धज्जियाँ उड़ा दीं। बौद्ध-धर्म को भारत में कहीं त्राण न मिला, केवल शैव तथा शाक्त सम्प्रदायों में उसके ध्वांसावशेष दृष्टिगोचर होते हैं। उसके स्थान पर हिन्दू धर्म का पुनुरुत्थान हो गया। और वेद तथा उपनिषदों की नवीन व्याख्याएँ चल पड़ीं।[1] शंकराचार्य का अद्वैत यद्यपि वेद प्रतिपादित था फिर भी उनके माया-खण्डन में किसी किसी को महायान की गन्ध आती है।[2] इस नवीन हिन्दू धर्म ने अपनी प्रकृत उदारता के कारण बौद्ध धर्म की संगतक्रियाओं, मन्दिर-निर्माण तथा पूजा अर्चना की पद्धति तथा जैनियों की अहिंसा को अपनाकर अपने को आकर्षक बना लिया।[3] अस्तु ईसा की सातवीं तथा आठवीं शती में भारत शिव की पूजा का सर्वत्र और विष्णु तथा अन्य देवताओं की पूजा का भी व्यापक प्रचार हो गया था।[4] इस प्रकार हिन्दू धर्म में भक्ति के प्रसार के मार्ग का उद्घाटन हुआ। भक्ति शुद्ध भावात्मक प्रक्रिया है जिसमें मनुष्य अपने व्यक्तिगत इष्टदेव को अपना समझ कर प्रेम करता है। उससे किसी विशेष सम्बन्ध का निर्वाह आदर्श रूप में करता है। गोस्वामी तुलसीदास का कृष्ण मूर्ति से "तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष बाण लेउ हाथ।" कहना अथवा मीरा का अपने पति कृष्ण के लिए 'लोक लाज खोना' भक्तों के आदर्श हैं।

भक्ति-आन्दोलन

अभी तक समस्त धार्मिक आन्दोलनों का नेतृत्त्व उत्तर भारत ने किया था, किन्तु शंकर के अद्वैत के विरोध में दक्षिण में आन्दोलन चला। इस आन्दोलन के संचालक थे रामानुजाचार्य। उन्होंने नवधा-

१—सी० ई० ऐम० जोड : दी स्टोरी आव इंडियन सिविलीजेशन, पृ० ५६।

२—डा० ताराचन्द: इन्फल्यूऐन्स आव इस्लाम आव इण्डियन कल्चर, पृ० १६— The Mahayanists held that the whole of the phenominal world were unreal and illusory and in this they were teachers of Shankar.

३—डा० ईश्वरीप्रसाद : मेडीवल इण्डिया, पृ० ५०६।

४—डा० ताराचन्द इन्फल्यूऐन्स आव इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० १०।

भक्ति का जो मनोमोहक स्वरूप हिन्दू जनता के समक्ष रखा उससे वह विस्मय-विमुग्ध हो गई। हिन्दू धर्म को नवीन चेतना प्राप्त हुई और हिन्दुओं का एक सशक्त आलम्बन। कुछ विद्वानों की धारणा है कि दक्षिणी भक्ति-आन्दोलन में मुस्लिम प्रभाव लक्षित होता है। कुछेक बातों में साम्य देखकर ही उनकी ऐसी धारणा बन गयी है जो निर्मूल है।[1] यह आन्दोलन शुद्ध हिन्दू धर्मानुमोदित था जिसका पल्ला विजित, पीड़ित, विभव-हीन हिन्दू जनता ने पकड़ा। एक ओर बौद्धों के दुःखवाद से ऊबी हुई[2] और दूसरी ओर राजनैतिक विफलता से त्रस्त जनता भक्ति की ओर उमड़ पड़ी।

रामानुजाचार्य की वैष्णव भक्ति केवल उच्च वर्णों के लिए ही थी। शूद्र उसके अधिकारी न समझे गए थे[3] किन्तु इनके प्रख्यात शिष्य रामानन्द ने उत्तर भारत (काशी) में इस आन्दोलन को अधिक उदार बना दिया। भक्त के लिए जाति-भेद तथा धर्म-भेद मिटा दिया और उपदेश की भाषा भी हिन्दी रखी। एक बात और जो रामानन्द ने की वह यह थी कि उपास्य देव विष्णु के स्थान पर राम को रखा जिनकी लीलाओं—लोक-रक्षक रूप तथा भक्त-वत्सलता से जनता सुपरिचित थी। इस प्रकार भक्ति मार्ग अधिक सुगम हो गया। लगभग इसी समय १२वीं शताब्दी में वृन्दावन में निम्बार्क ने वैष्णव भक्ति का प्रचार किया। यह भी दक्षिणी थे[4] तदनन्तर बंगाल में महाप्रभु चैतन्य, जयदेव, चण्डीदास और

१—डा० ताराचन्द: इनफ्लूएन्स ऑव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १०७।

Most of the elements in the southern schools of devotion and philosophy, taken singly, were derived from ancient systems; but the elements in their totality and in their peculiar emphasis betray a singular approximation to Muslim faith and therefore make an argument for Islamic influence probable. It is true that among the schools discussed so far the evidence is all circumstantial and the argument for borrowing cannot be snbstantiated by direct proof, philosophical or otherwise.

२—सी० ई० एम० जोड : दी स्टोरी ऑव इंडियन सिविलीजेशन, पृ० ५२।

The doctrines, of Buddhism are thus highly pessimistic in regard to the process and prospects of living.

३—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : दी निर्गुन स्कूल ऑव हिन्दी पोइट्री, पृ० १२

४—वही, पृ० १।

विद्यापति ने तथा गुजरात में मध्वाचार्य ने कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया जिनकी रासलीलाओं से जनता का मनोरंजन हुआ। महाराष्ट्र में भक्ति के आलंबन पंढरपुर के विठोबा जी बने। इस प्रकार १४ वीं शताब्दी तक सम्पूर्ण भारत भक्ति की गूंज से ओतप्रोत हो चुका था। भक्ति आन्दोलन के जो परिणाम रानाडे ने महाराष्ट्र के लिए गिनाये हैं वे सब समस्त भारत के लिए भी अक्षरशः सत्य हैं।[1] इस आन्दोलन से प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति हुई, जाति-बंधन शिथिल हो गए, गार्हस्थ जीवन में पवित्रता आई, स्त्री-पद उन्नत हुआ, उदारता तथा सहिष्णुता फैली, इस्लाम से थोड़ा सा समझौता हो गया, प्रेम और विश्वास के साथ पूजा से पद्धति, उत्सव, यात्रा व्रत, विद्वत्ता तथा ध्यान का स्थान कम समझा जाने लगा, बहुदेव-वाद की रोक हुई तथा क्रिया और विचार क्षेत्र में राष्ट्र उच्चतर योग्यता का अधिकारी हुआ।

इस्लाम तथा उसका भारत में आगमन—

इस्लाम विश्वास-प्रधान धर्म है। इसमें चिन्तन, जिज्ञासा किंवा तर्क 'कुफ्र' समझा जाता है। इसकी नींव ही इलहाम (ईश्वरीय संदेशों) पर रखी गई है। इस्लाम के अनुयायी ईश्वर-प्रेम के कारण नहीं, वरन् उसके प्रकोप से भयभीत होकर उसके संदेशों पर विश्वास लाते हैं।[2] इस पर मूसाई और मसीही धर्मों का प्रभाव तो स्पष्ट ही है।[3] ईरानियों ने विशेष कर सूफियों ने इसमें किस प्रकार स्वतंत्र-चिन्तन का बीज बो दिया वह आगे सूफीमत के विवेचन से प्रकट हो जावेगा। खलीफा हारूँरशीद बड़ा विद्वान् था। उसने भारत से

१—रानाडे, राइज ऑव मरहट्टा पावर।

२—डिकशनरी ऑव इस्लाम, पृ० ४०१—

'The fear rather than the love of God is the spur to Islam. Love is foreign to Semetic people, only fear could impress them.'

३—चन्द्रवली पाण्डेय: तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ९०—

'किताबों में इस्लाम ने कुरान को पुनीततम माना तो सही, किन्तु उसने अन्य आस्मानी किताबों की अवहेलना नहीं की। तोरेत, जबूर और इञ्जील की इस्लाम में पूरी प्रतिष्ठा है। मुहम्मद साहब मूसा, दाऊद और मसीह की उक्त पुस्तकों का सम्मान करते थे।'

विद्वानों को निमंत्रित किया और अनेक दर्शन ग्रन्थ तथा अन्य उपयोगी ग्रन्थ अरबी भाषा में अनूदित कराए। इस प्रकार भारत-प्रवेश से पहले ही इस्लाम पर भारतीय दर्शन और धर्म, विशेषतः बौद्ध-धर्म का प्रभाव पड़ चुका था। सन् ६३६ ई० में मुसलमान व्यापारी मालाबार तट पर समुद्र मार्ग से आए। भारतवासियों ने उनका स्वागत किया और अनेक सुविधायें प्रदान कीं। इन्होंने वहाँ अपने धर्म का प्रचार भी प्रारम्भ किया क्योंकि प्रत्येक मुसलमान स्वभावतः प्रचारक (मिशनरी) है। परन्तु आठवीं शती में मुहम्मद-बिन कासिम की सिन्ध-विजय के साथ इस्लाम उत्तरी भारत में फैलने लगा। जिस प्रकार ईसाइयों की विजय और व्यापार के साथ पादरी जाते थे उसी प्रकार मुस्लिम फौजों और व्यापारियों के साथ फकीर भी पहुँच कर जनता में इस्लाम के प्रचार के 'पुण्य-कार्य' में जुट जाते थे। अतः सिन्ध-विजय के साथ ही मुल्तान 'तसव्वुफ' का केन्द्र तथा फकीरों का अड्डा बन गया। ये सूफी और फकीर देहातों में फैल कर इस्लाम के प्रचार में जुट गये। हिन्दुओं को इस नवीन धर्म में कोई भी आकर्षण न प्रतीत हुआ। परन्तु ग्यारहवीं शती में जब कि इस्लाम तलवार के बल फैलने लगा, इसकी कुछ उन्नति होने लगी। इसके मुख्य कारण ये थे—(१) इस्लाम विजयनी शक्ति का धर्म था और तलवार के बल लोगों के गले मढ़ा जा रहा था, (२) व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रलोभन से भी लोग इस्लाम को अपनाने लगे, (३) हिन्दू समाज से असंतुष्ट कुछ अछूत भी इस्लाम में सम्मिलित होने लगे। परन्तु इस्लाम के सिद्धान्तों पर मुग्ध होकर स्वतंत्रता पूर्वक धर्म-परिवर्तन कम ही हुए।

इस प्रकार कई शताब्दियों तक संघर्ष चलता रहा। जिस हिन्दू धर्म ने अपनी विशालता उदारता एवम् सहिष्णुता से बाहर से आई हुई समस्त जातियों को अपना लिया तथा बौद्ध धर्म को हजम ही नहीं कर लिया, अपितु महात्मा बुद्ध को अपने अवतारों में भी सम्मिलित कर लिया, वह हिन्दू धर्म अपने धर्म के प्रति कठोर आग्रह रखने वाले मुसलमानों को न अपना सका।[1] परन्तु कुछ दिनों के साहचर्य के

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : मेडीकल इण्डिया, पृष्ठ ५०९—

As Monier Williams says Budhism was drawn into Hinduism and Buddha was accepted as an incarnation of Vishnu. The wonderful capacity for assimilation of this, "All tolerant all-compliant, all-comprehensive and all-absorving religion'

(cont. on page 20.)

परिणाम स्वरूप यह आग्रह कम होने लगा। मुसलमान भारत में बस कर अपने को भारतीय समझने लगे और अपने पड़ौसी हिन्दुओं को जिज्ञासा की दृष्टि से देखने लगे। सूफियों ने हिन्दुओं की बातें अपने सहधर्मियों को तथा अपनी बातें हिन्दुओं को उनकी बोली में समझाने का प्रयत्न किया। फलतः दोनों एक दूसरे के समीप आने लगे। जनता भाव की भूखी होती है। उसने संतों और फकीरों का भेद मिटा दिया। मजार-दर्शन, मनौती और नजूम हिन्दू जीवन में घुल मिल गये। चौदहवीं शताब्दी से आगे तो नामदेव और नानकदेव की शिक्षाओं में हिन्दू तथा मुस्लिम विचारों का पूर्ण सम्मिश्रण है। उन्होंने जाति-व्यवस्था, बहुदेववाद तथा मूर्ति-पूजा की कड़ी भर्त्सना की और सत्य पवित्र जीवन का उपदेश दिया।[1] रामानन्द भी भक्त के लिए जाति विचार न मानते थे। चैतन्य देव ने भी जाति-व्यवस्था को अनुचित ठहरा कर लोक में भ्रातृत्व की घोषणा की। हिन्दुओं की ओर से इस दशा में विशेष प्रयत्न हुआ, किन्तु मुस्लिम सम्प्रदाय की संकीर्णता कम न हुई यहाँ तक कि १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में जब सम्राट् अकबर ने अपनी प्रजा को राष्ट्रीयता के सूत्र में बद्ध करना चाहा तो अंध विश्वासी मुसलमानों ने उस उदार व्यक्ति को अधार्मिक और इस्लाम का अहितैषी ठहराया।[2]

सुदूर पूर्व बंगाल में इस प्रगति को विशेष सफलता प्राप्त हुई। एक विशेष सम्प्रदाय चल पड़ा जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे और एक ही देवता 'सत्यपीर' की पूजा करते थे। कदाचित् इस धर्म के संस्थापक गौड़ के सम्राट हुसैनशाह थे।[3] महाराष्ट्र में भी संतों ने वही कार्य किया जो उत्तर भारत में कबीर और नानक ने। पंजाब ने सदैव विदेशियों के आक्रमण सहन किये हैं। उनकी हिंसावृत्ति, अर्थ लोलुपता आदि का ताण्डव उस क्षेत्र के लिये नवीन

(from page 19.

brought into its fold men of different races who came into India from time to time; but it failed to absorve the Musalmans who were zealously devoted to their own faith.

१—डा० ईश्वरी प्रसाद: मेडीवल इंडिया, पृष्ठ ५११ तथा ५२१।

२—वही, पृ० ५२५।

३—डा० ताराचन्द: इन्फल्यूऐन्स ऑव इस्लाम आन इण्डियन कल्चर, पृ० २१७।

अनुभव नहीं रहा है। मुसलमानों का सबसे पहले यहीं अधिकार हुआ और यह बहुत समय तक रहा भी। १५वीं शताब्दी तक मुसलमान सूफी और फकीर यहाँ के गाँवों में दूर दूर तक फैल चुके थे। पानीपत, सरहिन्द, पाकपट्टन, मुलतान आदि सूफियों के प्रसिद्ध केन्द्र थे जहाँ अनेक सूफी संतों ने जीवनयापन किया था।[1] इन्हीं स्थानों पर सूफियों का सम्पर्क नाथ पंथी साधुओं से हुआ जिनकी अनेक बातें सूफियों ने ग्रहण कर लीं। फलतः यहाँ पर हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिये विशेष क्षेत्र था। नानकदेव का मिशन ही हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य था। वे किसी एक धर्म या जाति के न थे वरन् समस्त संसार के थे।[2] उनका धर्म नितान्त क्रियात्मक और शुद्ध था।[3] उनकी शिक्षा सूफी सिद्धान्तों के अनुरूप थी। उनको अपने मिशन में पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई। यदि मुसलमानों में इतना दुराग्रह और अन्ध विश्वास न होता तो १७वीं शताब्दी से भारत का इतिहास अन्य प्रकार का ही होता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रामानन्द के भक्ति मार्ग में, नानकदेव के सिक्ख सम्प्रदाय में, मुसलमानों के सूफी सम्प्रदाय में, गोरखनाथ के नाथ पंथियों में, बङ्गाल के सत्यपीर वादियों में, कबीर, दादू आदि पंथियों में और महाराष्ट्र के अन्य संतों में, हिन्दू-मुस्लिम एकता की भावना कार्य कर रही थी। जाति-व्यवस्था की कठोर पाबन्दी सबको असह्य हो रही थी तथा "हरि को भजे सो हरि को होई" का प्राधान्य था। बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद का प्रचार हुआ जो अद्वैतवाद से मूलतः भिन्न है। गुरु का स्थान लगभग ईश्वर के बराबर ही महत्त्वपूर्ण समझा गया—

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, का के लागू पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दिया बताय ॥ —(कबीर)

अतः गुरु-भक्ति चल पड़ी। गुरु मुख से उपदेश का महत्त्व स्थापित हुआ। साधु-संतों और फकीरों का महत्त्व बढ़ा और साथ ही समाधि-दर्शन, झाड़-फूंक, नजूम, करामात आदि में भोली जनता का विश्वास जमा। जन-साधारण में सूफी फकीर, कनफटे जोगी वैष्णव भक्त ही

१—डा० ताराचन्द : इन्फल्यूएन्स ऑव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १६६–

२—डा० पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल : दी निर्गुन स्कूल आव हिन्दी पोइट्री, पृ० २५५।

३—डा० ताराचन्द : इन्फल्यूएन्स ऑव इस्लाम आन इंडियन कल्चर, पृ० १६९–
His (Nanak's) conception of religion was severely practical and sternly ethical.'

नहीं, अपितु समस्त भगवाँ वस्त्रधारी व्यक्ति श्रद्धा के पात्र हुए और सत्कार के अधिकारी। सारांश यह है कि १६वीं शताब्दी तक प्राचीन धार्मिक तथा सामाजिक बन्धन शिथिल पड़ गए थे, ऐक्य ही सब का लक्ष्य था और जनता में श्रद्धा एवम् विश्वास का स्रोत उमड़ पड़ा था।

साहित्यिक हिन्दी का विकास

भाषाओं के विकास में यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि बोल-चाल की भाषा साहित्यिक होकर रूढ़ि-बद्ध हो जाती है और उसका विकास रुक जाता है। परन्तु लोक-भाषा उत्तरोत्तर विकसित होकर नवीन साहित्यिक रूपों को धारण करती हुई प्रगतिशील रहती है। आदि आर्यों की बोलचाल की भाषा क्या थी, इसका कोई रूप हमारे सामने नहीं है। हाँ, उसका साहित्यिक रूप ऋगवेद में सुरक्षित है। आर्य लोग अपनी देववाणी को अन्य भाषा के शब्दों से अपवित्र होना न सहन कर सके। "अतएव उन्होंने अपनी भाषा को सुरक्षित रखने के निमित्त उसका संस्कार किया और उसे संस्कृत नाम दिया।"[१] परन्तु उनकी आदि भाषा प्राकृत ने फिर साहित्यिक रूप धारण किया जिसका रूपाभास हमको संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत से प्राप्त होता है। इस पहली प्राकृत के पाली रूप को जो मगध की मुख्य भाषा थी बौद्धों और जैनों ने अपनाया। प्राचीन बौद्ध तथा जैन सूत्र ग्रन्थ तथा अनेक शिला लेख इसी भाषा में मिलते हैं। "पाली के अनन्तर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गये हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी मागधी और अर्द्ध मागधी।"[२] उनके साहित्यिक रूप धारण कर लेने पर बोल चाल की भाषा को वैयाकरणों ने अपभ्रंश नाम दिया। जब अपभ्रंशी व्याकरण के नियमों से बद्ध करदी गई और साहित्य में व्यवहृत होने लगी, तब बोलचाल की भाषाओं का रूप कुछ-कुछ अपभ्रंशों से मिलता हुआ और कुछ-कुछ आधुनिक भाषाओं से मिलता हुआ था। इस भाषा का नाम कुछ विद्वानों ने "पुरानी हिन्दी" दिया है। यह परिवर्तन यकायक चार-छः दिन अथवा दो-चार वर्षों में नहीं होते वरन् यह सिलसिला शनैः शनैः चलता रहता है। अतः पुरानी हिंदी का प्रारम्भ हम किसी निश्चित तिथि से नहीं मान सकते। कुछेक विद्वानों ने इसका प्रारम्भ सं० १०५० वि० से

१—डा० श्यामसुन्दरदास: भाषा-विज्ञान, पृ० ९३।

२—वही, पृ० १०३।

माना है, यद्यपि अपभ्रंश की परम्परा विक्रम की १५वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रहीं।[१] हम इस पुरानी हिंदी की दो शाखाएँ मान सकते हैं जिनकी विभाजक रेखा गंगा नदी है। गङ्गा के पूर्वोत्तर पूर्वी हिंदी थी और पश्चिम-दक्षिण में पश्चिमी हिंदी। अब हम इन भाषाओं के साहित्य का अलग-अलग विवेचन करके देखेंगे कि १६वीं शताब्दी में साहित्य की अवस्था क्या थी।

पश्चिमी-साहित्य

इस काल के साहित्य की उपलब्ध सामग्री प्रायः संदिग्ध है। प्राप्य काव्यों में प्रक्षिप्तांश पर्याप्त हैं जिनका अलग कर देना असंभव ही है। अस्तु जो भी सामग्री प्रस्तुत है उसके अनुसार उस समय के साहित्य पर संक्षेपतः विचार किया जाता है। सिन्ध-विजय के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमण पश्चिमी-भारत पर होते रहे। अतः पंजाब, सिन्ध, राजस्थान तथा संयुक्त-प्रदेश राजनैतिक हलचल के केन्द्र बन गए। हर्ष-साम्राज्य के अवसान पर जो छोटे छोटे स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए वे भी प्रायः परस्पर लड़ते ही रहते थे। जनता को आए दिन युद्धों का सामना करना पड़ता था। उनका धन, अन्न, जीवन, सभी संकट में था। राज दरबारों में वीरों का आदर था। उस समय के साहित्य में तत्कालीन अवस्था का पूरा परिचय मिलता है।

उस समय के साहित्य में वीर-रस का प्राधान्य है। वही सफल कवि समझा जाता था जो अपने आश्रय-दाता राजा के वीरत्व के गुण गा सकता तथा उसके सामंतों में उत्साह फूंक सकता था। दूसरी बात यह है कि उस समय समाज में विलासिता घुस गयी थी। राजपुरुष विलास-प्रिय बन गए थे। किसी सुन्दर युवती के लिए युद्ध मोल ले लेना साधारण सी बात थी। अतः साहित्य में शृंगार का भी उतना ही मान था जितना वीर का। अपने आश्रय-दाता का वीरत्व उस समय तक पूर्ण नहीं होता जबतक कि उसके प्रतिद्वन्द्वियों का करुण-क्रन्दन वर्णित न हो। अतः करुण-रस भी पर्याप्त मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार उस समय के साहित्य हैं प्रधान रसत्रयी वीर, शृंगार, एवम्, करुण, का पूर्ण समावेश है। अन्य रस इनके पोषक होकर आए हैं। इन काव्यों का विषय था युद्ध-और प्रेम। वास्तव में वस्तु-स्थिति ऐसी ही थी कि या तो प्रेम ही युद्ध का कारण होता था,

१—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ५।

अन्यथा युद्धसमाप्ति पर नायक का प्रेम प्रतिद्वन्द्वी की कन्या, भगिनी आदि से होकर युद्ध विवाहोत्सव में परिवर्तित हो जाता था।

इस साहित्य की भाषा प्रधानत: ब्रज थी जो शौरसेनी अपभ्रंश का विकसित रूप है। परन्तु इसमें राजस्थानी का पूर्ण सहयोग रहता था। मुसलमानों के शताब्दियों के साहचय से विदेशी शब्द—फारसी, अरबी, और तुर्की के भी प्रयुक्त होते थे। पंजाबी का पुट होता ही था। संस्कृत तथा प्राकृत के भद्दे अनुकरण अनुस्वारांत शब्द गढ़कर किए जाते थे। अस्तु इन काव्यों में प्राय: मिश्रित भाषा का प्रयोग हुआ है। चन्द की भाषा तो "षड्भाषा" युक्त प्रसिद्ध ही है।[1]

उस समय के साहित्य में थोड़े से छंदों का ही प्रयोग पाया जाता है। "राजसभाओं में सुनाए जाने वाले नीति, शृंगार आदि विषय दोहों में कहे जाते थे और वीर-रस के पद्य छप्पय में"।[2] दोहे और चौपाइयों का प्रयोग तो जैन ग्रन्थों में तथा सिद्ध और नाथों में भी पाया जाता है। अत: इस साहित्य में प्राय: दोहे, चौपाई, कवित्त, छप्पय, कुंडली आदि प्रयुक्त हुए हैं। 'चंद ने तोमर, त्राटक, गाहा, आर्या आदि भी प्रयुक्त किए हे'।[3] अलंकारों में कला-प्रदर्शन नहीं है, अपितु वे ही अलंकार प्रयुक्त हुए हैं जिनसे वर्णन में सजीवता आ गई है। इस प्रकार उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, तथा अत्युक्ति का प्रयोग प्राय: दृष्टिगोचर होता है। ये काव्य दो ही प्रकार के हैं—रासो अथवा मुक्तक। रासो एक प्रकार के प्रबंध काव्य हैं, यद्यपि इनकी प्रबंधात्मकता बड़ी खटकने वाली है। वास्तव में यह रासो काव्य युद्ध और प्रेम की गुत्थियों से भरे हुए हैं। पृथ्वीराज रासो की कोई घटना प्रधान या अप्रधान नहीं है। इसमें पृथ्वीराज के युद्धों, विवाहों, आदि का विवरण संगृहीत है। "इस दृष्टि से बीसलदेव रासो अधिक सफल रचना है। इसकी एक विशेषता यह है कि प्रेम प्रधान होने पर भी उसे वीर गीत कहे जाने

१— उक्ति धर्म विसालस्य। राजनीति नवं रसम्।
षड् भाषा पुराणं च। कुरानं कथितं मया ॥३६॥
—चंद: पृथ्वीराजरासो, प्रथम समय।

२—रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ३५।

३—वही, पृ० ४८।

का गौरव मिलता है'।[1] मुक्तकों में भी अपने आश्रय-दाताओं का कीर्तिगान है। जगनिक के वीरगीतात्मक काव्य 'आल्हखण्ड' को जनता ने बड़े आदर से अपनाया और उसका प्रचार उत्तरी भारत में अबतक चला आता है; इसके नायक आल्हा, ऊदल जनता में आदर्श समझे जाते हैं।

अस्तु इस साहित्य के अध्ययन से ये बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं :—

(१) ये ग्रन्थ प्रधानतः आश्रयदाता की चाटुकारिता में लिखे गए हैं जिनमें साधारण जनता का हृदय साथ न था।

(२) वर्णनों में ऐतिहासिक सत्य के अन्वेषण से निराशा प्राप्त होगी।

(३) गम्भीरता इन काव्यों में छू तक नहीं गई है।

(४) वर्णन इतने अधिक अतिरंजित हैं कि इनमें सचाई का पता लगा लेना दुस्तर कार्य है।

(५) तत्कालीन राजपुरुषों की विलासिता का नग्न चित्रण सामने आ जाता है।

(६) इनमें आद्यान्त लौकिकता है।

(७) इनमें प्रक्षिप्तांश इतने अधिक और इतने घुले-मिले हैं कि इनमें से मुख्यांश को खोज लगा लेना असंभव है।

तथा (८) ये ग्रन्थ अधिक लोक-प्रिय न हो सके।

इन्हीं कारणों से इनका प्रचार परिमित था। साधारण जनता के काम की प्रायः इनमें कोई चीज नहीं है। ये ग्रन्थ केवल राज्य पुस्तकालयों की शोभा बढ़ाते रहे अथवा चारणों के घरों में पैतृक सम्पत्ति की भांति सुरक्षित रहे। अब भी केवल साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए किंवा परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के हेतु ही इनका अध्ययन किया जाता है। इनके गुणों पर रीझ कर अथवा स्वान्तः सुखाय कदाचित् ही इन काव्य ग्रन्थों का पठन-पाठन होता हो।

१—डा० श्यामसुन्दरदास : हिन्दी-साहित्य, पृ० १२८।

पूर्वी-साहित्य

पूर्व प्रदेश भाव-प्रधान (emotional) देश है। अतः यहाँ पर धार्मिक आन्दोलनों को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। महात्मा बुद्ध, सिद्ध, तथा वाम मार्ग का प्रधान क्षेत्र पूर्व रह ही चुका था। 'सत्यपीर' की अद्भुत भावना का भी उदय पूर्व में हो चुका था। आधुनिक काल में भी राजाराममोहनराय के ब्रह्मसमाज, रवीन्द्रनाथ टैगोर की नूतन कला तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की अग्रगामी पार्टी का क्षेत्र भी यही प्रदेश रहा है। अतएव भक्तिमार्ग के लिए भी वह बड़ा अनुकूल क्षेत्र था। कृष्ण-भक्ति का प्रचार यहाँ बड़े व्यापक रूप से चला। महाप्रभु चैतन्य देव ने तथा गीत-गोविन्द कार ने उसमें भावावेश भर दिया। अतः यह साहित्य भक्ति से ओत प्रोत है जिसमें रसराज शृंगार तथा उसके उभय पक्षों का पूर्ण विवेचन है। भक्त का गुण है विनय और उसकी सफलता है शांति-वृत्ति। अतः शृंगार के साथ-साथ करुण एवम् शान्त रस का परिपाक मिलता है, परन्तु वीर, रौद्र, भयानकादि की गंध भी न मिलेगी। भक्तों का विषय होता है हरि-चर्चा। सारांश यह है कि इस साहित्य में शृङ्गार, करुण तथा शान्त रस से सिक्त हरि कथा गाई गई है। आगे चल कर सत्रहवीं शताब्दी में इसी भक्ति मार्ग ने हिन्दी-साहित्य में स्वर्णयुग उपस्थित कर दिया।

भाषा के विषय में जैसा ऊपर कह चुके हैं यहाँ की भाषा अर्द्ध मागधी से निकली पूर्व हिन्दी है जो विकसित होकर मैथिली, बिहारी, उड़िया तथा बंगाली प्रादेशिक भाषाओं में परिवर्तित हो गई। इस भक्ति-आन्दोलन का नेतृत्व करने वाले संस्कृतज्ञ थे, विद्वान् थे। सिद्धों, नाथों किंवा संतों की भाँति समाज के निम्न स्तर के अपढ़ व्यक्ति न थे। दूसरी बात यह कि जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द द्वारा भक्तों के लिए बड़ी ही सरस तथा कोमल पदावली का आदर्श उपस्थित कर दिया था। अतः इन भक्तों की भाषा प्रसाद गुण युक्त सरस "कोमल कान्त पदावली" है। इन्होंने प्रायः मुक्तक पद कहे हैं जो भावावेश में बड़े मनोयोग के साथ गाये जाते थे। उनकी भाषा भी अलंकृत थी जिसमें उत्प्रेक्षाओं तथा रूपकातिशयोक्तियों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग है। वास्तव में भावावेश में प्रबन्ध की कल्पना हो ही नहीं सकती। हिन्दी में इस साहित्य के आदि कवि मैथिल कोकिल विद्यापति हैं जिनको बंगाली साहित्यज्ञों ने अपनी ओर

खींचने में कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा है। इन्हीं के अनुकरण पर आगे भक्त कवियों ने पद रचना की, यद्यपि उन्होंने कृष्ण की लीला भूमि ब्रज की बोली को ही अपनाया। इनको पाली तथा संस्कृत साहित्य की परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई थी जिनमें बड़ा उत्कृष्ट साहित्य विद्यमान था। अतः इनकी कविता में कला-पक्ष बड़ा सबल है और भाव तो उसका प्राण ही है। इस प्रकार इनकी कविता में उभय पक्ष का पूर्ण सामंजस्य है। विषय के अनुरूप वर्णन भी अलौकिक हैं, जिनमें हृदय आकृष्ट होकर तन्मय हो जाता है। अतः ये रचनाएँ बड़ी लोक प्रिय होकर जनसाधारण में आदरणीय हुई न कि तत्कालीन पश्चिमी साहित्य की भाँति राजपुस्तकालयों की शोभा बढ़ाने वाली।

स्वतन्त्र

विक्रम की चौदहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का राज्य भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था और वे भारत में बसकर भारतीय होते जा रहे थे। हिन्दुओं की ओर से भी अब इनको भारत से निकाल देने के स्वर्ण-स्वप्न विलीन हो गये थे। इस रहन-सहन का जो समाज पर प्रभाव पड़ा वह ऊपर दिखाया जा चुका है। अब विजयी मुसलमान भारतवासियों को समझने का प्रयत्न कर रहे थे। इस कार्य में अमीर खुसरो ने बड़ा सहयोग दिया। उन्होंने बलवन से लेकर मुबारकशाह तक ग्यारह बादशाहों का जमाना देखा था और सात बादशाहों की स्वयं सेवा की थी। वह सफल दरबारी थे। उन्होंने एक ओर जनसाधारण तथा शासकों के बीच सहयोग प्राप्त करने के लिए हिन्दी फारसी कोश 'खालकबारी' तैयार किया और उसकी प्रतियाँ सम्पूर्ण देश में बितरण करा दीं। दूसरी ओर मनोरंजन के साधन जुटाये। उन्होंने प्रचलित पहेलियां, मुकरियों, दो सखुनों आदि के अनुकरण पर प्रचलित भाषा में बड़ी सरस कविता की। उनको बड़ी सफलता पाप्त हुई। इनके द्वारा भाषा का भी बड़ा उपकार हुआ। इनकी कविता की प्रधानता उक्ति-वैचित्र्य थी यद्यपि गीत और दोहे बड़ी रसीली भाषा में भी लिखे थे। इन्होंने फारसी-हिन्दी मिश्रित भाषा में भी कविता की थी। अस्तु जिस प्रकार उस समय की वास्तु-कला तथा संगीतकला में, समाज तथा धर्म में, हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों के सम्मिलन की भावना कार्य कर रही थी उसी प्रकार भाषा और साहित्य में भी वही ऐक्य-भावना अग्रसर हो रही थी।

कबीर ने भी हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की भावना में बड़ा योग दिया था, तथा उनके पश्चात् भी उसी ढंग से उस भावना का प्रचार संत करते रहे। कबीर ने हिन्दू-मुस्लिम मनोमालिन्य मिटाने के लिये कुछ कठोरता से प्रहार किये। उन्होंने दोनों के प्रतिबन्धों, असंगत विचारों और सिद्धान्तों की कड़ी भर्त्सना की और खिल्ली उड़ाई। उनकी उक्तियाँ बड़ी चुभती हुई थीं। किन्तु कबीर के इन प्रहारों से वे विचलित हो गए। उनकी सत्यता को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने उनको मानने में संकोच किया और अपनी बात पर हठ पूर्वक अड़े रहे। अतः कबीर का प्रयत्न असफल रहा। सर्व साधारण को इस ओर विशेष आकर्षित करनेवाले, उनके हृदय को छूने वाले वास्तव में प्रेम-मार्गी कथाकार हुए।

प्रेम-मार्गी कवि

मुसलमानों को भारत में आये हुए आठ शताब्दियाँ व्यतीत हो चुकी थीं। इस साहचर्य के परिणाम स्वरूप धार्मिक, सामाजिक, आदि व्यवस्थाओं में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। "मुसलमानों के आमोद-प्रमोद के साथ ही मुसलमानी सिद्धान्तों का प्रचार भी हुआ जो आख्यानक कवियों की प्रेम गाथा में प्रस्फुटित हुआ।"[1] इन्होंने जो कहानियाँ अपनाईं वे उत्तर भारत में जन साधारण में प्रचलित कहानियाँ थीं जिनको जाड़े के दिनों में अलाव के चारों ओर बैठे मनुष्य बड़े चाव से सुनते आए थे, परन्तु उनका आकर्षण कम न हुआ था। ये कहानियाँ बीच-बीच में पद्यमयी होती थीं। वक्ता किसी ऐतिहासिक व्यक्ति अथवा स्थान का नाम लेकर भी उनके ऐतिहासिक महत्त्व से अनभिज्ञ ही रहता था। इन कहानियों की सरसता ने मुस्लिम शासकों को भी आकर्षित किया। उन्होंने अन्य कलाकारों तथा मनोरंजन करनेवालों के साथ कहानी कहनेवालों का भी स्वागत किया और वह भी दरबारी समारोह में सम्मिलित होते थे।[2] इन सहृदय सूफी कवियों ने जनता

१—डा० रामकुमार वर्मा: हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १२७, १२८।

२—अफीफ: तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० ३६७।

"On every Friday after public service musicians, atheletes, story-tellers, numbering about two or three thousands used to assemble in the palace and entertain the populace with their performance." ---Dr. Ishwari prasad: Mediæval India, p. 473.

की रुचि देखी, शासकों का आकर्षण देखा और उन्हीं कहानियों को पद्य-बद्ध कर सुनाने लगे। यद्यपि उनका उद्देश्य 'प्रेम की पीर' का वर्णन तथा इस्लाम के सिद्धान्तों का प्रचार था, तथापि शासकों की तत्कालीन मनोवृत्ति को तृप्त करने के लिये विलासिता का अति रंजित चित्रण एवम् पददलित निस्सहाय हिन्दू जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए कोमल भावनाओं का स्पष्टीकरण बड़े मार्मिक शब्दों में सफलता पूर्वक किया है। इस प्रकार उनकी कहानियाँ शृङ्गार और करुण से ओत-प्रोत रहती थीं। इनके वर्णन बड़े विशद तथा मार्मिक हैं। सादृश-मूलक अलंकार—उपमा, रूपक, आदि का प्रयोग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। इन्होंने लौकिक कहानी के बहाने परम के प्रति प्रेम और विरह वर्णन किया है। अतः अन्योक्ति का आश्रय लिया गया है तथा बीच-बीच में अध्यात्म की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है।

इन्होंने अपनी कहानियों के लिये अवध प्रान्त की बोलचाल की भाषा को अपनाया तथा उस समय तक विशेष रूप से व्यवहृत दोहे और चौपाइयों में कहानियाँ कहीं। ये कहानियाँ प्रधानत. प्रबन्ध काव्य के रूप में हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन सूफी कवियों ने पूर्वी साहित्य की भाषा अवधी और पश्चिमी साहित्य में प्रयुक्त छंद—दोहा, चौपाइयों तथा प्रबन्ध शैली को अपनाया। पश्चिम के शृङ्गार और पूर्व के करुण को लिया। हिन्दू कहानियों को फारसी मसनवी के ढाँचे में ढाला। हिन्दू-मुस्लिम आदर्शों, विचारों, धार्मिक भावनाओं का स्पष्टीकरण उपस्थित किया। भारत के प्रचलित धर्मों—नाथ पंथियों का हठयोग, रसायन आदि; वैष्णवों की भक्ति, पूजा आदि; संतों की गुरु-महिमा; इस्लाम के एकेश्वरवाद, रसूल, खलीफा आदि और यदि शृङ्गार के अतिरंजित नग्न चित्रों को वामाचार की देन कहें, तो समस्त विचारों, भावनाओं, काव्य-प्रगतियों आदि का पूर्ण सामंजस्य इन 'प्रेम की पीर' में मतवाले प्रेम मार्गी कथाकारों की कृतियों में मिलता है। सारांश यह है कि जिस हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न इतने दिनों से भिन्न-भिन्न लोग अपने-अपने क्षेत्र में अपने-अपने ढंग से कर रहे थे, सोलहवीं शताब्दी में उन समस्त भावनाओं का एकीकरण और भिन्न-भिन्न आदर्शों का सामंजस्य बड़े ही सरस एवम् आकर्षक ढङ्ग में सहृदयता पूर्वक उपस्थित करने का इन सूफी फकीरों ने स्तुत्य प्रयत्न किया।

द्वितीय अध्याय

जीवन-वृत्त

हिन्दी-साहित्य के अध्ययन में सबसे बड़ी कठिनाई कवियों के समय निर्णय करने में तथा उनके जीवन-वृत्त संग्रह करने में होती है। इसके दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं। प्रथम, कवियों का संकोच-शील एवम् विनयशील होना जिसके कारण वे अपने विषय में प्रायः कोई बात अपने काव्यों में नहीं लिखते; द्वितीय, भारतीय प्रकृति इतिहास लिखने के अनुकूल नहीं रही है। वे सदैव इस लोक से परे की ही सोचते रहे। मुस्लिम इतिहासकारों ने अपने समय के इतिहास अवश्य प्रस्तुत किये हैं, जिनमें अपने आश्रयदाताओं का कीर्त्तिगान उनका मुख्य उद्देश्य रहा है। अस्तु निष्पक्ष ऐतिहासिक तथ्यों एवम् प्रसिद्ध कलाकारों के विवरणों का प्रायः अभाव है।

साधन

किसी कवि के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिये अन्तः साक्ष्य एवम् बाह्य साक्ष्य के साथ-साथ अनुमान तथा सुनी-सुनाई बातों पर भी निर्भर होना पड़ता है। यदि इन सब का किसी विषय में एक मत हो तो वह विवरण सत्य ही समझा जाना चाहिए।

अन्तः साक्ष्य

मलिक मुहम्मद जायसी ने फारसी मसनवियों के अनुकरण पर अपनी कृतियों में अपने विषय में भी कुछ विवरण दिए हैं। इस अन्तःसाक्ष्य को—जायसी के प्राप्य तीनों ग्रन्थों में दिये हुए कवि सम्बन्धी वर्णन की सत्यता को—अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं है, जब तक कि उनमें परस्पर मतभेद न हो, किंवा उसके विरुद्ध कोई विशेष ऐतिहासिक प्रमाण न प्रस्तुत हो। इस प्रकार इन ग्रन्थों में उल्लिखित कवि सम्बन्धी वर्णन प्रमाण-कोटि में माने जाने चाहिये।

बाह्य साक्ष्य

इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक होता है। साधारणतया तत्कालीन ग्रन्थों के प्रमाण, यदि वे चाटुकारिता किंवा द्वेष में न लिखे गये हों

तो अधिक विश्वसनीय माने जाते हैं। इनके पश्चात् उस व्यक्ति से सम्बन्धित व्यक्तियों के ग्रन्थ और कथन का स्थान है। यद्यपि इस प्रकार के विवरणों में उनके विषय में अत्युक्तियाँ पाई जाती हैं तथापि उनका अन्य विवरणों से मिलान करके लगभग सत्य का निर्णय हो सकता है। जायसी के विषय में निम्न पाँच प्रकार के बाह्य साधन उपलब्ध हो सकते हैं :—

१—तत्कालीन ग्रन्थों में जायसी विषयक संकेत।

२—सूफियों की परम्परा में जायसी का वर्णन।

३—जायस नगर के इतिहास में उनका विवरण।

४—अमेठी राज्य के इतिहास से उनका सम्बन्ध।

५—पीछे के व्यक्तियों की खोज का उनके विषय में निर्णय।

इन सब प्राप्य साधनों के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर जायसी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया जाता है।

जन्म-तिथि तथा जन्म-स्थान

मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म ९०० हिजरी (सन् १४९५ ई०) में हुआ था[1] जिसका वर्णन उन्होंने अपने काव्य 'आखिरी कलाम' में किया है। —

भा अवतार मोर नौ सदी।

इनके जन्म के समय बड़ा भूचाल आया था जिसका वर्णन जायसी ने अतिरंजित शब्दों में किया है :—

आवत उधत चार विधि ठाना। भा भूकम्प जगत अकुलाना॥
धरती दीन्ह चक्र विधि भाई। फिरै अकास रँहट कै नाई॥
गिरि पहाड़ मेदिनि तस हाला। जस चालाचलनी भर चाला॥

१—सैयद कल्ब मुस्तफा साहब ने............"कस्बा जायस में मुहम्मद जहीरुद्दीन बाबर शाह के अहद में सन् ९०० हि० (१४९५ ई०) में पैदा हुए.........' लिखा है। सन् ९०० हि० तो ठीक हैं, किन्तु बाबर ने सन १५२६ ई० में इब्राहीमलोदी को परास्त कर भारत का राज्य पाया था। अतः यह लिखना कि 'बाबर शाह के अहद में पैदा हुए थे' भ्रामक है।

डा० कमल कुलश्रेष्ठ ने जायसी के जन्म की कल्पना सन् ९०६ हि० में की जब नवीं शताब्दी नहीं वरन् दसवीं थी।

मिरित लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खट डोला॥
गिरि पहाड़ परबत हिल गए। सात समुन्द कीच मिल गए॥

—आखिरी कलाम, पृ० ३४०।

किन्तु तत्कालीन अथवा पीछे के ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस भूकम्प का कोई वर्णन नहीं मिलता। सन ९११ हि० (१५०५ ई०) में एक भयंकर भूकम्प आगरे में आया था[1] जिसको बालक जायसी ने अनुभव किया होगा और उस अनुभव को जन्म-समय के सुने हुए साधारण भूकम्प से संबंधित कर दिया होगा।

इनका जन्म रायबरेली प्रान्त के अन्तर्गत जायस नगर के कंचाने मुहल्ले में हुआ था जिसकी ओर उन्होंने आखिरी कलाम में संकेत किया है :—

जायस नगर मोर स्थानू।

बाल्य-काल तथा रूप

'मलिक' अरबी भाषा का शब्द है[2] जिसका अर्थ स्वामी, राजा, सरदार आदि होते हैं। इससे प्रकट है कि इनके पूर्वज अरब थे। इनके पिता का नाम शेख मुमरेज था और इनकी ननिहाल मानिकपुर में थी। शेख अलहदाद इनके नाना थे।[3] कहा जाता है कि बालक जायसी पर शीतला का असाधारण प्रकोप हुआ। जीवन की आशा जाती रही। मातृ-हृदय विह्वल हो गया और सच्चे हृदय से शाह-

१—डा० ईश्वरीप्रसाद : ए शार्ट हिस्टरी ऑव मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ० २३२।
'Next year (911 A. H. = 1505 A- D.) a violent earth quake occurred at Agra which shook the earth to its foundations and levelled many beautiful buildings and houses to the ground.'

२—मलिक (म. ल. क.) धातु से बनता है। इससे बने शब्द मलक = फरिश्ता, मुल्क = देश, मिल्क (मिल्कियत) = सम्पत्ति, तथा मलिक = बादशाह, सुल्तान और फारसी में अमीर तथा बड़ा व्यापारी।

—नूरुल्लुगात, भाग ४, पृ० ४९७।

३—सैयद कल्ब मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ३०।

मदार[1] की मनौती की। माता की प्रार्थना स्वीकृत हुई। बच्चा बच गया, परन्तु एक आँख जाती रही और उसी ओर के कान से भी बहरे हो गए :—

एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। —(पद्मावत)

तथा, मुहम्मद बाँई दिसि तजा, इक सरवन इक आँख ॥

सैयद मुस्तफा साहब के अनुसार वह लूले और कुबड़े भी थे।[2] परन्तु इसका कोई प्रमाण प्राप्य नहीं है और न इनके चित्रों से ही ऐसा प्रतीत होता है।

थोड़े दिनों पश्चात् इनकी माता का देहावसान हो गया और उनकी मदारशाह की मनौती की अभिलाषा भी अपूर्ण रह गई। पिता का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था। इस प्रकार मलिक मुहम्मद बाल्यावस्था में अनाथ हो गए।

सूफीमत की ओर

अनाथ बालक निराश्रय हो इधर उधर साधु और फकीरों के साथ घूमता फिरा और थोड़े दिनों अपनी ननिहाल मानिकपुर में अपने नाना शेख अलहदाद के पास भी रहा। अस्तु बचपन से ही साधुओं और सूफियों का प्रभाव इन पर पड़ा। तीव्र बुद्धि थे ही, कष्ट और दीन-हीन अवस्था से अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को प्रेरणा प्राप्त हुई। सारांश यह है कि मनुष्य को परम सत्ता की ओर आकृष्ट करने वाली परिस्थिति में पड़कर इन्होंने उस ओर पूरी शक्ति लगादी। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर गुरु की खोज में निकल पड़े और उस समय के प्रसिद्ध सफल सूफी शेख मुबारकशाह बोदले से दीक्षा प्राप्त की। परन्तु जायसी ने शेख मुहीउद्दीन को भी अपना गुरु स्वीकार किया है इस प्रकार इनके दो गुरु होना निभ्रान्त है।

१—शाहमदार एक बड़े सूफी फकीर थे जिनका पूर्व में बड़ा प्रभाव था।
"Badi-uddin Shah Madar founded another Sufistic order in the 14th century A. D. which is known as Madari Order."
—डा० शशि भूषण दास गुप्ता : ऑब्सक्योरे रिलीजियस कल्टस, पृ० १९२।

२—सै० क० मुस्तफा : म० मु० जा०, पृ० २२।
"मलिक लूले, लंगड़े और कुब्जा पुश्त भी थे।"

मित्र और सन्तान

जायसी ने अपने परिचित व्यक्तियों में केवल चार मित्रों—मलिक यूसुफ, सलार कादिम, सलोने मियाँ तथा बड़े शेख का स्मरण किया है तथा उन चारों के विशेष गुणों की ओर भी संकेत किया है[1]।

जायसी स्वर्गारोहण के समय तो संतानहीन थे ही, किन्तु किसी समय उनके संतति थी या नहीं, इसमें सब विद्वानों का एक मत नहीं है। कुछेक मनुष्यों का कथन है कि उनके सात पुत्र थे। वे मोद-प्रिय व्यक्ति (मौजी जाव) थे ही। एक दिन 'पोस्ता नामा' नाम की पद्य रच डाली। इसके कुछ अंश बड़े चुटीले और व्यंगपूर्ण थे। इनके गुरुदेव वैद्यों के आदेश एवम् अनुरोध से पोस्त का पानी प्रयोग करते थे जिससे क्षुधा और निद्राधिक्य का निवारण हो सके। जायसी की व्यंगोक्ति को सुनकर वे बोल उठे—"अरे निपूते, तुझे ज्ञात नहीं कि तेरा गुरु पोस्ती है।" कहा जाता है कि उसी समय एक व्यक्ति ने आकर जायसी को सूचना दी कि उनके सातों पुत्र एक साथ खाना खा रहे थे कि सहसा उनके ऊपर छत गिर गई और वे सब उसके नीचे दबकर मर गये। इस हृदय विदारक घटना को सुनकर जायसी को जितना दुःख हुआ होगा उसका अनुमान तो कोई भुक्त-भोगी व्यक्ति ही कर सकता है। गुरु-हृदय भी व्यथित हो गया। उन्होंने जायसी को सान्त्वना देते हुए पूछा कि तुम अपने पुत्रों का पुनर्जीवन चाहते हो अथवा अपनी चौदह रचनाओं द्वारा अमरत्त्व। भाग्य-विधान में अटल विश्वासी जायसी ने अपने भग्न हृदय को हाथ से दबा कर द्वितीय बात स्वीकार करली।

जायसी का अमेठी पहुँचना—

जायसी का अमेठी राज्य से गहरा सम्बन्ध रहा बताया जाता है। उनके अमेठी पहुँचने की बात दो प्रकार से कही जाती है।

प्रथम—बहुत दिन मुरीदी करते व्यतीत हो गये तो इनकी और इनके अन्य साथी हजरत निजामुद्दीन बंदगी की उत्कट अभिलाषा हुई कि हम भी अपनी गद्दी स्थापित करके शिष्य बनावें। इस अभिलाषा को उन्होंने गुरु-चरणों में उपस्थित होकर निवेदन किया। गुरु शाह बोदले ने विचार कर आज्ञा दी कि अमेठी चले जाओ। यह सुनकर दोनों शिष्य सन्नाटे में आ गये कि एक ही स्थान पर दो

१—देखिए, पद्मावत, स्तुति-खण्ड, पृ० ८।

गुरु कैसे रहेंगे। परन्तु गुरु-आज्ञा में तर्क करना उचित न समझ कर शान्त रहे। थोड़े समय पश्चात् जायसी की तीव्र बुद्धि और विवेक ने सहायता की। गुरु-स्थान के दो द्वार थे एक पूर्व की ओर और द्वितीय पश्चिम को। पश्चिम वाले द्वार से वन्दिगी मियाँ को भेजा कि तुम लखनऊ वाली अमेठी जाओ। उन्होंने वहाँ गद्दी स्थापित कर बड़ी ख्याति प्राप्त की। वह अमेठी अभी तक बन्दगी मियाँ की अमेठी कहलाती है। जायसी स्वयम् पूर्व-द्वार से गढ़ अमेठी की ओर चल दिए और वहाँ एक पास के जंगल में अपना स्थान नियत किया।[1]

द्वितीय— जायसी बड़े सिद्ध पुरुष विख्यात् हुए। अनेक व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। वे उनकी 'पद्मावत' से पद्य गा-गाकर भिक्षा माँगा करते थे। एक दिन ऐसा ही एक चेला अमेठी में नागमती का बारहमासा गाता फिर रहा था। उसके

कँवल जो विगसा मानसिर, बिनु जल गएउ सुखाइ।
सूखि बेलि पुनि पलुहै, जो पिउ सींचै आइ॥

ने राजा को मुग्ध कर दिया। उन्होंने पूछा, "शाहजी, यह किसका दोहा है।" जायसी का नाम सुनकर राजा बड़े आदर से उनको अमेठी ले आए[2] और वे अन्त समय तक वहीं रहे।

जनश्रुति है कि अमेठी नरेश के कोई संतति न थी। जायसी की दुआ से उनको पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। उस समय से उनका सम्मान और भी बढ़ गया। उनकी मृत्यु के पश्चात् राजा ने अपने गढ़ के समीप ही उनकी समाधि बनवादी जो अब तक विद्यमान है।

जायसी की मृत्यु

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख मुस्तफा साहब ने किया है। अमेठी-नरेश जब जायसी की सेवा में उपस्थित

१—सैयद कल्ब मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ३८।

२—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली की भूमिका, प० ११।

हमारा अनुमान है कि जब जायसी अमेठी के जंगल में रहने लगे तब उनके शिष्य गा-गा कर भिक्षा करते होंगे। उपर्युक्त कथन के अनुसार जब राजा को उनका पता चला तो वह उनको अपने दरवार में लिवा ले गये। इस प्रकार दोनो बातों का सामञ्जस्य हो जाता है। अर्थात पहली बात जायसी के अमेठी के पास के जंगल में गद्दी स्थापित करने की है और दूसरी अमेठी के दरबार में उनके स्वागत का प्रसंग बतलाती है।

होते थे, तो उनका एक बहेलिया (तुफंगची) भी उनके साथ जाता था। जायसी इसका विशेष सत्कार करते थे। जब लोगों ने उनसे इसका कारण पूछा तो आपने कहा, 'यह मेरा कातिल है।' इस पर सब आश्चर्य चकित हो गए। बहेलिए ने प्रार्थना की कि इस पाप कर्म को करने से पूर्व मुझे कत्ल करा दिया जावे। इस प्रकार मैं एक गुरुतम पाप से बच जाऊँगा। राजा ने भी इस आयोजन को उचित समझा, परंतु जायसी ने आग्रह पूर्वक अपने कातिल को कत्ल होने से बचा दिया। राजा ने आज्ञा घोषित करदी कि उस समय से उस बहेलिए को कोई बंदूक, तलवार, इत्यादि न दी जावे।

परन्तु विधि का विधान कदापि टाले नहीं टलता है। एक अंधेरी रात्रि को जब बहेलिया राजभवन से अपने गाँव जाने लगा तो दारोगा से कहा कि समय तंग हो गया है और मेरी राह जंगल में होकर है इसलिए रातभर के लिए एक बन्दूक दे दो, प्रातःकाल ही लौटा दूँगा। दारोगा ने भी इसमें कोई आपत्ति न की और एक बन्दूक उस बहेलिये को दे दी। जब बहेलिया जंगल में होकर जाने लगा तो उसे शेर के गुर्राने[1] का सा शब्द सुनाई दिया। शेर को पास जान कर उसने शब्द पर गोली छोड़ दी। शब्द भी बन्द हो गया। बहेलिये ने शेर को मरा जान कर घर की राह ली। उसी समय राजा ने स्वप्न देखा कि कोई कह रहा है कि आप सो रहे हैं और आपके बहेलिये ने मलिक साहब को मार डाला। राजा यह सुनकर चौंक पड़ा, नंगे पैरों जायसी के स्थान पर पहुँचा। जाकर देखा कि उनके मस्तिष्क पर गोली का दाग है और उनका निर्जीव शरीर पड़ा है। इस दुर्घटना को सुनकर राज भवन तथा नगर में शोक उमड़ पड़ा। तत्पश्चात् उनको गढ़ के समीप ही दफना दिया गया और उनकी समाधि बनवा दी गई।

१—सूफियों के अनुसार प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी बोली में उसी परम प्रियतम का स्मरण करता है। इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर वे किसी भी पक्षी या अन्य प्राणी की बोली का अनुकरण करते हैं। और वही उनके लिए प्रियतम का प्यारा नाम बन जाता है। इस प्रकार रात्रि की निस्तब्धता में उनका जप (स्मरण, जिक्र) का अभ्यास चलता रहता है। कुछ सूफी 'मोर-मोर' अथवा 'पिउ, पिउ' का जप करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जायसी 'जिक्र असदी' (शेर की ध्वनि के अनुकरण) का अभ्यास करते थे। इसीलिए बहेलिये को शेर की आवाज सुनाई दी और उसने गोली छोड़ दी।

मृत्यु-तिथि

उपर्युक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट है कि मृत्यु के समय जायसी अमेठी के समीप जंगल में रहा करते थे और किसी दुर्घटना के शिकार हुए। परन्तु मृत्यु किस सन् में हुई, इस विषय में मुस्तफा साहब, गुलाम सरवर लाहोरी तथा शेख अब्दुल कादिर के आधार पर उसकी मृत्यु-तिथि सन् १०४६ हि० मानते हैं और शुक्ल जी काजी नसीरुद्दीन हुसैन जायसी की याददाश्त कि 'जायसी की मृत्यु ४ रजब ९४९ हि० में हुई, के पक्ष में प्रतीति होते हैं, यद्यपि उन्होंने स्पष्ट लिखा है, 'यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।"[1] मुस्तफा साहब ने एक फुट नोट में यह भी लिखा है "कि जिस वर्ष वह दरबार में बुलाये गए थे उसी वर्ष उनकी मृत्यु हुई।"[2]

मुस्तफा साहब द्वारा स्वीकृत तिथि को मान लेने में कुछ आपत्तियाँ हैं:—

१—असम्भव न होते हुये भी १४६ वर्ष का दीर्घ जीवन असाधारण घटना अवश्य है। ऐसे व्यक्तियों के शिष्य, प्रशंसक तथा अनुयायी अपने पीर की दीर्घायु की बात प्राय गढ़ लेते हैं। अतः इस विषय में केवल सुनी सुनाई बातें प्रमाण-कोटि में नहीं आतीं जब तक कि अन्य साक्ष्य न प्राप्त हो सके।

२—जायसी के १०४६ हि० तक जीवित रहने का अर्थ है कि वे शाहजहाँ के प्रारम्भिक शासन में भी वर्तमान थे, परन्तु शेरशाह के पुत्र सलीमशाह सूर के समय के प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक व्यक्तियों में भी उनका नाम नहीं है,[3] यद्यपि उन्होंने शेरशाह के राज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इससे निष्कर्ष

---

१ रामचन्द्र शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० १२२।

२—सै० कल्ब मुस्तफा: मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ७५।

३—डा० इश्तियाक हुसैन कुरैशी: दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑव दी सुल्तानेट ऑव देलही पृ०, १७४—

Islam Shah Sur provided pavilions near his own residence which were beautifully furnished; in that the *dilettanti* of the age like Mir Syyid, Manghu Shah Mohammad, Hayati, Saifi and Surdas who recited poetry or debated literary and philosophical questions" (Afsanah-i-Shahan)

निकलता है कि सलीलशाह सूर के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही जायसी इस संसार से विदा हो चुके थे।

३—यदि वे १०४६ हि० तक वर्तमान थे और ६४७ में 'पद्मावत' की रचना कर चुके थे, तो शेष १०० वर्ष के लम्बे अवकाश में अखरावट के अतिरिक्त अन्य पुस्तक का न लिखना, उन जैसे क्रियाशील सूफी के लिये असम्भव ही प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह निश्चय ठीक प्रतीत होता है कि मलिक साहब ६४८ हि० में राज्य की ओर से अमेठी आमंत्रित किये गए और ६४६ में उनका शरीरान्त होगया। इस प्रकार मुस्तफा साहब के फुट नोट वाली बात भी ठीक बैठ जाती है। अतः वह दरबार जहाँ जायसी बुलाये गए, अमेठी था और वहीं पर एक वर्ष पश्चात् वे सन् ६४६ हि० में किसी दुर्घटना के शिकार हुए।

गुरु-द्वारा

स्लामी संगठन रसूल, अल्लाह का अनुयायी था। उनके उपरान्त खलीफा उस संगठन का नेतृत्व करने लगे। इस नेतृत्व भावना का इस्लाम में इतना अधिक महत्व है कि सम्मिलित प्रार्थना में भी एक इमाम (नेता) की आवश्यकता होती है। अन्य व्यक्ति उसका अनुसरण करते हैं। दूसरी बात यह है कि सूफीमत तत्त्वतः गुह्य-भावना है जिसकी दीक्षा अन्य गुह्य-मतों की भांति, किसी व्यक्ति विशेष द्वारा ही दी जाती है। वह व्यक्ति 'पीर-मुरशिद' (सत्य ज्ञाता गुरु) कहलाता है। गुरु ही अपनी अनुकम्पा, दाक्षिण्य आदि से अधिकारी शिष्य में चिनगारी डाल देता है तथा उसके दीदार का दर्शन कराके सत्यमार्ग पर अग्रसर कर देता है। अस्तु सूफीमत गुरु-प्रधान मत है जिसमें गुरु का महत्त्व परम सत्ता-परमेश्वर से भी अधिक माना जाता है:—

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूं पांय।
कबीर धनि गुरु आपने, जिन गोविंद दिया बताय॥ —कबीर।

गुरु के साथ-साथ गुरु-स्थान (गुरुद्वारे) का महत्त्व भी कम नहीं है। शिष्य गुरु-स्थान पर उनकी देखरेख में अभ्यास करते हैं, उनके सत्संग तथा कृपा विशेष से लाभ उठाते हैं और परमार्थ-मार्ग पर अग्रसर होते हैं। गुरु की मृत्यु के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी

कोई सुयोग्य पुत्र अथवा शिष्य होता है और वही साधन-पथ पर नेतृत्त्व करता है। गुरु-स्थान एवम् गुरु के महत्त्व ने ही समाधि-पूजा तथा मजार दर्शन आदि का प्रचार कर दिया है।

गुरु-परम्परा

जायसी की गुरु-परम्परा शेख निजामुद्दीन चिश्ती से संबंधित है। इस परम्परा का सिलसिला प्रायः निम्नप्रकार से बताया जाता है:—

शेख निजामुद्दीन औलिया (मृत्यु सन् ७२५ हि० / १३२४ ई०)

|

शेख सिराजउद्दीन

|

शेख अलाउलहक

शेख कुतुब आलम (पंडोई के)
|
शेख हसामुद्दीन (मानिकपुर के)
|
सैयद राजे हामिद शाह
|
शेख दानियाल
|
शेख मुहम्मद
|
शेख अलहदाद
|
शेख बुरहान (कालपी के)
|
शेख मुहीउद्दीन
|
मलिक मुहम्मद जायसी

सैयद अशरफ जहाँगीर
|
शाह अब्दुर्रजाक❀
|
शाह सैयद अहमद❀
|
शाह अब्दुरजाक❀
|
शाह सैयद हाजी
|
शाह जलाल (प्रथम)❀
|
शाह सैयद कमाल — शाह मुबारक बोदले
|
मलिक मुहम्मद जायसी

(नोट—पुष्पांकित नाम शुक्ल जी ने नहीं दिये हैं)

जायसी ने अपनी रचनाओं को मसनवी ढाँचे में ढाला है। अतः इनमें गुरु-स्तुति भी है—आखिरी कलाम में एक गुरु की बन्दना

है परन्तु शेष दो काव्यों में (पद्मावत तथा अखरावट में) दो गुरु परम्पराओं का वर्णन है। 'पद्मावत' के अनुसार इनकी दोनों गुरु-परम्पराएँ इस प्रकार हैं—

प्रथम

- सैयद अशरफ
  - सैयद हाजी
    - शेख मुहम्मद
    - शेख कमाल

द्वितीय

- सैयद राजे
  - हजरत ख्वाजा खिजिर
    - शेख दानियाल
      - सैयद मुहम्मद
        - शेख अलहदाद
          - शेख बुरहान
            - शेख मेंहदी

'अखरावट' में दी हुई गुरु-परम्पराएं भी लगभग इसी प्रकार हैं। केवल यह अन्तर है कि प्रथम परम्परा में निजामुद्दीन चिश्ती तथा अशरफ जहाँगीर को ही स्मरण किया है। दूसरी परम्परा हजरत ख्वाजा खिजिर तक ही है, उसमें सैयद राजे का नाम नहीं है। एक पुस्तक में केवल एक परम्परा का वर्णन करना तथा अन्य दो पुस्तकों में दो गुरु-परम्पराओं का वर्णन करना प्रमाणित करता है कि प्रारम्भ में एक गुरु से दीक्षा प्राप्त की तत्पश्चात् दूसरे गुरु से भी लाभ उठाया।

मलिक साहब जायस के रहनेवाले थे। वहां पर सैयद अशरफ जहाँगीर की ख्याति थी। उनकी दरगाह जायस में अब तक विद्यमान है। इधर-उधर भटकते हुए सूफी-सन्तों के सत्संग से लाभ उठाते हुए तथा अपनी शक्तियों के विकसित होने पर जब मलिक साहब जायस लौटे, तो प्रायः शेख मुबारक की सेवा में जिज्ञासु की भाँति उपस्थित होते रहे। क्षेत्र तैयार था, सूफीमत की ओर रुझान भी था। प्रियतम के दीदार की तीव्र उत्कण्ठा जागरित हो चुकी थी। शेख साहब ने जिज्ञासु की परीक्षा की। उसको अधिकारी समझकर दीक्षा दे दी। जायसी कृतकृत्य हो गये। जायसी ने अशरफी घराने के प्रति

अपनी कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट की है—

जहाँगीर वै चिस्ती, निहकलंक जस चाँद।
वै मखदूम जगत के, हौं ओहि घर के बांद॥ १८॥
—पद्मावत, स्तुति-खण्ड, पृ० ७।

अतः इस विवेचन से यह तो निश्चय ही है कि जायसी का गुरुद्वारा जायस था और उनके दीक्षा गुरु, 'मखदूम' साहब की गद्दी के उत्तराधिकारी शेख मुबारक थे,[1] जिन्होंने जायसी को अपना खलीफा नियत करके सूफी मत के प्रचार की आज्ञा प्रदान की थी।

अब रही यह बात कि शेख मेहदी (मुहीउद्दीन) कब और किस प्रकार उनके गुरु हुए। इसके विषय में यह अनुमान होता है कि शेख कुतुबआलम के सिलसिले में शेख अलहदाद का नाम भी है जो जायसी के नाना थे। उन लोगों से जायसी प्रायः मिलते ही थे। परंतु जब प्रौढ़ावस्था में सूफीमत में दीक्षित जायसी शेख मुहीउद्दीन से मिले, तब मलिक साहब की वृत्ति, उत्कण्ठा एवम् आचरण पर मुग्ध होकर उन्होंने ऐसे सुयोग्य अधिकारी को अपनी साधना के कुछ रहस्य बतला दिए। जायसी की कृतज्ञता ने इस अनुकम्पा का ऋण स्वीकार किया और शेख मुहीउद्दीन को भी गुरु माना। परंतु जायसी ने गुरु मेहदी की परम्परा को सदैव द्वितीय स्थान ही दिया है तथा अशरफी परम्परा के प्रति जो कृतज्ञता एवम् भक्ति प्रकट की है वह शेख मुहीउद्दीन के प्रति नहीं।

सारांश यह है कि जायसी के दीक्षा-गुरु अशरफी परम्परा के शाह मुबारक बोदले (शेख मुबारक) थे और उन्होंने अधिक समय इन्हीं गुरु की सेवा में व्यतीत किया था तथा इन्हीं की अनुकम्पा से जायसी को अपनी साधना में साफल्य प्राप्त हुआ। साथ ही शेख मुहीउद्दीन से भी जायसी को कुछ गुह्य बातों का उपदेश मिला था। अतः वे भी विनयशील जायसी की दृष्टि में गुरु के समकक्ष सम्माननीय हुए। इस प्रकार उनके दो गुरु प्रसिद्ध हुए।

१—शुक्ल जी ने सैयद अशरफ को जायसी का दीक्षा गुरु माना है, परन्तु उनकी मृत्यु जायसी के जन्म से बहुत पूर्व सन् ८०८ हिजरी में हो चुकी थी। अतः वे उनके दीक्षा-गुरु नहीं हो सकते, वरन् उनके उत्तराधिकारी शाह मुबारक बोदले जो मुहीउद्दीन के समकालीन थे, जायसी के गुरु थे।

स्मारक

जन्मस्थान

जनश्रुति के आधार पर प्रसिद्ध है कि मलिक साहब ने जायस नगर के कचाने मुहल्ले में जन्म लिया था। इसी मुहल्ले में एक मकान है जो उनका बतलाया जाता है। मकान पुराना तो है, किन्तु इतना पुराना नहीं प्रतीत होता। इसकी वर्तमान अवस्था बड़ी जीर्ण-शीर्ण है।

दरगाह मखदूम साहब

सैयद अशरफ जहाँगीर जायस के बड़े प्रसिद्ध और प्रभावशाली सूफी हुए हैं। उनका स्थान अब तक विद्यमान है जो 'मखदूम साहब की दरगाह' कहलाता है।[1] इसी स्थान पर सैयद साहब के उत्तराधिकारी हजरत मुबारक शाह बोदले द्वारा जायसी सूफीमत में दीक्षित हुए थे। अस्तु यह दरगाह सूफियों का पवित्र आश्रम, दुखियों का त्राणकर्त्ता और हिन्दी प्रेमियों का दर्शनीय स्थान है।

समाधि

रामनगर (जंगल रामनगर)[2] में अपने महल से लगभग २५० गज की दूरी पर राजा साहब अमेठी ने मलिक साहब के देहावसान पर उनकी समाधि निर्मित करा दी थी। यह समाधि अबतक विद्यमान है। हिन्दी प्रेमियों के लिए यह स्थान भी आदरणीय और रक्षणीय है।

ज्ञानार्जन

शिक्षा

बालक जायसी अनाथावस्था में इधर-उधर मारा मारा फिरा। अतः उसको स्कूलीय शिक्षा प्राप्त करने का अवसर न मिला, किंतु

१—रायबरेली प्रान्त का गजेटियर, पृ० १८२।

२—सुल्तानपुर प्रान्त का गजेटियर, पृ० १३४।

"The Raja resides at Ram Nagar or rather Jungle Ram Nagar."

(चारों ओर ढाक का जंगल होने के कारण 'जंगल राम नगर' कहलाता है।)

ईश्वर प्रदत्त धारणा शक्ति का पूर्णोपयोग उसने किया। उसकी पाठशाला, प्रकृति का व्यापक क्षेत्र था, उसके शिक्षक सांसारिक घटनाएँ और व्यापार थे, सहपाठी ज्ञानेन्द्रियाँ और सत्संग थे तथा पुस्तक निर्मल हृदय था जिसमें अनुभूत व्यापारों का पारायण होता रहता था। इस प्रकार मननशील जायसी युवावस्था तक शिक्षा प्राप्त कर संसार के समक्ष आया। ऐसे ही निरक्षर सम्राट् अकबर को संसार ने विद्वान् माना और उसकी विद्वत्ता को सराहा था।

इस्लाम की जानकारी

जायसी मुसलमान माता-पिता के घर उत्पन्न हुए थे और आयु पर्यन्त इस्लाम के अनुयायी रहे। इस धर्म का मूल स्रोत कुरान है जिसका पठन एवम् श्रवण प्राय: नित्य कर्म माना जाता है। दूसरे यह धर्म विश्वास प्रधान है। अत: इस धर्म में दार्शनिक गुत्थियों की उलझन नहीं है। इस प्रकार इस्लाम की मुख्य मुख्य बातें प्राय: सर्व साधारण अनुयायी भी सरलता से सीख जाते हैं। जायसी भी इस्लाम की इन बातों को भले प्रकार जानते थे और उनके पद्यों में उपयुक्त कुरान की आयतों का भाव ज्यों का त्यों विद्यमान है।

हिन्दू धर्म की जानकारी

यदि जायसी अपने धर्म का ही विधिवत् अध्ययन न कर पाये तो फिर अन्य धर्मों के अध्ययन की बात ही नहीं उठती। परन्तु उन्होंने स्थान-स्थान पर जो हिन्दू-धर्म की रीतियों, कथाओं, आदि का प्रयोग किया है उससे सहसा यह नहीं कहा जा सकता कि वे इस धर्म से नितान्त अपरिचित थे। उन्होंने सूफी फकीरों की ही सेवा न की थी, अपितु साधु-संतों का भी सत्संग किया था। वह समय भी धार्मिक हलचल का था जिसके फलस्वरूप धर्म विषयक चर्चा प्राय: अनिवार्य सी थी। जायसी बहुश्रुत थे। कुशाग्र बुद्धि थे। उन्होंने जो कुछ सुना उसका प्रयोग यथावसर सुन्दर रीति से किया है। उनकी यह जानकारी विशेष भी नहीं कही जा सकती क्योंकि उन्होंने इसमें भूलें भी की हैं।

जायसी ने वेदों के नाम-मात्र सुने थे, उनके विषय में उनको किंचित भी ज्ञान न था। 'पद्मावत' में एक स्थल पर वेदों के नाम दिये हैं—

चतुरवेद मत ओही पांहा। रिग जुग साम अथरबन मांहा॥

पुराणों की कुछ कथाओं को उन्होंने सुन रखा था। द्वीपों की संख्या सात है, यह तो वे जानते थे, परन्तु इनके नाम उनको ज्ञात नहीं थे, फिर भी उन्होंने नाम अटकल-पच्चू गढ़ लिये।[1]

सात दीप बरनै सब लोगू। एकौ दीप न ओहि (सिंहल) सरि जोगू॥
दियादीप नहिं तस उजियारा। सरनदीप सरि होइ न पारा॥
जबुदीप कहौं तस नाहीं। लंकदीप सरि पूज न छांहीं॥
दीप गभस्थल आरन पारा। दीप महुस्थल मानुस हारा॥

तथा सिंहल, लंक और सरन द्वीप[2] को अलग अलग गिनकर सात की संख्या पूरी कर दी।[3] समुद्र वर्णन में जायसी ने सात समुद्रों के नाम खार (क्षार), खीर (क्षीर), दधि, उदधि, सुरा, किलकिला, तथा मानसर गिनाये हैं, जिनमें अन्तिम दो नाम पुराणों के अनुसार नहीं हैं।[4]

वे यह भी जानते थे कि लोक १४ हैं जिनमें से सात ऊपर और सात नीचे हैं। मुसलमान होते हुये भी हिन्दुओं के पुनर्जन्म विश्वास की ओर भी इनका संकेत दृष्टव्य है। नागमती-सुवा-खंड में धाय सुए को मारने के हेतु ले जाते हुये विचारती है—

यह पंडित खंडित वैरागू। दोष ताहि जेहि सूझ न आगू॥

वाम-मार्ग की निंदा करके उन्होंने इस मार्ग के प्रति सर्वजनीन भावना को व्यक्त किया है—

तेलि-बैल जस बांव फिराई। परा भँवर में सो गति राई॥
तुरय नाव दहिने रथ हांका। बांए फिरै कोहारक चाका॥

१—शुक्ल जी का यह कहना कि "सप्त द्वीपों के तो उन्होंने कहीं नाम नहीं लिखे हैं।" (जा० ग्र० भूमिका, पृ० २१४) ग़लत है।

२—सिंहल, लंक, और सरनद्वीप वर्त्तमान लंका द्वीप के ही नाम हैं। कोई कोई लकद्वीप (बम्बई के पश्चिम-दक्षिण) को लंका मानने के पक्ष में हैं। तथा श्री हीरालाल जी लंका की स्थिति सी० पी० मानते हैं। देखिये—'कोशोत्सव स्मारक ग्रन्थ' का अवधी प्रान्त में राम-रावण युद्ध।

३—सात द्वीपों के नाम यह हैं—१ जम्बू २ प्लक्ष ३ - शाल्मल् ४—कुश ५—क्रौंच ६—शाक ७—पुष्कर।

४—सात समुद्रों के नाम यह हैं—१ लवण २ रस ३ सुरोध्य ४ घृत ५ दधि ६ जल ७ दुग्ध।—कवि-रहस्य, पृ० ८७।

मुहमद बांई दिसि तजा, एक सरबन एक आंखि।
जब तें दाहिन होइ मिला, बोल पपीहा पांखि ॥

तथा,

राघव पूजि जाखिनी, दुइज देखाएसि सांझ।
बेद-पंथ जे नहिं चलहिं ते भूलहिं बन मांझ ॥

जायसी यह भी जानते थे कि बसंत पंचमी तथा श्री पंचमी एक ही हैं और वह माघ शुक्ल पक्ष की पंचमी को होती है। वे यह भी जानते थे कि कुबेर का स्थान अलकापुरी है—

सेतुबंध, कैलास सुमेरू। गएउ अलकपुर जहाँ कुबेरू ॥

नल-दमयन्ती, श्रवणकुमार, भरथरी, हरीचन्द, गोपीचन्द आदि की कथाओं का भी प्रसंगानुकूल निर्देश है। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने इन कथाओं को सुना था। हिन्दुओं के तीर्थ-स्थानों के नाम भी उन्होंने 'बादशाह-दूना खंड' में गिनाए हैं। रामायण-महाभारत की प्रसिद्ध कथाओं का भी समयानुकूल उल्लेख है। लंका-आक्रमण से पूर्व रामचन्द्रजी ने शिव-पूजन किया था जिसकी ओर जायसी ने संकेत किस खूबी से किया है—

महादेव देवन्ह के पिता। तुम्हरी सरन राम रन जिता ॥

परंतु जायसी से कुछ भूलें भी हो गयी हैं। वह उनकी स्मरण-शक्ति का भी दोष हो सकता है और असावधानी का भी।

ज्योतिष, ऋतु त्यौहारादि

जायसी को राशिओं के तथा नक्षत्रों के नाम तो अवश्य ज्ञात थे, क्योंकि पद्मावत में उनको गिनाया है। शकुन आदि तथा उनके दोषों के निवारण का बड़ा विस्तृत तथा सरल शब्दों में वर्णन किया है जिनमें से कुछ तो सर्वसाधारण में अबतक प्रचलित हैं।[1] वे यह भी जानते थे कि अगस्त वर्षा के अन्त में उदय होता है और उसी समय से ही भारतीय क्षत्रीय युद्ध के लिए सज्जित होते थे। गोरा-बादल पद्मावती से प्रतिज्ञा करते हैं—

उए अगस्त हस्ति सब गाजा। नीर घटे घर आइहिं राजा ॥
बरषा गए, अगस्त जो दीठिहि।[2] परिहि पलानि तुरंगम पीठिहि ॥

१—सोम सनीचर पूरुब न चालू। मंगल बुध उत्तर दिसि कालू ॥ आदि।
२—तुलना कीजिए— उदय अगस्त पंथ जल सोखा। —तुलसी

षड् ऋतुओं का वर्णन भी जायसी ने उसी क्रम से किया है। भारत में जन्म लेकर, यहाँ की जनता के बीच रहकर उनके त्यौहारों, रीति-व्यवहारादि का सम्यक ज्ञान भी उनको होना ही चाहिए था। जायसी ने अपने इस ज्ञान का 'पद्मावत्' आख्यान में बड़ा सुन्दर उपयोग किया है। रत्नसेन तथा पद्मावती के जन्म समय की प्रसन्नता, पंडितों का आना, गणना करके जन्म-पत्र कहना, दक्षिणा पाना, दान, न्यौछावर, आदि का पूर्ण विवरण है। छटी-उत्सव को भी वे भूले नहीं हैं। जायसी के समय लड़की के योग्य वर खोजने का काय नाई-वारी का हो गया था। जब पद्मावती विवाह योग्य हुई, तो नाई-बारी प्रसन्न थे कि योग्य वर की खोज करेंगे और विवाह में खूब इनाम प्राप्त करेंगे। परन्तु हीरामन ने राजकुमारी से योग्य वर खोजने की प्रतिज्ञा कर ली। अस्तु नाई-वारी उसके प्रतिद्वन्द्वी हो गये। जब राजा ने सूए को मार डालने की आज्ञा दी, तो अपना प्रतिद्वन्द्वी समझकर नाई-वारी उसको मारने के लिए दौड़ पड़े। जायसी ने इस तथ्य का उद्घाटन कितने सरल शब्दों में किया है—

सत्रु सुआ के नाऊ वारी। सुनि धाए जस धाव मजारी॥

बरोक, विवाह, गोना तथा सती होना आदि सभी बिवरण प्रस्तुत हैं।

जायसी ने हिन्दू त्यौहारों का वर्णन भी बड़ी तन्मयता से किया है। होलिका उत्सव के वर्णन से तो उल्लास बरसता है। परन्तु उन्होंने गुलाल के स्थान पर सेन्दुर का ही वर्णन किया है। शायद उस समय इसी का प्रचार रहा हो।

हठयोग

नाथ-पंथ में हठयोग का मुख्य स्थान है। इन लोगों का क्रीडा-क्षेत्र पंजाब भी रहा है, जहाँ पर सूफी भी उनके सम्पर्क में आए। परिणाम स्वरूप सूफियों ने उनकी अनेक बातों को ग्रहण कर लिया। जायसी ने भी 'इडा, पिंगला, सुष्मना' नाड़ियों की चर्चा की है—

तब बैठेउ बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगल नारी॥

तथा,

कहाँ पिंगला सुखमन नारी। सूनि समाधि लागि गई तारी॥

इनमें बज्रासन, शून्य-समाधि, तथा तारी लगना भी नाथ पंथियों के संसर्ग का प्रसाद हैं। हठयोग में वर्णित सप्त चक्रों के स्थान पर सप्त ग्रहों की स्थिति बतला कर हठयोग और ज्योतिष का सामंजस्य उपस्थित करने में जायसी ने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया है। योगियों में प्रचलित रसायनिक प्रक्रियाओं का विवरण देकर जायसी ने अपनी तद्विषयक जानकारी तो प्रकट की है, परन्तु इससे रत्नसेन-पद्मावती के प्रथम मिलन में पर्याप्त अरसिकता आगई है। इन्हीं का प्रभाव है कि जायसी ने गोरखनाथ और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का नाम ही नहीं लिया है अपितु गोरख को गुरु अर्थ में रूढ़ि सा मान लिया है—

बिनु गुरु पंथ न पाइय, भूलै सो जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सो भेंट॥

—पद्मावत।

तथा, बोलहि सबद सहेली, कान लागि, गहि माथ।
गोरख आइ ठाढ़ भा, उठरे चेला नाथ॥

—पद्मावत।

साहित्य

जायसी संस्कृत भाषा न जानते थे। अतः उसके साहित्य से अपरिचित थे। ग्रियर्सन साहब का निर्णय कि 'जायसी संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे' नितान्त भ्रामक है। जायसी की रचनाएँ स्वयम् साक्ष्य दे रही हैं कि उनका रचयिता संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रयोग नहीं कर सकता है। उसकी भाषा जन साधारण में बोली जाने वाली ही भाषा है। एकाध स्थान पर संस्कृत श्लोकों के भाव पाकर उनको संस्कृतज्ञ बना देना, अथवा 'एकांगदर्सिनों'[१] का दृष्टान्त उनकी रचनाओं में देखकर उनको पाली भाषा का पंडित घोषित कर देना, अथवा शून्य और

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सूरुज दिपै अकास, मुहम्मद सब महँ देखिये॥

—अखरावट, पृष्ठ ३३१।

१—सुनि हस्ती कर नांव, अँधरन्ह टोवा धाइकै।
जेहि देखा जेहि ठांव, मुहम्मद सो तैसे कहै॥ १४॥

—अखरावट, पृ० ३२०।

को पढ़कर जायसी को भारतीय दर्शन के शून्यवाद तथा प्रतिबिम्बवाद का ज्ञाता कह बैठना नितान्त उपहासास्पद व्यवस्था है। सच बात यह है कि वे बहुश्रुत थे, सब प्रकार के मनुष्यों के साहचर्य में रह चुके थे। उन्होंने सब की बातें सुनी, स्मृति-पटल पर अंकित कर लीं और प्रसंगानुकूल उनका सदुपयोग कर अपने कथानक को आकर्षक बना दिया।

फारसी एवम् अरबी साहित्य का भी उनको विशेष ज्ञान न था। अरबी उनकी धार्मिक भाषा थी तथा फारसी उस काल के मुसलमानों की पारम्परिक व्यवहार की भाषा थी। अस्तु इन दोनों के साहित्य से वे अवगत रहे होंगे। परन्तु यदि उनको फारसी का विशेष ज्ञान होता, तो अबुल हसन (अमीर खुसरो) की भाँति अथवा अन्य सूफी सन्तों की भांति उन्होंने भी कुछ फारसी काव्य की रचना की होती। 'शाहनामा' फारसी का प्रसिद्ध काव्य है।[1] इसकी कथाओं का ज्ञान प्रत्येक मुसलमान को उसी प्रकार होता है जिस प्रकार प्रत्येक हिन्दू को रामायण और महाभारत की कथाओं का। अस्तु जायसी फारसी के बड़े पंडित न होकर भी उस भाषा और उसके साहित्य से परिचित थे।

जायसी के हिन्दी साहित्य विषयक ज्ञान के बारे में भी लगभग यही अनुमान है। उन्होंने इसके किसी ग्रंथ का अध्ययन तो नहीं किया था, वरन अपभ्रंश की कथाएँ और जैन धर्म की गाथाएँ जो गद्य-पद्य युक्त भी होती थीं, अवश्य सुनी थीं। वे रात्रि के प्रथम प्रहर में सर्व साधारण का मनोरंजन करती थीं। जायसी ने अपने पूर्ववर्त्ती कथाकारों की भी प्रेम-कहानियाँ सुनी थीं अथवा पढ़ी होंगी। इनका विवरण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कँह गएउ पतारा।।
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगनपूर होइगा वैरागी।।
राजकुंवर कंचनपुर गयेऊ। मिरगावति कँह जोगी भएऊ।।

१—अरब के लोगों को शाहनामा अधिक पसंद आया और वे उसे कुरान का समकक्ष मानते हैं। अरब 'शाहनामा' को 'कुरानुलअज्म' कहते हैं और इसी प्रकार मसनवी को 'मसनवी मौलवी मानवी हस्त कुरआन दर जुबान पहलवीं' कहते हैं। दे० मौ० हाली की शैरोशायरी पृ०, १८३।

साध कुँवर खंडावत जोगू। मधु मालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनिरुद्ध वरबांधा॥

—पद्मावत, पृ०, १००।

नख-शिख वर्णन भारतीय साहित्य की निजी विशेषता है। अन्य देशों के साहित्य में इसका तादृश्य वर्णन नहीं मिलता। जायसी को यह प्रणाली पसंद आई और इसका वर्णन बड़ी तन्मयता से किया जिसमें फारसी का पुट भी सम्मिलित कर दिया। तात्पर्य यह है कि तत्कालीन साहित्य-विधियों में से उनको जो कुछ आकर्षक और सरल लगा उसका समावेश कर उन्होंने भी एक मनोरंजक कहानी लिख डाली।

इतिहास और राजनीति

भारत में नर-इतिहासों की ओर ध्यान प्रायः नहीं दिया गया। मुसलमानों की उस ओर प्रवृत्ति थी। उन्होंने अपने समय के इतिहास प्रस्तुत किए हैं। जायसी ने इन ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन किया था, यह तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि वे ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक हलचलों से अनभिज्ञ न थे। उसमें उनकी रुचि थी। उनके सर्वश्रेष्ठ काव्य 'पद्मावत' का उत्तरार्द्ध उनकी ऐतिहासिक जानकारी का सबल साक्षी है। जायसी ने बादशाह-चढ़ाई खंड में—

बोलु न राजा आप जनाई। लीन्ह देवगिरि और छिताई॥
तथा,
रनथंमउर जस जरि बुझा, चितउर परै सो आगि।
फेरि बुझाए ना बुझै, एक दिवस जो लागि॥

से अलाउद्दीन खिलजी की देवगिरि और रणथंभोर की विजयों का उल्लेख किया है जो सन् १२९४ ई० तथा सन् १३०१ ई० में सम्पन्न हो चुकी थीं। अतः इन प्रसिद्ध घटनाओं का सन् १३०३ ई०[1] की घटना में

१—अमीर खुसरो, जो इस आक्रमण में सम्मिलित था, के अनुसार चित्तौड़-विजय की तिथि २६ अगस्त १३०३ है:—

"The Fort Chittor was taken on Monday, the 11th, Muharram 703 A. H. (Aug 26, 1303)"

—डा० ईश्वरी प्रसाद

उल्लेख करना अति समीचीन हुआ जिसमें लेखक की ऐतिहासिक योग्यता का प्रमाण मिलता है। अलाउद्दीन की सहायता में समस्त उत्तर-भारत के राज्यों का सम्मिलित होना तथा दक्षिण राज्यों का डरना प्रमाणित करता है कि उस समय तक अलाउद्दीन का राज्य समस्त उत्तर-भारत में फैल चुका था, परन्तु दक्षिण के राज्य स्वतंत्र थे जिनको खिलजी सुल्तान की साम्राज्य-लिप्सा से सदैव आशंका बनी रहती थी। कुछ दिनों पश्चात् अलाउद्दीन ने इन राज्यों को भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।

हिन्दू राज्यों में चित्तौड़ का मुख्य स्थान रहा है। जायसी के समय में (सन् १५२७ ई०) खनवा के प्रसिद्ध युद्ध में चित्तौड़-केशरी राणासांगा ने सम्मिलित राजपूत-वाहिनी का नेतृत्व किया था, उस समय से उस वीर प्रसविनी वसुन्धरा का महत्त्व और अधिक हो गया था जिसकी ओर कवि ने बड़ी उदारता से इंगित किया है—

चितउर हिंदुन कर अस्थाना। सत्रु तुरक हठि कीन पयाना॥

तथा,

है चितउर हिंदुन कै माता। गाढ़ परे तजि जात न नाता॥

पूर्व मध्य-कालीन भारतीय शासकों की एक विशेष उलझन थी, पश्चिमोत्तर दिशा से मंगोलों के क्रमागत आक्रमण। गयासुद्दीन बलवन ने इस ओर विशेष ध्यान दिया और भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को बहुत दृढ़ किया, परन्तु मंगोलों के आक्रमण न रुके। अलाउद्दीन ने भी बलवन की नीति का अनुसरण किया, परन्तु आक्रमण होते रहे। सन् १३०४ ई० में मंगोलों का आक्रमण सबसे बड़ा और अन्तिम था। मंगोल सेनानी अलीवेग और ख्वाजा ताश ने अमरोहे तक धावा मारा था।[१] इस घटना का भी जायसी ने बड़ी कुशलता से अपने काव्य में उपयोग कर अपनी ऐतिहासिक अभिज्ञता का परिचय दिया है—

एहि विधि ढील दीन्ह, तब ताईं। दिल्ली तें अरदासें आईं॥
पहिल हरेव दीन्ह जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंह कै दीठी॥
जिन भुँइ माथ, गगन तेइ लागा। थाने उठे, आव सब भागा॥

पृ०, (२३७)

१—डा० ईश्वरी प्रसाद : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑव मुस्लिम रूल इन इंडिया, पृ०, ११३-१४।

अतः स्पष्ट है कि मलिक साहब की ऐतिहासिक जानकारी पर्याप्त ही नहीं वरन् विशेष थी।

भूगोल

प्रकृति ने भारत को खान-पान की सुविधाएँ प्रदान कर रखी हैं। थोड़े से परिश्रम से ही यहां आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो जाती है। अतः भारतवासियों को अपनी जन्मभूमि से ममता है; वे स्वभावतः प्रवास-भीरु रहे हैं। फलतः उनका भौगोलिक ज्ञान भी सीमित था। आक्रमणकारी मुसलमानों में साहस था; नये प्रदेशों को जीतने तथा लूटने का उल्लास था। सूफी पर्यटन-प्रिय प्राणी होते हैं। वे दुर्गम नदी, पर्वतों, जंगलों की चिन्ता न कर समस्त भारत में फैल गए थे[१] जायसी ने भी पर्याप्त पर्यटन किया था, बाबरी दर्बार का रंगढंग देखा था, हुमायूं की पराजय और शेरशाह का अभ्युदय भी देखा था। आए दिन युद्धों, जय-पराजय की चर्चा होती रहती थी। उनको इतिहास का सम्यक ज्ञान था। इतिहास और भूगोल का अन्योन्याश्रय संबंध है। उनका भौगोलिक ज्ञान भी पर्याप्त था। उन्होंने चित्तौड़ से उड़ीसा तक जो रास्ता बताया है वह ऊटपटांग नहीं है वरन् ठीक-ठीक है। जिन प्रान्तों और स्थानों को यात्री जिस ओर देखेगा जायसी ने ठीक उसी ओर उनका निर्देश किया है। पूर्व समुद्र में यात्रा के लिए ताम्र-लिप्ति और कलिंग (कलिंग पट्टन) के बन्दरगाह प्राचीनकाल से प्रसिद्ध थे, यद्यपि जायसी के समय तक भारतवासी अपनी सामुद्रिक शक्ति खो बैठे थे।

बादशाह-दूती-खण्ड में भी जायसी ने जिन तीर्थों का निर्देश किया है लगभग ठीक है। रही लंका की सिंहल के दक्षिण की ओर निर्देश करने की बात सो सिंहल स्थान रूढ़ि है, जहाँ पद्-मिनी पाई जाती हैं। वह स्थान सिद्ध-पीठ प्रख्यात है जहाँ प्रत्येक योगी को सिद्धि-प्राप्ति के हेतु जाना पड़ता है। परन्तु "बज्रयान

१—मौ० अब्दुल हक़ : उर्दू की इब्तिदाई नशोनुमा में सूफियाये कराम के काम, पृ० ३—

"मुसलमान दरवेश हिन्दुस्तान में पुरखतर और दुश्वार गुज़ार रास्तों, सरफल्क पहाड़ों और लक बहक बयाबानों को तै करके ऐसे मुकामात पर पहुंचे जहाँ कोई इस्लाम और मुसलमान के नाम से भी वाकिफ न था।"

का केन्द्र होने के कारण श्री पर्वत और धान्य कटक ही सिद्धों के स्थान माने जाते हैं।''[1] यह दोनों स्थान वर्तमान गंटूर प्रान्त में हैं। जायसी ने अपनी स्वाभाविक सम्मिलन बुद्धि के याग से पद्मिनियों की संगत बैठाने के हेतु सिंहल और श्री पर्वत को एक मान लिया है। लंका इस स्थान से दक्षिण ही की ओर है।

एक बात और है—जायसी ने प्रचलित कहानी परम्परा में से बहुत सी बातें ज्यों की त्यों रखदी हैं। अतः

पच्छिउँ कर बर, पुरब की बारी। जोरी लिखी न होइ निनारी॥
—पृ० ११६।

को देखकर यह निर्णय देना कि जायसी को दिशाओं का भी ज्ञान नहीं था युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता।

पूर्वद्वीपों में मूँगों और कपूर का निर्देश कर जायसी ने अपने भौगोलिक ज्ञान की अन्य सबल साक्ष्य दी है। रत्नसेन जहाज के टूट जाने पर बहता हुआ एक स्थान पर पहुँचता है—

तहाँ एक पर्वत अहइ मूँगा। जहवां सब कपूर और मूँगा।

इस प्रकार जायसी ने केवल अपनी बहुज्ञता का ही प्रदर्शन नहीं किया है, वरन् प्रसंगानुकूल उपयोगी बातों का समावेश कर अपनी मधुकरी वृत्ति का मनोरम परिचय दिया है और अपने कथानक में सचाई की छाप सी लगा दी है।

व्यवहार-ज्ञान

इन सब के अतिरिक्त जायसी बड़े व्यवहार-विज्ञ थे, जिसके प्रमाण 'पद्मावत' के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर प्राप्त है। हिन्दू परिवार में सास-ननद के मध्य नवागता वधू की कैसी दयनीय दशा होती है—

सासु ननद बोलिन्ह जिउ लेंही। दारुन ससुर न निसरैं देहीं॥
तथा सासु ननद के भौंह सिकोरे। रहब संकोचि दुवौ कर जोरे॥
—पृ० २३।

विवाह-संस्कार के समय ही पहले पहल लड़की की माँग में सिन्दूर भरा जाता है और उसको वधू संज्ञा दी जाती है। जायसी

१—राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्त्व निबंधावली, पृ० १४१।

ने पद्मावती के नख-शिख में उसकी कौमार्यावस्था की ओर कैसा सुन्दर संकेत किया है—

बरनों माँग सीस उपराही। सेंदुर अबहि चढ़ा जेहि नाहीं॥
—पृ० ४१।

वैद्य लोग (पाखंडी, धूर्त, सयाने आदि भी) किस प्रकार गम्भीर मुद्रा बनाकर रोगी की परीक्षा करते हैं और रोग निदान करते हैं—

आवत गुनी गारुड़ी आए। ओझा बेद सयाने बोलाए॥
चरचहिं चेष्टा परिखहिं नारी।......................॥ (४६)

जायसी की सहज बुद्धि में पेट पालनार्थ बहेलिए का पक्षि-व्यापार दुष्कर्म नहीं है और न वह उस पाप का भागी है—

जौन होहि जग परमुस खाधू। कित पंखिन कर धरै बियाधू॥
—पृ० ३१।

स्वामी की आज्ञा पाकर उसके सामने अपनी कार्य तत्परता प्रकट करने के हेतु सेवक किस प्रकार दौड़ते हैं—

भैर जाय दस दौराए। ब्राह्मन सुआ बेगि लेइ आए॥ (३२)
तथा, एकहि कहत सहस्रक धाये।.................. (११७)

हिन्दुओं में विवाह-समय जो गठ-बंधन होता है वह साभिप्राय है; वह सनातन साहचर्य की सद्भावना का द्योतक है—

गाँठि दूल्ह दुलहिनि की जोरी। दुओ जगत जो जाए न छोरी॥
—पृ० १२६॥

विशेष उत्सवों पर प्रजाजन दरबार में उपस्थित होकर राजा को अपनी योग्यतानुसार भेंट अर्पण करते हैं, परन्तु ब्राह्मण वर्ग पुष्प, नारिकेलादि अर्पण करते हैं और दक्षिणा प्राप्त करते हैं। जायसी ने इस ओर भी संकेत किया है—

लेइ कै हस्ति महाउत मिलै, तुलसी लेइ उपरोहित चलै। (१८६)

सपत्नियों में प्रेम होता ही नहीं। एक आसन पर बैठकर, मीठी-मीठी बातें करते हुए भी, उनके हृदय विरोधपूर्ण रहते हैं। इस सत्य को जायसी ने कितनी सरल भाषा में प्रकट किया है—

दुवौ सवति मिलि पाट बईठी। हिय-विरोध, मुख बातें मीठी॥
पृष्ठ १९३।

मनुष्य स्वार्थी है। प्रेम का बहाना झूठा है। मनुष्य रोता है तो स्वार्थ के लिये। रत्नसेन को पत्नी और माता उसके आगम विछोह का स्मरण करके दारुण विलाप करती हैं, परन्तु जब राजा योगी बन कर चला ही जाता है, तो विलाप बन्द हो जाता है। समस्त व्यापार पूर्ववत् चलने लगते हैं। यही दशा प्रियजन की मृत्यु पर उसके परिजनों की होती है—

टूटै मन नौ मोती, फूटे मन दस काँच।
लीन्ह समेट सब अभरन, होइगा दुख कर नाच ॥ (५६)

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जायसी अध्ययन शील व्यक्ति तो न थे किन्तु बहुश्रत थे। उनकी धारणा और पर्यवेक्षण शक्ति विलक्षण थी। इनकी सहायता से वे अपने अनुभव को जो उन्होंने सत्संग में, पर्यटन में, व्यवहारादि में प्राप्त किया था, अपने काव्यों में इस युक्ति से उपयोगी बनाकर सज्जित किया है कि उनके अक्षय ज्ञानागार को देखकर चकित होना पड़ता है। निस्सन्देह उनका साहित्यिक तथा धार्मिक ज्ञान साधारण, इतिहास तथा भूगोल का विशेष और व्यवहार पटुता तथा अनुभव शक्ति उच्च कोटि की थी।

———

व्यक्तित्व

जायसी काने और कुरूप थे। बाल्यकाल अनाथावस्था में कष्ट से व्यतीत हुआ था। इन सबने उनकी प्रवृत्ति को अन्तमुखी बना दिया था। वे शान्त और गम्भीर थे। प्रवाद है कि एक बार कोई राजा[1] बिना इनको पहचाने इनकी कुरूपता पर हँस पड़ा। जायसी ने

१— मीरहसन दहलवी : रमूजे-उल-आरफीन—

"थे मलिक नामे मुहम्मद जायसी। वह कि पद्मावत जिन्होंने है लिखी।
थे बहुत बदशक्ल और बदकवो। देखते ही अकबर उनको हँस पड़ा।
[यह राजा मुगल सम्राट अकबर नहीं हो सकता क्योंकि जायसी अकबर के जन्म समय ही १५४२ ई० में संसार से चल बसे थे। शायद यह अवध का कोई छोटा सा राजा था, जिसका नाम अकबर रहा होगा।]

बड़ी गम्भीरता से उसकी ढिठाई पर उससे पूछा, "मोहि का हँसेसि कि कोहारहि", अर्थात् तू मुझ पर हँसता है अथवा उस कुम्हार को (निर्माण-कर्त्ता परमेश्वर को) जिस ने मुझे बनाया है। इस पर वह लज्जा से पानी पानी हो गया और परिचय प्राप्त कर क्षमा याचना की।

वह अपने धर्म के पक्के और सूफी थे। उनका विश्वास था कि इस्लाम समस्त धर्मों से सुगम और सरल है। परन्तु वे अन्य धर्मों के प्रति भी श्रद्धा रखते थे तथा सब धर्मों को उस परमात्मा तक पहुंचने के विविध रास्ते समझते थे—

विधिना के मारग हैं एते। सरग नखत, तन रोवां जेते॥
तेहि महं पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

—पृ० ३२१।

मलिक साहब बड़े सच्चरित्र, कर्तव्य-निष्ठ और गुरु-भक्त थे। इनकी सरलता, सहृदयता अनुभवशालिता एवम् विचक्षणता इनके काव्यों से पूर्णरूपेण प्रकट होती है। ये अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे और हिन्दू तथा मुसलमान दोनों की श्रद्धा के पात्र थे। उनका ईश्वरीय नियंत्रण में अविचल विश्वास था। अस्तु जायसी संयमी, वृती, मुस्लिम-भक्त, आस्तिक, उदार-हृदय, गम्भीर एवम् प्रभावशाली सूफी थे। उन्हीं जैसे महात्माओं की शिक्षा तथा सत्संग का प्रसाद है कि भारतीय देहातों में हिन्दू-मुस्लिम पारस्परिक व्यवहार में कोई भेद-भाव नहीं रखते। वे एक दूसरे के उत्सव तथा दुःख-सुख में सम्मिलित होते हैं।[१]

१—सुल्तान पुर प्रान्त का गजेटियर पृ० ७२—"It is note worthy feature perhaps that Hindus and Muslims live on terms of greater amenity with one another and that no where perhaps religious tolerance is so great as in this district."

तृतीय अध्याय

कृतियों का अध्ययन

मलिक मुहम्मद जायसी बहुत समय से 'पद्मावत' के रचियता के नाम से प्रख्यात हैं जिसका उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी-ग्रन्थावली के प्रथम संस्करण में (सन् १६२४ ई०) जायसी की 'पद्मावत' के साथ-साथ उनकी एक और पुस्तक 'अखरावट' सम्मिलित करदी। मुकालात-शिबली में पद्मावत के अतिरिक्त जायसी की दो और मसनवियों की चर्चा मिलती है।[1] तथा नूरुलहसन साहब ने 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी में भी जायसी की पद्मावत तथा अखरावट के सिवाय एक और पुस्तक का उल्लेख किया था[2]। अन्ततः सैयद कल्ब मुस्तफा साहब के परिश्रम स्वरूप शेख नियामतुल्ला साहब की कृपा से जायसी की तृतीय पुस्तक 'आखिरी-कलाम' प्राप्त हो गई और जायसी-ग्रन्थावली के नवीन संशोधित संस्करण में (सन् १६३५ ई०) सम्मिलित होकर हिन्दी-जगत् के समक्ष आई। इस प्रकार मलिक साहब की तीन पुस्तकों से—पद्मावत, अखरावट तथा आखिरी-कलाम—हिन्दी प्रेमी परिचित हैं। परन्तु जन-श्रुति के आधार पर जायसी की १४ पुस्तकें कही जाती हैं। इसके नाम निम्नलिखित हैं—[3]

१—मौ० शिबली : मुकालात-शिबली "मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत के सिवाय भाषा में दो और मसनवियाँ लिखी हैं जो उनके खान्दान में अब भी मौजूद हैं लेकिन अफसोस उनके छपने की नौबत नहीं आई।"

२—नूरुलहसन : हिन्दी जुबान और मुसलमानों का तबई मिलान—हिन्दुस्तानी एकेडेमी, अक्तूबर सन् १९३६, 'पद्मावत के सिवाय दो किताबें अखरावट और एक का नाम नहीं मालूम भाखा जुबान में लिखी है जिनके जेबर तबअ आरास्ता होने की नौबत भी नहीं आई'।

३—सै० कल्ब मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० ८३ का फुटनोट—"मलिक साहब की जिन १४ तसानीफ के नाम लिये गये हैं इसमें दो नाम इतरावत और मटकावत तो हकीम अशरफ साहब जायसी के बताए हुए हैं जो और कहीं नहीं मिलते बकिया बारह नामों में से आठ रिसाला अब्दुल कादिर जायसी व सैयद अली नकी साहब जायसी की तारीख दोनों में मुश्तरिक हैं। बाकी रिसालों में से चित्रावत और मकहरनामा के नाम सिर्फ अब्दुलकादिर साहब ने दिये हैं और सिखरावत का तजकरा महज अली नकी साहब ने किया है और एक नाम खजीता अलासफिया से मालूम हुआ है यानी होलीनामा।'

अखरावत, पद्मावत, सिखरावत, चन्द्रावत, इरतावत, मटकावत, चित्रावत तथा कहरवा नामा, मुराईनामा, मकहर नामा, पोस्तीनामा, महरानामा; होलीनामा और आखिरी-कलाम।

इनमें से केवल उपर्युक्त तीन काव्य ही सुलभ हैं। अनुमान से ऐसा प्रतीत होता है कि इतरावत, मटकावत आदि काव्य के नाम पद्मावत के अनुकरण पर बढ़ा दिये गये हैं। रही 'नामा' नाम युक्त पुस्तकों की बात सो वे अधिक से अधिक छोटी-छोटी पद्य (गजल की भाँति की) रही होंगी, अन्यथा यह नाम भी मन-गढ़न्त हैं जो जायसी-भक्तों ने उनकी काव्य-कीर्ति को विस्तार देने के हेतु प्रचलित कर दिये होंगे।

अस्तु, जायसी की केवल तीन काव्य कृतियाँ प्राप्य हैं और वे प्रकाशित भी हो चुकी हैं। इनका विस्तार पूर्वक विवेचन अगले पृष्ठों में किया जावेगा। यहाँ हम एक कठिनाई की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, वह है इन पुस्तकों के शुद्ध पाठ की। इसके मुख्य दो कारण हैं—

प्रथम, सूफीमत गुह्य-प्रधान सम्प्रदाय है। गुरु-शिक्षा मंत्र, उपदेश, आदि को उनके अनुयायी बड़ी सावधानी से छिपाते हैं। उन्हें सदैव खटका बना रहता है कि कहीं कोई गुरु-वाक्य अनधिकारी के हाथ न पड़ जावे। जायसी भी सूफी थे, सूफीमत के प्रचारक थे। अतः उनके अनुयायी उनकी पुस्तकों को 'औरों' से छिपाते रहे, विशेषतः 'अखरावट और 'आखिरी कलाम' को जिनमें धार्मिक चर्चा विशेष रूप से है। 'पद्मावत' कहानी होने के कारण लोगों में चलने लगी और बहुत पहले छप भी गई। यदि जायसी-भक्तों के हृदय से यह भावना दूर हो जावे, तो सम्भव है कि कुछ प्रामाणिक प्रतियाँ हस्तगत हो सकें।

द्वितीय जायसी, के समय फारसी राजभाषा थी और फारसी लिपि का प्रयोग भी इतना व्यापक हो चला था कि सम्भ्रान्त हिन्दू भी पारस्परिक व्यवहार में इसी लिपि का प्रयोग करने लगे थे। अस्तु सूफियों के 'भाखा' के 'दोहरे' भी फारसी लिपि में लिखे जाते थे और जायसी के काव्य भी इसी लिपि में अंकित हुए। इस लिपि में एक तो स्वर-व्यजनों की न्यूनता के कारण सब शब्द ठीक-ठीक व्यक्त

करने में कठिनाई होती है, दूसरे लेखक प्रायः घसीट के अभ्यस्त होने के कारण, नुक्ता (बिन्दी) तथा जबर-जेर-पेश (मूल स्वर अ, इ, उ के सूचक चिह्न) को नहीं लगाते। इस कारण कभी-कभी लेखक स्वयं अपने लेख को नहीं पढ़ पाते। इसी गड़बड़ी का परिणाम है कि पद्मावत के रचना-काल वाली पंक्ति के दो पाठ हो गये—

सन नव सै सत्ताइस अहा।

तथा, सन नव सै सैंतालिस अहा।

सारांश यह है कि इन ग्रन्थों के शुद्ध पाठ प्रस्तुत करना परिश्रम साध्य ही नहीं वरन् दुस्तर कार्य है। हर्ष की बात है कि डा० माताप्रसाद गुप्त इस कठिन कार्य को सम्पन्न कर चुके हैं।

क—आखिरी कलाम

जायसी की नवीनतम प्राप्त कृति 'आखिरी-कलाम' है। यह ६० दोहों और ४२० चौपाइयों (अर्द्धालियों) की एक छोटी सी पुस्तक है।

आधार

रोजेइन्साफ (अन्तिम न्याय) यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम का अटिल विश्वास है। पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाली जातियों का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यूपरान्त उस दिवस की बाट जोहता रहता है। महा प्रलय के पश्चात् उस दिन समस्त प्राणियों को ईश्वर (न्यायकर्त्ता) के समक्ष उपस्थित होकर अपने कृत्यों (पाप तथा पुण्य कर्मों) का ब्यौरा देना पड़ता है। तत्पश्चात् वे अपने कृत्यों के अनुसार स्वर्ग-नरक भोगते हैं। मुसलमानों का यह भी धार्मिक विश्वास है कि ईश्वर के अन्यतम एवं अन्तिम रसूल मुहम्मद साहब अपने अनुयायियों को शाश्वत स्वर्ग प्रदान करा देंगे।

प्रेरणा

अन्तिम न्याय में विश्वास एक ऐसा विश्वास है जिससे अविवेकी और व्यथित व्यक्ति को अटल सान्त्वना प्राप्त होती है। अस्तु वह ऐसे प्रभावशाली व्यक्ति रसूल का अनुयायी बनने में कल्याण समझता है जिसके कथन-मात्र से न्यायासीन परम पिता परमात्मा उनके अनुयायियों के पापों को केवल क्षमा ही नहीं कर देते वरन् उनको पुण्यतम प्राणियों के समकक्ष फलोपभोग का अधिकारी होने की व्यवस्था कर देते हैं। अस्तु भोली जनता में उनकी भावुकता के आश्रय में अपने धर्म की महत्ता स्थापनार्थ इससे अन्य कोई सुगम

उपाय ही नहीं है कि उनको अन्तिम न्याय का स्मरण दिलाया जावे तथा उनके उद्धार के सरलतम उपचार का दिग्दर्शन कराया जावे। सूफी मूलत: इस्लाम के प्रचारक थे और उनको राज्य की ओर से वृत्तियाँ प्रदान की जाती थीं।[1] अत: जायसी को भी अपने पड़ोसी हिन्दुओं को इस्लाम की ओर आकर्षित करने के हेतु इससे अधिक उपयुक्त कथा दृष्टिगोचर न हुई। इस प्रकार आखिरी कलाम का श्री गणेश हुआ।

रचना-कला

अन्त: साक्ष्य के आधार पर

नौ से बरस छतीस जो भये। तब एहि कथा के आखर कहै॥

यह कृति सन् ९३६ हि० (सन् १५३० ई०) की है। यह काव्य मुगल राज्य के संस्थापक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के समय का है—

बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उन कहँ बिधि साजा॥ (३४१)

बाबर ने २१ अप्रैल सन् १५२६ ई०[2] को इब्राहीम लोदी को पानीपत के प्रख्यात युद्ध में परास्त करके दिल्ली और आगरे पर अधिकार प्राप्त किया था और बाबर का राजत्व काल सन् १५२६ से १५३० ई० तक माना जाता है। परन्तु इस काव्य में कवि ने बाबर का वर्णन इस प्रकार किया है: —

बल हम जाकर जैस संभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा॥
पहलवान नाए सब आदी। रहा न कतहु बाद करि बादी॥ (१४२)

अर्थात् इस काव्य की रचना के समय बाबर ने अपने समस्त प्रतिद्वन्द्वियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि बाबर ने १५३० ई० से पूर्व घाघरा के प्रसिद्ध युद्ध में अफगानों को पराजित कर शान्ति प्राप्त की थी।[3] यह भी सम्भव है कि जायसी बाबरी दर्बार में भी सम्मिलित हुये हों क्योंकि उस समय

१—डा० इश्तियाक हुसैन कुरैशी: एडमिनिस्ट्रेशन ऑव दी सुल्तानेट ऑव डलही, पृ० १७९—
'The large number of Sufis and Faqirs under the patronage of the atate were under a Shaikh-ul Islam.'

२—रशब्रुक विलियम्स : एन एम्पायर बिल्डर ऑव सिक्सटीन्थ सेंचुरी, पृ० १३४।

३—एस० एम० जफर : दी मुगल एम्पायर फोम बाबर टु औरंगजेब, पृ० २१।

तक मुगल राज्य जायस तक न फैला था।[1] आखिरी-कलाम की पंक्ति

जायस नगर मोर स्थानू।

प्रकट करती है कि जायसी इस पंक्ति की रचना के समय जायस से भिन्न स्थान पर निवास कर रहे थे और वह स्थान संभवतया शाही दरबार था जिसकी प्रशंसा उन्होंने मुक्त कण्ठ से की है तथा जिस राजा की दान-वीरता को जी खोलकर सराहा है।[2] अस्तु, ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर भी आखिरी कलाम का रचना काल सन् १५३० ई० ही ठहरता है। तथा इस तिथि के विरोध में अभी तक कहीं कोई निर्देश नहीं मिला है। अतः हम निश्चय पूर्वक कह सकते हैं कि आखिरी-कलाम का रचना-काल ९३६ हि० (सन् १५३० ई०) है।[3]

शैली

फारसी साहित्य में 'गजल'[4] का प्रयोग प्रारम्भ में प्रेम विषयक काव्य के लिये ही होता था। पीछे के कुछ ईरानी एवम् भारतीय कवियों ने गजल में तसव्वुफ तथा अन्य विपय भी कहे हैं। 'गजल' में अलग-अलग विचार अलग-अलग वयतों में कहे जाते हैं।[5]

अस्तु कथा वर्णन में गजल उपयुक्त नहीं होते। उसके लिये 'मसनवी' का प्रयोग किया जाता है। 'मसनवी' ईरान की उपज है। अरब लोग तो इससे इतने आकर्षित हुए कि इसको पहलवी का कुरान कहने लगे।[6] मसनवी किसी भी बहर में कही जा सकती है यद्यपि

१—सुल्तानपुर प्रान्त का गजेटीयर, भाग ३६, १९०३ ई० पृ० १३४—
"The Mughals too, in their first invasion do not seem to have troubled Sultanpur."

२—देखिये, आखिरी-कलाम के ७वें तथा ८वें दोहे के बीच की चौपाइयां।

३—शुक्ल जी ने भी इसका रचना काल ९३६ हि० माना है, परन्तु ईस्वी सन् देने में भूल की है। उस समय १५२८ ई० नहीं वरन् १५३० ई० था। देखिये, हिन्दी-साहित्य का इतिहास (संशोधित संस्करण) पृ० १२१।

४—'गजल' अरबी शब्द है। इसका अर्थ है 'औरतों से बातें करना'। इसलाह में वह अशआर जिसमें हुसनो इश्क, विशाल-फिराक...वगैरह की बातें जो इश्क से मुतअल्लिक हैं, कही जांय। गजल हर बहर में कही जाती है, हर शे'र जुदागाना होता है।

—नूरुलुगात् तृतीय भाग, पृ० ५८२-८३।

५—मौलाना हाली : शैरो शायरी पृ० ११५-१६।

६—वही० पृ० १८९।

इसके लिये केवल सात बहरें ही अधिक उपयुक्त ठहराई गई हैं। इसके प्रत्येक दो मिसरे समतुकान्त होते हैं।[1] इसके लिये साहित्यिक विधान तो इतना ही है कि प्रारम्भ में ईश तथा रसूल स्तुति, राज-प्रशंसा, गुरु एवम् कवि-वर्णन और कथा संकेत होना चाहिये। परन्तु इसको सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिये बहरों का परस्पर सुसंगठन, कथा-औचित्य, वर्णन की सत्यता, स्वाभाविक चित्रण आदि भी आवश्यक माने गये हैं।[2]

तथा पश्चिमी साहित्य में यद्यपि महाकाव्य के लिये किसी महती घटना का आकर्षक वर्णन पर्याप्त होता है। परन्तु इसकी सफलता के हेतु कल्पना का आयोजन वर्णनों का ऐतिहासिक किं वा पौराणिक आधार तथा अनेक घटनाओं और व्यक्तियों का संघर्षण भी आवश्यक है। इसी आधार पर नवीनतम उपन्यासों को सामाजिक और राजनैतिक महाकाव्य कहा जा सकता है।[3]

परन्तु भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने महाकाव्य के विविध अंग-प्रत्यंगों की बड़ी विशद व्याख्या की है। इनकी दृष्टि में महाकाव्य में आठ से अधिक सर्ग होने चाहिये जो न अधिक लम्बे हों और न अधिक छोटे। इनमें विविध छन्दों का प्रयोग किया गया हो। इसका नायक कोई देवता, राजा अथवा धीरोदात्त गुण सम्पन्न क्षत्रिय होना चाहिये। उसमें शृंगार, वीर, करुण रस में से एक रस प्रधान होना चाहिये। बीच-बीच में अन्य रस तथा और व्यक्तियों के प्रसंग भी आने चाहिये। कथानक इतिहास सम्मत अथवा पौराणिकादि हो। कहीं कहीं पर दुष्टों की निन्दा तथा सज्जनों का गुण-कीर्तन भी प्रसंगानुकूल होना चाहिये। तथा प्रत्येक सर्ग के अन्त में कथा की सूचना होनी चाहिये। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रभात, मध्याह्न मृगया, पर्वत, वन, सागर, ऋतु, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, स्वर्ग, पुर, यज्ञ, रण-प्रयाण, विवाहादि का यथा स्थान सांगोपांग वर्णन होना चाहिये।[4]

१—नूरुलुगात, चतुर्थ भाग, पृ० ४८८।

२—मौलाना हाली : शैरो शायरी।

३—चेम्बरस इनसाइक्लोपीडिया।

४—साहित्य-दर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ३६५-६६।

इस प्रकार फारसी मसनवी, पश्चिमी एपिक तथा भारतीय महाकाव्य प्रायः समकक्ष ही कहे जा सकते हैं। इनमें केवल विशेष विवरणों का ही अन्तर है।

अस्तु आखिरी-कलाम अपने प्रस्तुत आकार में तथा वर्णन में न तो 'एपिक' ही है और न महाकाव्य। अधिक से अधिक वह अंगरेजी 'एपीसोड' अथवा भारतीय खण्ड-काव्य कहा जा सकता है। मसनवी तो वह वस्तुतः है ही।

छंद

मसनवी की बयतों के आकार से हिन्दी चौपाई (यदि उसके केवल दो चरण ही लिये जावें) बहुत साम्य रखता है। दोनों ही सम-तुकान्त होते हैं। दोनों की तुकों का अन्य छन्दों की तुकों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। तथा लेखन प्रकार भी एकसा है। साथ ही यह छन्द हिन्दी के प्रारम्भिक युग में प्रमुख स्थान पाये हुये था। जैन ग्रन्थों में भी इसका प्रयोग पाया जाता है। चन्द ने भी इसका प्रयोग किया है तथा अमीर खुसरो ने भी अपनी मुकरियां इसी छन्द में कहीं। इस प्रकार यह छन्द सर्वजनीन हो चुका था। अतः इसने सूफियों का ध्यान भी आकृष्ट किया और उन्होंने अपनी प्रेम कहानियों के लिये चौपाई-दोहों को चुना। एक बात और स्मरण रखनी चाहिये कि गजल में शैरों की संख्या नियत तो नहीं है, परन्तु साधारणतया १३ शैरों से अधिक शैर एक गजल में नहीं होते। अधिक उपयुक्त संख्या पांच अथवा सात मानी गई है। दूसरी बात यह है कि मसनवी में समस्त शैरों को एक प्रकार से नहीं लिखते, बल्कि ५, ७, ९, १३ आदि के पश्चात दो शैरों को (जो उसी बहर में हों अथवा अन्य बहर में) अधिक घना लिखकर अन्य शैरों से अलग कर देते हैं। इस प्रकार लिखी हुई मसनवी दोहे-चौपाई के क्रम पर लिखे हुए काव्य के अनुरूप प्रतीत होती है।

दोहा छन्द भी प्राचीन काल से प्रचलित था ही। इसका समय ७०० वि० के लगभग है और कदाचित् सरहपा द्वारा ही इसका प्रथम प्रयोग हुआ है।[1] प्राचीन जैन ग्रन्थों में भी इसका प्रयोग पाया जाता है। यह छन्द प्राकृत आर्या तथा संस्कृत अनुष्टुप का ही विकसित रूप प्रतीत होता है। सूफी लोक भाषा में लोक-प्रचलित छन्दों में कहानी

१—डा० विनय तोष भट्टाचार्य : बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी का जनरल, भाग ८२, सं० १, पृ० १४७।

सुनना चाहते थे। अतः उन्होंने दोहे-चौपाइयों को ही उपयुक्त समझा। चौपाइयों की संख्या असम रक्खी[1] और बीच-बीच में दोहे रक्खे।

परम्परा

जायसी से पूर्व कुतबन ने 'मृगावती' (सन् ६०६ हि० में) तथा मंझन ने अपनी 'मधुमालती' में पाँच अर्द्धालियों के उपरान्त एक दोहे का क्रम रखा था। जायसी ने अपने तीनों काव्यों में सात-सात चौपाइयों के पश्चात् दोहे का क्रम रखा है। चौपाइयों की संख्या कहीं भी न्यूनाधिक नहीं हुई है। 'अखरावट' में दोहे के साथ-साथ एक सोरठा भी है। हिन्दी में इन छन्दों का प्रयोग गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने लोक विख्यात काव्य 'रामचरित मानस' में किया है। उन्होंने चौपाइयों की संख्या प्रायः आठ ही रखी है। परन्तु कहीं-कहीं पर यह संख्या ७, ६, १०, ११ तथा २७ तक हो गई है।[2]

नाम

इस काव्य के नाम के कारण बड़ी भ्रान्ति फैल गई है। यह स्वीकार करते हुए भी कि प्रस्तुत ग्रन्थ अति साधारण कोटि का है, कुछ विवेचक उसको जायसी की अन्तिम कृति मानने का दुराग्रह करते हैं। अस्तु इसके नामकरण के विषय में विचार कर लेना चाहिए। इसके कारण निम्न प्रतीत होते हैं:—

(क) कलाम का शब्दार्थ वक्तृता, साहित्यिक कृति एवम् आपत्ति

१—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सूफियों ने गजल के अनुकरण पर चौपाइयों की संख्या असम रखी। अतः इससे यह निष्कर्ष निकालना कि उनको छन्द-शास्त्र का ज्ञान न था; वे यह भी नहीं जानते थे कि चौपाई में चार चरण होते हैं अधिक संगत नहीं प्रतीत होता। यद्यपि हम देखते हैं कि संस्कृत के उद्भट विद्वान् एवम् हिन्दी-साहित्य के सर्वोच्च कवि तुलसीदास भी इस नियम का सर्वत्र पालन करने में असमर्थ रहे।

२—डा० माताप्रसाद गुप्त का विचार कि काग-प्रसंग को बाद में जोड़ देने से किंवा द्वितीय तथा तृतीय संशोधन में चौपाइयों की संख्या बढ़ गई होगी—गोस्वामी जी को इस दोष से सर्वथा मुक्त नहीं कर सकता।

—मा० प्र० गुप्तः तुलसीदास, पृ० २५५-७०।

होते हैं।' तथा इसके साथ विशेषण प्रयुक्त कर देने पर 'कलाम पाक, कलामुल्ला, कलाम-मजीद' का विशिष्ट अर्थ कुरआन से होता है जिसको आखिरी कलाम भी कहते हैं, क्योंकि इसमें अन्तिम रसूल पर ईश्वरीय अनुकम्पा से उतरी हुई बहियों (ईश्वरीय आदेशों) का उपदेशामृत संग्रहीत है। परन्तु प्रस्तुत काव्य में महा प्रलय के वर्णन के पश्चात् मुहम्मद साहब के दैन्य, अपनी उम्मत (अनुयायियों) के उद्धार के लिए उनकी तीव्र लालसा और व्याकुलता तथा उनका सर्वोपरि महत्त्व-स्थापन—जन-साधारण में उनके प्रति आशा, विश्वास तथा भक्ति का अटल विश्वास जमाने का साथ प्रयत्न है। अतः इस काव्य का महत्त्व जन साधारण में उनकी भोली भावुकता के सहारे मुहम्मद साहब के प्रति भक्ति और विश्वास का अक्षय श्रोत होने से रचयिता को वास्तव में आखिरी-कलाम के समकक्ष ही प्रतीत हुआ हो। अतः यही नाम रखना मानो उनके विश्वास और भक्ति को और भी दृढ़तर कर देना समझा हो।

(ख) सृष्टि के अन्तिम दृश्य का वर्णन होने से अन्तिम वर्णन का काव्य अर्थात् आखिरी-कलाम नाम देना उचित समझा हो। निस्सन्देह नाम की शिथिलता अपरिपक्व विचार-धारा एवम् इस ओर नवीन प्रयत्न की द्योतक है।

(ग) शायद इसका ठीक नाम कुछ और ही रहा हो। प्रस्तुत लेखक की सम्मति में 'आखिरनामा[२]' अधिक समीचीन प्रतीत होता है। आखरियत-नामा[३] भी हो सकता है। किन्तु लेखक की असावधानी

१—देखिए, हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिक्शनरी।

२—जायसी रचित १४ ग्रन्थों में से सात के अन्त में 'वत' है और छः के अन्त में 'नामा'। केवल एक नाम 'आखिरी-कलाम' अन्य प्रकार का है। जायसी के समस्त काव्य में उनकी अनुकरण परक रुचि का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। अस्तु यह नाम भी आखिरनामा होना चाहिए। सूफियों में नामा-नामान्त ग्रन्थ रचने की प्रथा थी, यथा सनाई रचित, 'गरीब-नामा', 'कारनामा', 'अक्ल-नामा', 'इश्क-नामा', निजामी का 'स्पन्द-नामा' अत्तार का 'पंद-नामा', 'मुसीबत नामा', 'बुलबुल नामा', 'शुतर नामा' आदि।

३—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृ० २७। यह नाम चाहे अधिक व्याकरण सम्मत हो, परन्तु इसमें वह स्वच्छता और सादगी नहीं है जो आखिर नामा में है।

से किंवा जनश्रुति के आधार पर परिवर्तित नाम 'आखिरी-कलाम प्रसिद्ध हो गया हो। ग्रन्थ के वर्ण्य विषय के विचार से भी 'आखिर-नामा' बहुत ही उपयुक्त जँचता है।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काव्य के प्रसिद्ध नाम तथा अन्य रचनाओं के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं है।

कथावस्तु

कवि ने सर्व प्रथम ईश-स्तुति करके अपने जन्म-काल के भूकम्प का वर्णन किया है। तत्पश्चात्, रसूल-स्तुति करके बाबरशाह की प्रशंसा की है। इसके बाद गुरु-बन्दना,[1] जायस-वर्णन[2], माया-वर्णन करके काव्य का रचना-काल दिया है। (१ से १३)।

प्रलय-काल का वर्णन करते हुए पृथ्वी का द्रव्य उगलना, तथा बिलाई के सूँघने से मृत्यु का वर्णन किया है। तत्पश्चात् मिकाइल फरिश्ते द्वारा चालीस दिन तक अग्नि-उपल वर्षण से समस्त सृष्टि के विनाश का वर्णन किया है। जिबराइल फरिश्ता आकर यह दृश्य देखता है और ईश्वर से निवेदन करता है कि संसार में कोई जीवित नहीं रहा है। (१८ तक)

मिकाइल आज्ञा पाकर चालीस दिन तक जल बरसा कर समस्त संसार को जलमग्न कर देता है। तत्पश्चात् इसराफील 'सूर' बजाते हैं जिससे पृथ्वी समतल हो जाती है। (१९ तक)

ईश्वर की आज्ञा पाकर जिबराईल अपने साथी फरिश्तों को एक-एक कर मार डालता है और स्वयम ईश्वर द्वारा मारा जाता है। (२१ तक)

अब ईश्वर ४० वर्ष तक अकेला रहा और विचार किया कि सब को पुनः जीवित करके पुले सरात पर चलाना चाहिए और कौसर-स्नान कराना चाहिए। (२२ तक)

१—इस काव्य में केवल एक 'गुरु' की बन्दना की गई है।

२—'जायस नगर मोर अस्थानू। नगर के नाम आदि उदयानू॥
जायस का प्राचीन नाम 'उदय नगर' था। मुसलमानों ने इसका नाम जायस रखा जो फारसी 'जैश' पड़ाव से निकला है।
—राय बरेली प्रान्त का गजेटियर, पृ० १८१।

यह विचार आते ही पहले चारों फरिश्ते जीवित किए गए। जिबराइल पृथ्वी पर आए और मुहम्मद साहब को पुकारा। उत्तर में लाखों स्वर सुनाई पड़े। फिर जिबराईल ने उनकी खोज की। वे अपनी उम्मत समेत उठ खड़े हुए। वे सब नंगे थे और उनके नेत्र तालू में थे। (२५ तक)

मुहम्मद साहब की उम्मत का पुले-सरात को पार करना वर्णन किया है। धर्मी लोग तो शीघ्र पार कर गए, अन्य लोग अपने कर्मों के अनुसार धीरे-धीरे पार गए। किन्तु पापी पीव के समुद्र में पुल से नीचे गिर गए। (२८ तक)

तत्पश्चात् आज्ञा पाकर सूर्य छ: मास तक तपता रहा। पापियों को धूप और प्यास सहनी पड़ी। किन्तु धर्मियों के सिर पर छाँह थी। रसूल छाया में नहीं बैठे, क्योंकि उनको अपने अनुयायियों की बड़ी चिन्ता थी। अन्य सवा लाख पैगम्बर भी उपस्थित थे। वे छाँह में बैठे थे। (३० तक)

जब मुहम्मद साहब की उम्मत बुलाई गई, तो उन्होंने आदम, ईसा, इब्राहीम, नूह आदि के पास अलग-अलग जाकर प्रार्थना की कि मेरी कुछ परमात्मा से सिफारिश करदो। किन्तु सबने अपने अपने दुखों का पचड़ा गाकर कोरा टरका दिया। (३६ तक)

तब रसूल ने अपनी उम्मत का सारा कष्ट अपने ऊपर लेकर परमात्मा से विनती की। खुदा ने कुपित होकर फातिमा की खोज कराई। जब सबने आँखें बन्द करलीं, तब बीबी फातिमा हसन-हुसैन को लेकर खुदा के पास पहुँची और न्याय की याचना की कि यदि मेरा न्याय न किया तो शाप दे दूँगी। फातिमा के क्रोध को देखकर ईश्वर ने रसूल को धौंस दी कि यदि वे अपनी पुत्री को शान्त न करेंगे, तो उनके समस्त अनुयायी नरक में डाल दिए जावेंगे। रसूल ने फातिमा को समझाया, सारी स्थिति उसके समक्ष रखी। फातिमा को अपने पिता पर दया आगई। उन्होंने क्रोध छोड़ दिया। ईश्वर भी मुहम्मद साहब पर प्रसन्न हो गए और यजीद (हसन-हुसैन के घातक) को नरक में डाल दिया। (४२ तक)

तत्पश्चात् रसूल के अनुयायी बुलाए गये। उनका न्याय किया गया। मुहम्मद साहब ने सब को क्षमा करा दिया। कौसर-स्नान हुआ। उम्मत सहित रसूल का निमंत्रण हुआ। भोजन की

विशेषता का वर्णन कर कवि ने शराब और पानों का वर्णन किया है। रसूल की प्रार्थना पर ईश्वर ने सबको दर्शन दिए। (५१ तक)

दर्शन पाकर सब दो दिन तक बेहोश रहे। तीसरे दिन जिबराईल ने आकर जगाया, वस्त्र पहिनाए और स्वर्ग को ले गए। यहाँ पर बहुत सी हूरें और अपसराएँ प्राप्त हुईं। (५५ तक)

अन्त में स्वर्ग और वहाँ के रहन-सहन का वर्णन कर जायसी ने अपने काव्य को समाप्त कर दिया है—

नित पिरीत नित नव-नव नेहू। नित उठि चौगुन होइ सनेहू ॥
नित्तइ नित्त जो वारि बिया है। बीसौ बीस अधिक ओहि चाहै ॥
तहाँ न मीचु, न नींद दुख, रहन देह महँ रोग।
सदा अनन्द मुहम्मद, सब सुख मानै भोग ॥६०॥

प्रबन्ध-कल्पना

यह एक प्रबन्ध-काव्य है। अस्तु इसमें रचयिता की प्रबन्ध-पटुता की जाँच करना संगत ही नहीं, वरन् समीचीन भी है। इस्लाम प्रन्थों में महाप्रलय एवम् न्याय-दिवस का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि महाप्रलय में सम्पूर्ण सृष्टि का विनाश हो जावेगा। तत्पश्चात् समस्त प्राणी परमात्मा के सम्मुख उपस्थित होकर अपने-अपने कृत्यों का विवरण देंगे, उनकी इन्द्रियाँ उनकी साक्ष्य देंगी। विचारक परमात्मा उनके कृत्यों के अनुसार प्रत्येक प्राणी को स्वर्ग-नरक की व्यवस्था देंगे। इस विवरण में 'पुले सरात', 'कौसर-स्नान' शराब, हूर, आदि के प्रसंग भी सम्मिलित हैं। मुसलमानों का यह भी विश्वास है कि हजरत मुहम्मद अपने अनुयायियों के पापों को परमात्मा से क्षमा करा देंगे। तथा "खुदा उस वक्त (कयामत के दिन) कहेगा—ए मुहम्मद! जिनको तुमने पेश किया है वे तुम्हें जानते हैं, मुझे नहीं जानते। ये (सूफी) मुझे जानते हैं, तुम्हें नहीं जानते[1]—यह सूफियों की धारणा है। सारांश यह है कि कयामत का होना, प्राणियों का उठना[2], पुले सरात को पार करना, ईश्वर के समक्ष

१—जायसी- ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ १३१।

२—इससे यह ध्वनि निकलती है कि प्रत्येक प्राणी अपने पूर्व रूप में उठ खड़ा होगा। परन्तु इसलामी विवेचन में इसका कहीं स्पष्टीकरण नहीं है। कुछ व्यक्ति तो 'लिङ्ग-शरीर' की भी कल्पना करते हैं।

उपस्थित होना, रसूल की उम्मत को क्षमा-प्रदान तथा शाश्वत स्वर्ग-विहार—ये मूल बातें धार्मिक ग्रन्थों से ली गई हैं। इनके अतिरिक्त ४० दिन अग्नि-उपल वर्षण ४० दिन जल-वर्षण, ४० वर्ष तक ईश्वर का एकान्त एवम् विचार प्राणियों के नंगे बदन तथा तालू पर आँख होना, अन्य पैगम्बरों के पास जाकर रसूल का दैन्य-प्रदर्शन, फातिमा की खोज, उसका क्रोध, खुदा की रसूल पर धौंस, रसूल का फातिमा को समझाना, दावत की विशेषतायें, ईश्वर-दर्शन, दो दिन तक बेहोश पड़े रहना, आदि विवरण कवि-कल्पना प्रसूत हैं। अतः प्रथम प्रस्तुत काव्य में इनकी उपयोगिता पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

चालीस की संख्या

इस संख्या का कि इतने ही दिन अनल-उपल वर्षण होगा, तत्पश्चात् इतने ही दिनों जल-वर्षण होगा अथवा इतने ही वर्ष ईश्वर एकान्तवास करेंगे किसी ग्रन्थ में वर्णन नहीं मिलता। (यदि काल सूचक सूर्य, चन्द्र आदि ही नहीं रहेंगे, तो दिन और वर्षों की संख्या किस प्रकार होगी। यह एक विचारणीय प्रश्न है)। परन्तु लोक-प्रवाद में चालीस का महत्त्व है। कहावत प्रसिद्ध है "शेख मरो तब जानियो चालीसो होइ जाइ"। शायद चालीस दिन तक कब्र में पड़े रहने के पश्चात् ही किसी को विश्वास पूर्वक मृतक संज्ञा प्रदान की जा सकती है, इससे पूर्व उनके पुनः जीवित हो उठने की आशा किंवा आशंका बनी रहती है। अन्यथा इस संख्या के महत्त्व का यह कारण हो—हजरत मूसा को ४० दिन-रात पर्वत पर रहने का आदेश मिला था, किन्तु उनके परिजन इतनी लम्बी प्रतीक्षा न कर सके और उनकी अनुपस्थिति में ही स्वर्ण अजा की बलि दे दी गई।[1] एक और कारण कदाचित् यह भी है कि चिश्तिया शाखा के अनुयायी सूफी 'चिल्ला' का अभ्यास करते हैं जिसके अनुसार वे ४० दिन तक किसी मसजिद या किसी कमरे में एकान्तवास किया करते हैं। खैर, जो भी कारण

१—एक्जोडस, अध्याय १३-१८। तथा दी होली कुरान-अनुवादक युसुफअली, अध्याय २, आयत ५१।

And remember We appointed
Forty days for Moses,
And in his absence ye took
The Calf (for worship)
And ye did wrong.

हो इस संख्या को उचित से अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया गया है। गुरु-सेवा के लिए भी इतने दिनों का महत्त्व समझा गया :—

जो चालिस दिन सेवे, बार बुहारे कोई।
दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोइ॥ (२४२)

और प्रत्येक व्यक्ति को हूरें भी चालीस ही प्राप्त होंगी—

चालीस चालीस हूरें सोई। औ संग लागि बियाही जोई॥ (३५८)

परन्तु ईश्वर को महान विचारक बनने से पूर्व महान तैयारी के लिए ४० दिन निश्चय ही अपर्याप्त समझ कर उतने वर्ष का समय दे दिया है ताकि उसके निर्णय में कोई त्रुटि न रह जावे। यह एक अप्रौढ़ कल्पना है जिससे काव्य-सौन्दर्य में कोई योग नहीं प्राप्त होता तथा प्राणियों के उठने पर

सोवत तुमहिं कइउ जुग बीते।
तथा, कहउ करोरि बरस भुँइ परे। (३४८)

की उक्ति से पूर्व कथित चालीस दिन तथा चालीस वर्ष की अवधि का उपहास सा प्रतीत होता है।

नंगे बदन तथा तालू पर नेत्र होना

नंगे शरीर ईश्वर के समक्ष उपस्थित होना वस्तुतः प्राणी का प्रकृत रूप में पहुँचना है जो उस प्राणी के शुद्ध और सरल भावमग्न होने की दशा द्योतक है। परन्तु ईश्वर पर दृष्टि लगाए हुए मुहाविरे का अर्थ "तालू पर आँखें होना" (क्योंकि ईश्वर ऊपर रहता है) लगाकर महा अनर्थ कर डाला है। शायद इस लिए कि प्राणी एक दूसरे को नग्न अवस्था में न देखें, जिनमें शायद कुछ स्त्रियाँ भी रही हों। परन्तु प्रथम तो प्रकृत प्राणियों में इन भावों की कल्पना करना ही उचित नहीं, दूसरे यदि वे अपने आसपास एक दूसरे को देख ही नहीं पाते थे तो बीबी फातिमा के आने पर सबको नेत्र बन्द कर लेने की कठोर आज्ञा क्यों प्रदान की गई? इससे प्रथम का निराकरण हो जाता है, परन्तु विचारशील व्यक्ति के लिए एक और समस्या उठ खड़ी होती है—क्या उस पुनरुत्थान में स्त्रियाँ नहीं थीं? यदि थीं, तो फातिमा के उठने पर ही नेत्र बन्द करने की विशेष आज्ञा क्यों दी गई। और यदि नहीं, तो उन बेचारियों का क्या हुआ? इस प्रकार स्पष्ट है कि 'तालू पर नेत्र' वाली कल्पना बड़ी भोंडी रही।

रसूल का दैन्य-प्रदर्शन

परीक्षा-काल सचमुच भयावह होता है परन्तु इस्लाम जगत के त्राता का प्रथम अवसर पर ही—पुले सरात के दर्शन-मात्र से—रो बैठना,

एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं। (३४८)

रसूल की महत्ता का द्योतक कदापि नहीं है। अपनी उम्मत के बुलाये जाने पर रसूल का अपने पूर्ववर्ती पैगम्बरों के पास जाना निस्सन्देह उनकी महत्ता की स्वीकारोक्ति एवम् कृतज्ञता-प्रकाशन का सद् प्रयत्न है। तथा मुहम्मद साहब की विनयशील प्रकृति का द्योतक है। परन्तु इन बातों से उनके चरित्र को भव्यता नहीं प्राप्त हो सकी और न न्यायासीन परमात्मा के न्याय किंवा सत्याचरण पर विश्वास जमता है।

बीबी फातिमा का प्रसङ्ग

फातिमा की खोज होना उस महती जननी एवं उसके रत्नद्वय के त्याग और वीरत्वपूर्ण जीवन की महत्ता की घोषणा है जो वीर पूजक जातियों में आशा का संचार करती है। परन्तु उसका विवरण-ईश्वर का कोप; रसूल को धौंसाना, उम्मत-मोक्ष का प्रलोभन, फातिमा को समझाना, आदि एक उद्दण्ड अत्याचारी सफल पुलिस कर्मचारी की काली करतूतों का चित्र उपस्थित करता है। इस प्रसङ्ग से काव्य-सौन्दर्य को पर्याप्त ठेस पहुँची है तथा खुदा का चरित्र भी हेय हो गया है।

दावत

इसका विवरण जायसी की अत्युक्ति-प्रियता की ओर संकेत अवश्य करता है। 'देखते भूख भागना' मुहाविरे को अतिशयता प्रदान करने के लिये तथा स्वर्गीय व्यंजनों की विशेषता प्रकट करने के लिये इस प्रकार की कल्पना की गई है—

हाथन्ह से केउ कौर न लेई।
जोइ चाह मुख पैठे सोई॥
दांत जीभ मुख किछुन डोलाइब।
जस जस रुचि है तस तस खाइब॥ (३५६)

दर्शन-याचना

यह सम्पूर्ण अभिनय ईश्वरीय दरबार में ईश्वर के समक्ष रचा गया। उसकी आज्ञाएँ सुनी गई। उनका अक्षरशः पालन किया गया। परन्तु उसका 'दीदार' न प्राप्त हुआ, क्योंकि वह तो 'हुस्ने बुतां' के पर्दे में छिपा रहता है, प्रकट ही नहीं होता और सूफी उसके दीदार का कायल है; बिना दर्शन किये द्वार नहीं छोड़ सकता। अतः रसूल की दर्शन-याचना जायसी की अतृप्त भावना एवम् उसके सूफी सिद्धान्तों की ओर सम्मान की पोषक है। ईश्वर रसूल पर प्रसन्न होकर उनको तथा उनकी उम्मत को प्रकाश-रूप में दर्शन देता है। उस अलौकिक ज्योति के आविर्भाव में वे सब आनन्द-विभोर होकर दो दिन तक निश्चेष्ट पड़े रहते हैं। यह अन्तिम दृश्य सूफी-कलम से रंजित है—सूफियों का विश्वास है कि परमात्मा की प्राप्ति प्रकाश-पुञ्ज के रूप में होती है जिसकी सायुज्य-प्राप्ति जीव को आनन्दातिरेक से विभोर बना देती है। वे क्षण—परम के सामीप्य के क्षण-प्राप्त होना अहोभाग्य है।

प्रबन्धात्मकता में व्यतिक्रम

सम्पूर्ण कथा में कवि-कल्पित विवरण किस प्रकार प्रबन्ध-सौष्ठव में असहयोग उपस्थित करता है इसका दिग्दर्शन कर लेने के पश्चात् कथा-प्रवाह में उलटफेर किंवा बाधा पहुँचाने वाले स्थलों की ओर भी सहसा ध्यान चला जाता है। संयोग से इस प्रकार के स्थल भी इस छोटी सी कथा में कम नहीं हैं जो कवि के प्रारम्भिक प्रयत्न के द्योतक हैं। अस्तु स्पष्ट है कि कवि अभी तक कथा को उचित रूप से निबाहने में असमर्थ था।

मीकाईल आज्ञा पाकर जल-अग्नि-उपल वर्षण द्वारा समस्त पृथ्वी को शून्य एवम् एकसार कर देता है—

> सून पिरथिवी होइ गई, दंहु धरती सब लीप।
> जेतनी सिरिट मुहम्मद, सबै माह जल दीप॥ (३४५)

जिसकी साक्ष्य ईश्वर के समक्ष जिबराईल देता है। परन्तु शायद कवि भूल से किंवा उन्माद से फिर मीकाईल को जल-वर्षण की आज्ञा प्रदान कराता है। सच्चे आज्ञा पालक सेवक की भाँति फरिश्ता फिर जल-वर्षण द्वारा पर्वतादि को डुबा देता है और फिर वही—

सून पिरथिमी होइहि, बूझै हंसै उठाइ।
एतनी जो सिस्टि मुहम्मद सो कहँ गई हेराइ ॥ (३४५)

की पुनरावृत्ति होती है। पर्वतादि पहले भी विनिष्ट हो चुके थे, किन्तु इसराफील की द्वितीय फूंक से

दूसरि फूँक जो मेरु उठे हैं। परवत समुद एक होइ जैहे। (३४६)

पर्वतों का पुनः विनाश होना कवि की असावधानी का प्रमाण है।

इजराईल ईश्वर की आज्ञा से जिबराईल के प्राण हर लेता है। मीकाईल स्वयम् अपने प्राण छोड़ देता है। तत्पश्चात इसराफील भी अपने प्राण छोड़ देता है। इन तीनों के प्राण देने का अलग-अलग वर्णन कर कवि पुनः इन तीनों फरिश्तों का अजराईल द्वारा मारे जाने की चर्चा करता है—

पहिले जिउ जिबराइल के लेई। लौटि जीव मेकाइल देही ॥
पुनि जिउ देइ इसराफीलू। तीनहु कइ मारै अजराईलू ॥ (३४६)

अस्तु, पाठक उलझन में पड़ जाता है कि इन तीनों फरिश्तों ने स्वयं प्राण विसर्जन किये, अथवा वे इजराईल द्वारा मारे गये।

कवि स्पष्ट शब्दों में समस्त स्त्री पुरुषों के कब्रों से मुक्त होने की घोषणा करता है—

सुनि कै जगत उठिहि सब झारी। जेतना सिरजा पुरुष औ नारी ॥
(पृ० ३४८)

किन्तु थोड़ी देर पश्चात् बीबी फातिमा और उसके दोनों पुत्रों की अनुपस्थिति से खुदा की भाँति पाठक भी थोड़ा सा बेचैन हो उठता है।

पुल सरात को केवल धर्मात्मा व्यक्ति ही पार कर पाये थे। पापी तो पीब और नरक कुण्ड में गिर चुके थे। परन्तु सूर्य के तपने पर पता चलता है कि कुछ पापी भी (शायद किसी चालाकी से) जिनकी संख्या भी कम नहीं, उसको पार कर जाने में समर्थ हो सके थे। सूर्यताप से केवल धर्मी व्यक्तियों को ही छाँह और पानी मिल रहा था, पापियों के तो सिर का गूदा भी पका जाता था—

जेहि किछु धरम कीन्ह जगमाँहा। तेहि सिर पर किछु आवै छाँहा ॥
धरमिहि आन पिआउब पानी। पापी बपुरहिं छाँह न पानी ॥
(३५०)

इस स्थल पर विचारशील पाठक को एक अजब हैरानी होती है—रसूल को तो छाँह और पानी का अधिकार था परन्तु उसने एक सच्चे नेता की भाँति इनका उपभोग उचित नहीं समझा—

एक रसूल न बैठहिं छाँहा। सब ही धूप लेहि सिर माहाँ॥ (३५०)

क्योंकि—

घामै दुखी उमति जेहि केरी। सो का मानै सुख अवसेरी॥
दुखी उमत तो पुनि मैं दुखो। तेहि सुख होहि तो पुनि मैं सुखी॥
(३५०)

तथा—

तिन्ह सब बाँधि घाम मँह मेले। का भा मोरे छाँह अकेले॥ (३५४)

प्रश्न यह है—क्या रसूल के समस्त अनुयायी अधर्मी थे, जिसके कारण उनको धूप और प्यास सहन करनी पड़ी? निस्संदेह कोई भी सहृदयशील व्यक्ति इस कल्पना की सम्भावना को स्वीकार नहीं कर सकता।

इस पुनरुत्थान के अवसर पर सभी व्यक्ति नग्न थे:—

नंगा नांग उठि है संसारू। नैना हुइ हैं सब कै तारू॥ (३४८)

इसी कारण बीबी फातिमा के उठने पर सबको आंख बन्द कर लेने का कठोर आदेश किया गया था। परन्तु रसूल साहब ईश्वर के समक्ष गले में पगड़ी डालकर निवेदन करते हैं—

बहु दुःख देखि पिता कर, बीबी समुझा जीउ।
आइ मुहम्मद विनवा, ठाड़ पाग कै जीउ॥ (३५४)

विचारणीय बात यह है कि यह पगड़ी कहाँ से प्राप्त हुई क्योंकि वस्त्र तो दावत एवं ईश्वर-दर्शन के पश्चात् विमोहित व्यक्तियों को जागृत कर जिबराईल ने जुटाये थे। भाजनान्तर वस्त्र धारण करना तो हम भारतवासियों को शायद न खटके, परन्तु वस्त्र पहिनने के पश्चात् स्नान करना अवश्य असंगत प्रतीत होगा।[1]

कवि कल्पनानुसार उस स्वर्गीय दावत में किसी को जीभ, दांत, मुँह, हाथ आदि चलाने की आवश्यकता न थी।[2] उन विशेष पदार्थों के दर्शन-मात्र से आत्मा और इन्द्रियों की तृप्ति हो जाती थी—

१—जा० ग्रन्थावली, पृ० ३५८-५६।

२—वही, पृ० ३५६।

पाँच भूत, आतमा सिराई। बैठि अघाउ, उदर ना भाई ॥ (३५६)

परन्तु कवि का 'शराबुन्तहूरा' के पीने के स्पष्ट वर्णन से—

जेंवन अचवन होइ पुनि, पुनि होइहि खिलवान।
अमृत भरा कटोरा, पियहु मुहम्मद पान ॥ ४७॥

तथा,

लागब भरि भरि देइ कटोरा। पुरुव ज्ञान बस भरे महोरा ॥
फिरे तँबोल मया से, कहव अपुन लेइ खाहु।
भा परसाद मुहम्मद, उठि बिहिस्त मँह जाहु ॥४८॥ (३५६)

उसकी पूर्वोक्ति का विरोध सा प्रतीत होता है।

यहाँ पर "भा परसाद मुहम्मद, उठि बिहिस्त मँह जाहु" से एक नवीन समस्या उठ खड़ी होती है। यह न्यायाचरण किस स्थान पर हुआ था ? स्वर्ग में तो निश्चय ही यह कार्यवाही नहीं हुई, क्योंकि स्वर्ग में जाने की आज्ञा तो अब प्रदान की गई है।

सात स्वर्ग (आसमान) ईश्वर द्वारा बनाये हुये मुसलमानों में प्रसिद्ध हैं। आठवाँ स्वर्ग शहदाद ने निर्माण कर दिखाया। ईश्वर इस स्पर्धा को सहन न कर सका। फलत: स्वनिर्मित स्वर्ग-प्रवेश के अवसर पर शहदाद मार डाला गया—

औ शहदाद बैकुंठ सवांरा। पैठत पौरि बीच गहि मारा ॥ (३५१)

परन्तु उसका स्वर्ग भी ईश्वर द्वारा बनाये स्वर्गों के सककक्ष ही हुआ और शायद उन्हीं के पड़ोस में भी पहुँच गया। वे आठों स्वर्ग मुहम्मद साहब की उम्मत को बाँट दिये गये—

सात बिहिस्त विधि ने औतारा। औ आठईं शदाद सँवारा ॥
सो सब देव उमत कह बाँटी। एक बराबर सब कहि आटी ॥ (३५८)

अब प्रश्न यह है कि अन्य प्राणियों का (जिनमें सवा लाख पैगम्बर भी सम्मिलित हैं) क्या हुआ ? पाठक की ऐसी धारणा सहज ही बन सकती है कि उन सब को 'दोजख़में' भेजा गया होगा, क्योंकि आठों स्वर्ग तो मुहम्मद साहब के अनुयायियों में ही बाँट दिये गये थे। अस्तु कथानक में ऐसे अपूर्ण वर्णन वस्तुत: सदोष माने जावेंगे।

इस्लामी विचार

कवि ने इस काव्य में इस्लामी विचारों का भी यत्र-तत्र समावेश किया है जिससे उस धर्म की वाह्य एवम् मोटी मोटी बातों से कवि की जानकारी प्रकट होती है। अन्य सामी मतों की भाँति इस्लाम

में भी खुदा एक कठोर शासक के रूप में प्रतिष्ठित है, उसके प्रकोप और आतंक ही का बोलबाला है। कवि ने इस ओर स्पष्ट संकेत किया है—

ताकहँ ऐता तरासे, जो सेवक अस नित।
अबहुँ न डरसि मुहम्मद, काह रहसि निह चित ॥५॥ (३४०)

तथा,

सो अस देउ न राखा, जेहि कारन सब कीन्ह।
दहुँ तुम काह मुहम्मद, ऐहि पृथिवी चित दीन्ह ॥७॥ (३४१)

वह अल्लाह अपनी आज्ञा का उल्लंघन भी सहन नहीं कर सकता

आयुस इबलीसहु जौ टारा। नारद होइ नरक महँ पारा ॥ (३४?)

इस इबलीस ने भी ईश्वराज्ञा मे असंतुष्ट हो उसकी प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ कर दी। सर्वप्रथम उसने आदम को बहकाया—

होइ बैकुण्ठ जो आयुस ठेलेउँ। दूत के कहे मुख गोहूँ मेलेउँ ॥

तथा अब प्रत्येक धर्मी को बहका कर ईश्वर के विरुद्ध करता है—

'नावँ न साधु' साधि कहवावै। तेहि लगि चलै जो गारी पावै ॥ (३४२)

ईश्वर के कार्य भी निर्माण, पोषण तथा विनाश हैं—

भंजन, गढन, संवारन, जिन खेला सब खेल।
सब कह टारि मुहम्मद, अब होइ रहा अकेल ॥ (३४७)

अल्लाह यह सब प्रपञ्च केवल मुहम्मद साहब की प्रीति के कारण ही करता है—

जेहि हित सिरजा सात समुंदा। सातहु दीप भए एक बुन्दा ॥ (३४१)

तथा, तुम तँह एता सिरजा, आपके अन्तर हेत।
देखहु दरस मुहम्मद, आपनि उमत समेत ॥ (३५७)

परन्तु वस्तुतः केवल वही सत् है—

साँचा सोइ, और सब झूठे। ठाँव न कतहुँ ओहि के रूठे ॥ (३४१)

पुले-सरात तथा कौसर-स्नान का भी वर्णन कवि ने किया है। ईश्वर अपना समस्त शासन-प्रबन्ध एवम् व्यवस्था चार आज्ञा पालक फरिश्तों द्वारा कराता है। उनके नाम हैं—मीकाइल, जिबराइल, इसराफील तथा अजराइल। अन्तिम न्याय का विवरण तो कवि का लक्ष्य ही है। उसमें लेखे-जोखे की भी चर्चा है—

पुल सरात पुनि होइ अभेरा। लेख लेव उमत सब केरा ॥ (३४८)

इंद्रियों के साक्ष्य देने की बात भी कवि भूला नहीं है—

हाथ, पाँव, मुख, काया, स्रवन, सीस औ आंखि।
पाप न छपै मुहम्मद, आइ भरैं सब साखि ॥ (३५५)

एक बात और है। अभी तक जायसी साधारण मुसलमान की भांति शराब, हूरें, आदि में विश्वास रखता है। उन्हीं की भाँति वह भी भोग-विलास को परम ध्येय समझे हुए है—

बिरसहु दूलह जोबन बारी। पाएउ दुलहिन राज कुमारी ॥ (३६०)
तथा, नितइ नित जौ बारि बियाहै। बीसों बीस अधिक ओहि चाहै ॥ (३६१)

सूफीयत की ओर झुकाव

जायसी का हृदय इस समय भी सूफीमत की ओर झुक रहा था। इस बात का भी परिचय इस कृति से मिलता है। सूफीमत विरह प्रधान मत है। कवि ने इस ओर विशेष संकेत किया है—

दरब जोरि सब काहुहि दिए। आपुन बिरह आउ जस लिए ॥(३४२)
तथा, जिन भरि जलम बहुत हिय जारा। बैठि पाँव देइ जपै ते पारा ॥ (३५६)

तथा—

पाट बैठि नित जोहै, बिरहन्ह जारै मास।
दीन दयाल मुहम्मद, मानहु भोग बिलास ॥५८॥ (३६०)

इस प्रकार को जो साधना करता है उसे सर्वत्र वही वह दिखलाई देता है—

जहवैं देखौ तहवैं सोई। और न आव दिस्टितर कोई ॥ (३४२)

कवि की गुरु में भी पूर्ण श्रद्धा थी। गुरु ही सुमार्ग पर (सत्य पथ पर) शिष्य को ला सकता है, ऐसा जायसी का दृढ़ विश्वास था—

कर गहि धरम पंथ देखरावा। गा भुलाइ तेहि मारग लावा ॥
जो अस पुरुषहि मन चितलावै। इच्छा पूजै आस तुलावै ॥ (३४२)

कवि ने ईश्वर-दर्शन का वर्णन भी सूफियों की भांति प्रकाश रूप में किया है—

एक चमकार होइ उजियारा। छपै बीज तेहि के चमकारा ॥
चाँद सूरज छपि है बहु जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥ (३५७)

तथा, दर्शन के पश्चात् आनन्दातिरेक से समस्त उम्मत का बेसुध हो जाना भी वर्णन किया है—

ना अस कबहू देखा, ना केहू ओहि भाँति।
दरसन देखि मुहम्मद, मोहि परै बहु भाँति ।। (३५८)

योगियों का प्रभाव

इस काव्य के कुछ स्थलों से ज्ञात होता है कि जायसी नाथपंथी हठयोगियों के भी सम्पर्क में आ रहे थे, यद्यपि अभी तक उन योगियों की भाँति न तो अटपटी वाणी का प्रयोग करते थे, न उनकी सी बहु-ज्ञान प्रदर्शन की लालसा थी और न शायद उनके प्राणायाम, आसन, तथा कुंडलिनी आदि का महत्व ही समझ पाये थे। 'तारी लगने' की चर्चा कवि ने अवश्य की है—

झारि उमत लागी सब तारी। जेता सिरजा पुरुष औ नारी ।। (३५७)

तथा हठयोगियों की भाँति हठपूर्वक भी ईश्वर-दर्शन सम्भव है—इस ओर भी कवि ने इंगित किया है—

अब सब गएउ जलम दुख धोई। जो चाहिय हठि पावा सोई ।।
(३५८)

परन्तु एक-एक मन्दिर में केवल सात-सात द्वारों का ही वर्णन किया है, दस का नहीं। इसका कारण शायद सात स्वर्गों के साथ संगति बैठाने का प्रयत्न रहा हो।

एक-एक मन्दिर सात दुवारा। अगर चन्दन के लाग किवारा ।।
(३५६)

सम्मिलन भावना

जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका हैउस युग की प्रधान विशेषता थी पारस्परिक मतभेद को मिटा कर समझौता करने की प्रवृत्ति। इस ओर जायसी ने अपने अन्तिम काव्य अखरावट में अधिक जोर दिया है, किन्तु इस प्रवृत्ति का इस कृति में भी नितान्त अभाव नहीं है। मुसलमानों के अनुसार अजराइल मृत्यु का फरिश्ता है और हिन्दुओं के अनुसार यमराज। कवि अजराइल को यम संज्ञा देकर हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं में एक्य सम्पादन करता है—

पुनि पूछव 'यम ! सब जिउ लीन्हा। एकौ रहा बाचि जो दीन्हा' ।।
(३४६)

तथा अल्लाह के संहारक रूप को रौद्र (शंकर) संज्ञा देकर दोनों में साम्य-स्थापन का प्रयत्न करता है—

जो जम आन जिउ लेत हैं, शंकर तिनहूकर जिव लेव।
सो अवतरै मुहम्मद, देखु तहूँ जिउ देव ॥ (३४६)

साधारण मुसलमान की भांति जायसी अभी तक इबलीस को शैतान मानकर तथा चंचल वृत्ति नारद को झगड़ालू समझकर दोनों को एक मानता है—

धूत एक मारत गनि गुना। कपट रूप नारद करि चुना ॥ (३४७)

हिन्दुओं में प्राचीन काल से प्रचलित एक प्रथा है 'आरती' उतारना। जायसी ने इस प्रथा का उपयोग बड़ी सहृदयता से किया है—

आरति कर सब आगे ऐहैं। नंद सरोदन सब मिलि गेहैं ॥ (२५६)

त्रुटियाँ

इस काव्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि इस छोटे से काव्य में वाक्य-संगठन, काल-सूचक, भाव-व्यंजन की शिथिलताएँ भी पर्याप्त है। सबसे अधिक विवादास्पद पंक्ति—

भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरसि ऊपर कवि बदी ॥ (३४०)

है। शुक्ल जी ने तो स्वीकार किया है "कि इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता"।[1] किन्तु अन्त में अर्थ दे दिया है। उधर डा० कमल कुल श्रेष्ठ ने अपनी नूतन कल्पनाओं से इस पंक्ति को और भी अधिक उलझन में डाल दिया है।[2]

जो नहिं बातक करै विषादू। जानौ मोहि दीन्ह परसादू ॥ (३५३)

में अन्तिम पद का शब्दार्थ है 'मानो मुझे प्रसाद दे दिया' किन्तु

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५।

२—डा० कमल कुल श्रेष्ठ : मलिक मुहम्मद जायसी, भाग १, पृ० १६—
नौ सदी का अर्थ नया वर्ष लगाकर ९०६ हि० को नवीं शताब्दी में खींचने के लिये कवि की अज्ञानता का सहारा लेना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ पर कवि अपना परिचय दे रहा है। काव्य की तिथि की ओर संकेत नहीं कर रहा है। उसकी ओर तो कवि ने ६३ चौपाइयों और ९ दोहों के पश्चात् स्पष्ट उल्लेख किया है। अस्तु इसका अर्थ 'मेरा जन्म नौ सौ सदी में हुआ और तीस वर्ष के पश्चात कविता करने लगा' ही ठीक है।

कवि का आशय प्रसंग को ध्यान में रखते हुए इसके विपरीत प्रतीत होता है अर्थात् 'तो मानो कि मैं प्रसन्न हो गया'।

नबिहि छाँडि होइहि सबहि, बारह बरसक राह।
सब अस जान मुहम्मद, होइ बरस के राह ॥ (३५५)

विचारणीय यह है कि यदि रसूल को छोड़ कर अन्य सब के लिये वह मार्ग बारह वर्ष का होगा, तो फिर वह एक वर्ष का क्यों कर प्रतीत होगा। कदाचित् कवि कहना चाहता है कि रसूल के कारण वह बारह वर्ष का मार्ग एक वर्ष का हो जावेगा।

पुनि रसूल नेवतब जेवनारा। बहुत भाँति होइहि परकारा ॥ (३५५)

यहाँ पर 'नेवतब' से तात्पर्य न्योते से है न कि न्योतेंगे तथा 'भाँति' और 'पर कारा' प्रायः पर्याय हैं, किन्तु इनसे सम्बन्धित शब्द सामग्री, पदार्थ' आदि का कोई पता नहीं है।

"करु दीदार देखों मैं तोही" (३५७) में 'करुदीदार' से कवि का आशय 'दर्शन कर' से नहीं अपितु अपने को प्रकट कर (दर्शन दे) से है।

अन्त कहा धरि जान से मारै। जिउ दइ देइ पुनि लौटि पछारै ॥
तस मारब जेहि मुँह गाडि जाई। खन-खन मारै लौटि जियाई ॥(३५४)

इन पंक्तियों में 'मारै' और 'पछारै' क्रियाओं के विधि रूप 'मारब' (मारो) तथा 'पछारब' होने चाहिए।

यह उदाहरण थोड़े से पृष्ठों से ले लिए गये है। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी अनायास मिल सकते हैं।

आवश्यकतानुसार शब्दों को विकृत कर देना कवियों का प्रकृत अधिकार सा हो गया है, किन्तु प्रस्तुत कवि ने कहीं-कहीं उनको कुरूप बना कर मनमाने अर्थ में प्रयुक्त कर डाला है—

बेगि हँकारेउ उमत समेता। आवहु तुरत साथ सब लेता ॥ (३४८)
स्पष्ट है कि यहाँ पर समेता से तुक भिड़ाने के लिये 'लिए हुए' के अर्थ में 'लेता' गढ़ लिया है।

एक और उदाहरण लीजिए। 'करतूति' शब्द का अर्थ है कला, कर्म, हुनर आदि।[1] किन्तु इसका प्रयोग कभी अच्छे कार्यों

1—देखिये—हिन्दी शब्द-सागर।

के लिये नहीं किया जाता। इसका प्रयोग प्रायः कपट, चाल युक्त कर्मों के लिये ही होता है।[1]

जायसी का—

सवा लाख पैगम्बर सिरजेउँ। कर करतूति उन्हें हिये बँधेउ॥ (३५७)

में अन्तिम पद का अर्थ होता है 'करतूति (चाल, माया) से सबको बन्धन में फाँस दिया'। परन्तु कदाचित् कवि कहना चाहता है कि सबको कर्म-बन्धन में बद्ध कर दिया।

अपने काव्य के छन्दों को सुष्ठु तथा लय युक्त रखने के लिये प्रायः कवि ह्रस्व को दीर्घ किंवा दीर्घ को ह्रस्व कर लिया करते हैं। फिर भी यदा-कदा किसी छन्द में एकाध मात्रा का न्यूनाधिक हो जाना विशेष त्रुटि नहीं समझी जाती। प्रस्तुत काव्य में कवि की असावधानी से एकाध मात्रा तो प्रायः न्यूनाधिक होगई है। किन्तु निम्नलिखित पदों में मात्राओं का इतना अधिक न्यूनाधिक हो जाना विशेष रूप से खलता है:—

पुनि जिउ देइहि इसरा फीलू। तीनिहु कहँ मारै अजराईलू॥ (३४६)
जो जम आन जिउ लेत हैं, सङ्कर तिनहू कर जिउ लेइ।
सो अवतरै मुहम्मद, देखु तहूँ जिव दव॥२०॥ (३४६)

उठहु मुहम्मद होहु बड़ नेगी। देन जोहार बोलावहि बेगी॥ (३५७)
होइ बैकुण्ठ जो आयसु ठेलउँ। दूत के कहँ मुख गोहू मेलउँ॥ (३५१)
करु दीदार देखौं मैं तो ही। तो जीव जाइ सुख मोंही॥ (३५७)
औरन्ह कर आगे कत लेखा। जेतना सिरजा को आहि देखा॥ (३५७)

चौपाई छन्द के अन्त में यदि दो दीर्घ हों, तो वह छन्द विशेष सुन्दर प्रतीत होता है। इस काव्य में ४२० अर्द्धालियों में से ४५ के अन्त में एक ह्रस्व और एक दीर्घ (IS) है; १६ के अन्त में दोनों ह्रस्व (II) हैं तथा शेष में दो दीर्घ (SS) हैं। इस प्रकार प्रत्येक सात अर्द्धालियों में से एक में सौन्दर्य की दृष्टि से थोड़ी सी त्रुटि है।

फातिमा आइकै पार लगावा। धरि मजीद दोजख महँ गावा॥(३५४)

में 'लगावा' के साथ 'गवा' की तुक लगाई है जो किसी भी प्रकार श्रुति-मधुर नहीं कही जा सकती।

१—गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी 'मानस' में इसका प्रयोग किया है—
ऊँच निवास नीच करतूती। देखि न सकै पराय बिभूती॥

कवि की तुकों में एक और ध्यान देने योग्य है—

मरम बैठ उठ, तेहि पै गुना। जो रे मिरिग कस्तूरी पहाँ॥ (३४०)

'गुना' के साथ 'पहाँ' का गठबन्धन बिल्कुल नहीं जँचता। इसका कारण तो शायद कवि पर फारसी का प्रभाव है किन्तु रदीफ और काफिया के अनुसार भी यह त्रुटिपूर्ण है।

जायसी ने लोकभाषा में सर्वसाधारण के हितार्थ काव्य-रचना की थी, किन्तु इस कारण वह च्युति-संस्कृति किंवा ग्राम्य दोषों से मुक्त नहीं हो सकते। 'कूँचना' क्रिया चाहे उनको विशेष आकर्षक प्रतीत हुई हो किंवा किसी विशेष शब्द के साथ खिलवाड़ कर लगने की अपनी स्वाभाविक वृति को न रोक सके हों, परन्तु इसका अति प्रयोग बड़ा खटकता है—

कूँचत खात बहुत दुख पाएउ। तँह ऐसे जेवनार जेवाएउ।
जैस अन्न बिनु कूँचे रूचै। तैस मिठाइ जौ कोऊ कूँचै॥
(३५६)

अलंकार भी इस काव्य में साधारण ही हैं। उपमा और रूपक दो सादृश मूलक अलंकार मिलते हैं। उनमें भी न कोई सांग रूपक है और न पूर्णोपमा। उपमान भी अति साधारण हैं, नवीनता का तो नाम भी नहीं है। अधिकतर उपमाएं निम्न कोटि की हैं—

अदृन दुनी उमर जस कीन्हा। (३४१)
बन हमजा कर जैस संभारा। (३४२)

मुहाविरों की ओर कवि का रुझान अवश्य लक्षित होती है जो पद्मावत में सराहनीय हो गई है।

"मुँह गरुआना खात मिठाई" (३५१)

मुहाविरे का प्रयोग बड़ा सुन्दर बन पड़ा है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है। प्रस्तुत काव्य में प्रयुक्त अरबी-फारसी शब्दों का प्रतिशत दूसरे काव्यों में प्रयुक्त शब्दों के प्रतिशत से कहीं अधिक है।

अब इस काव्य के अन्तरंग पर थोड़ा सा विचार कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है। रस को काव्य की आत्मा स्वीकार करें अथवा न करें, इसमें तो किसी सहृदय को तनिक भी आपत्ति नहीं हो सकती कि जिन स्थलों पर रस-परिपाक पूर्ण होता है, वे बड़े मनोरम

और हृदयग्राही होते हैं। इस सम्पूर्ण काव्य में किसी भी स्थल पर कोई भी रस पूर्णता नहीं प्राप्त कर सका है। इसके कारण कदाचित कवि का नूतन अभ्यास तथा इतिवृतात्मक कथा-मात्र कहना है। इस प्रकार के काव्य में केवल उत्सुकता बनाए रखने की ओर लक्ष्य होता है। किन्तु हमें खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि कवि पाठक की उत्सुकता को भी जाग्रत रखने में असमर्थ रहा है, क्योंकि कथा का परिणाम लोक-प्रसिद्ध है। इसी इतिवृतात्मकता का फल है कि इस काव्य में ऐसे नीरस पद भरे पड़े हैं—

पुनि धरती कह आयुस होई।
पुनि मेकाइल आयुस पाए। } (३४४)

जिबराईल पाउब फरमानू।
मिकाईल पुनि कहब बुलाई।
पुनि इसराफीलहि फरमाए। } (३४५)

अजराईल कह बेगि बुलावे।
पुनि फरमाए आप गोसाईं। } (३४६)
जिबराईल पुनि आयुस पावे। (३४७)

जिबराइल तब कहब पुकारी। अबहू नींद न गई तुम्हारी ॥
पुनि रसूल जैहै होइ आगे। उम्मति चलि सब पाछे लागे ॥ (३४८)

इस प्रकार का यदि कथा-प्रवाह में कोई पद आजावे तो क्षम्य समझा जा सकता है,[1] किन्तु प्रत्येक पृष्ठ पर इस प्रकार के दो-दो, तीन-तीन पदों का पाया जाना निस्सन्देह कवित्व में भारी दोष है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट परिणाम निकलता है कि 'आखिरी-कलाम' जायसी का प्रौढ़ काव्य नहीं हैं—यह उनकी प्रारम्भिक कृति है। फलतः इसमें उस सौष्ठव एवम् सौन्दर्य का अभाव है जिनके कारण 'पद्मावत' आदरणीय समझा गया और सहृदयों के गले का कण्ठहार बना रहा। किन्तु कुछ विवेचकों का विचार है "प्रस्तुत काव्य की शैली पद्मावत से अधिक प्रौढ़ है"।[2] अस्तु इन दोनों

१—इस प्रकार के एकाध पद अन्य कवियों के प्रबन्ध काव्यों में भी पाए जाते हैं, किन्तु इनकी प्रचुरता अवश्य ही दोष है। तुलना कीजिए—
आगे चले बहुरि रघुराया। ऋष्यमूक पर्वत नियराया ॥ —रा० च० मानस
२—डा० कमल कुलश्रेष्ठ : मलिक-मुहम्मद-जायसी, पृ० ४६।

काव्यों की कतिपय पंक्तियों का तुलनात्मक अध्ययन करना अधिक समीचीन होगा।

दोनों ग्रन्थों की प्रथम पंक्ति लगभग समान है—

पहिले नावँ दैउ कर लीन्हा। जेइ जिउ दीन्ह बोल मुख कीन्हा ॥
(आ. कलाम)

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू ॥
(पद्मा०)

निस्सन्देह पद्मावत की पंक्ति में जो सौंदर्य है वह प्रथम में नहीं। सुमिरौं' क्रिया के काल में जो भव्यता है वह 'लीन्हा' के ढचरे में नहीं।

आगे चलकर 'कीन्हेसि' एवम् 'दीन्हेसि' की आवृति जायसी की विशेष रुचि की द्योतक है जिसका विवेचन अगले अध्याय में मिलेगा।

मरम पाँव के तेहि पै दीठा। होइ अपाय मुंइ चलै बईठा ॥ (आ. क.)
दीन्हेसि चरन अनूप चलाही। सो जानइ जेहि दीन्हेसि नाही ॥
(पद्मावत)

दोनों ही पंक्तियों में समान भाव है, किन्तु अन्तिम पंक्ति में सौन्दर्य छलकता है।

'आखिरी-कलाम में कवि ने बाबर के बल, ऐश्वर्य, प्रबन्ध, आदि का जो वर्णन किया है उसकी तुलना में 'पद्मावत' में वर्णित शेरशाह के यश, प्रबन्ध आदि का वर्णन अधिक हृदयग्राही एवम् मनोरम है।

एक और स्थल पर कवि ने लगभग एक ही भाव को दोनों ग्रन्थों में अंकित किया है। वह है पुलेसरात का वर्णन—

तीस सहस कोट के बाटा। अस सांकर जेहि चलै न चाटा ॥
(आ० कलाम)

तीस सहस कोस के पाटा। अस सांकड़ चलि सकै न चांटा ॥ (पद्०)

दोनों पंक्तियों के प्रथम पद को प्रायः समान समझकर—यद्यपि 'पाट' शब्द 'बाट' से अधिक महत्वपूर्ण है—दूसरे पद पर विचार कीजिए। आखिरी कलाम की पंक्ति का अर्थ है कि 'वह इतना पतला है कि उस पर चींटियाँ भी नहीं चलतीं', शायद गिर जाने के भय से चलने का साहस नहीं करतीं। परन्तु 'पद्मावत' वाला पद स्पष्ट घोषणा कर

रहा है कि चींटियाँ उस पर चल ही नहीं सकतीं—उनका उस पर चलना असम्भव है। अस्तु स्पष्ट है कि आखिरी कलाम वाली पंक्तियों को सुधार कर (परिवर्धन एवम् संशोधन के पश्चात्) 'पद्मावत' में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार अन्य स्थलों की जिनमें एक भाव नहीं, वरन् एक से भाव हैं तुलनात्मक विवेचन के पश्चात् प्रस्तुत लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि पद्मावत की रचना अधिक प्रौढ़ है, कवित्वपूर्ण एवम् मनोरम है। तथा अखिरी कलाम कवि का बाल-प्रयत्न है जिससे उसके भावी विकास की सूचना मिलती है।

चतुर्थ अध्याय

पद्मावत

जायसी के काव्यों में 'पद्मावत' समस्त उत्तर भारत में प्रसिद्ध रहा है। उसकी अनेक लोगों के पास हस्तलिखित प्रतियाँ भी सुरक्षित हैं। परन्तु इसके एक विशुद्ध संस्करण की आवश्यकता अभी तक बनी हुई है।

नाम—

इस काव्य के 'पद्मावत, पद्मावती तथा पदुमावती' नाम प्रचलित हैं। काव्य और नायिका के लिये प्रायः एक ही नाम का व्यवहार किया गया है। डा० कमल कुलश्रेष्ठ के विचार से "'अवधी भाषा के सामान्य नियमों के अनुसार इस काव्य का नाम 'पदुमावती' अधिक सही है। तत्समता की दृष्टि से इसका नाम 'पद्मावती' होना चाहिये। 'पद्मावत्' किसी दृष्टिकोण से विशेष सही नहीं है।"[1] परन्तु विद्वान लेखक एक विशेष दृष्टिकोण की अवहेलना कर गया है। वह है कवि का निजी दृष्टिकोण। कवि को न तो तत्समता की झोंक थी और न थी अवधी के व्याकरण की परवाह। उसमें अनुकरण की विशेष प्रवृत्ति थी। सखरावत, मटकावत चित्रावत,[2] आदि के अनुकरण पर इस काव्य का नाम 'पद्मावत' ही कवि को अभीष्ट प्रतीत होता है। इसी दृष्टिकोण से हम आखिरी कलाम का सही नाम आखिरनामा किंवा आखिरियत नामा मानने के पक्ष में है।[3] अस्तु हमारा अनुरोध है कि किसी कवि के विचारों तक पहुँचने के लिए उसकी विशेष रुचि, शिक्षा, दीक्षा आदि का अवलम्बन लेना चाहिये, अपनी रुचि, समय, भाषा, आदि को उसमें खपाने के लिए बौद्धिक व्यायाम का प्रयत्न न करना चाहिए। इसी दृष्टिकोण से जायसी का एक संस्करण प्रस्तुत होना चाहिए।

पद्मावत का कथानक—

पद्मावत् के विशेष विवरणों को छोड़ते हुए संक्षेप में इस काव्य की कथा इस प्रकार है—

१—डा० कमल कुलश्रेष्ठ : म० मु० जायसी, प्रथम भाग, पृ० २४।

२—जायसी की अन्य काव्य पुस्तकों के नाम।

३—देखिए पृ० ६४।

सिंघल नरेश गन्धर्वसेन की रानी चम्पावत के एक अलौकिक सुन्दरी कन्या ने जन्म लिया। इस कन्या का नाम पद्मावती था। पाँच वर्ष की आयु में उसका विद्यारम्भ संस्कार हुआ और थोड़े से समय में वह परम विदुषी हो गई। बारह वर्ष की अवस्था में यौवन की उद्दाम हिलोरों से वह व्यथित रहने लगी। उसके पिता अपने ऐश्वर्य के मद में किसी को आँख तर न लाते थे। फलतः उसके विवाह की कोई चर्चा न थी।

राजकुमारी का अन्तरंग हीरामन नाम का एक सूआ था। वह बड़ा पण्डित और चतुर था। उसने राजकुमारी को धैर्य बँधाया और उसके योग्य वर खोजने की प्रतिज्ञा भी की। किसी ने इस संवाद की सूचना राजा को दे दी। राजा का पारा चढ़ गया और सूए को मार डालने का आदेश दे दिया। परन्तु राजकुमारी के अनुनय-विनय ने उसकी प्राण रक्षा की। हीरामन सशंक हो चुका था, अतएव एक दिन अवसर पाकर पिंजड़े से उड़ा और जंगल की राह ली। राजकुमारी उसके वियोग से दुखी रहने लगी।

वन्य पक्षियों ने हीरामन का स्वागत किया। वह प्रसन्नता से उनके साथ रहने लगा। एक दिन किसी बहेलिये ने जाल लगाया। दाने के लालच में हीरामन पकड़े गये। चिड़ीमार उसे झावे में रख कर हाट ले गया। वहाँ चित्तौड़ के एक ब्राह्मण ने उस सूए को विद्वान् समझ कर मोल ले लिया और अपने देश को लौटा।

राजा चित्रसेन के स्वर्गारोहण के पश्चात् उसका पुत्र रत्नसेन चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा। उसने उस सूए की प्रशंसा सुनी और उस ब्राह्मण को बहुत सा रुपया देकर सूआ मोल ले लिया।

एक दिन राजा आखेट को गया। उसकी रानी नागमती दर्पण के सम्मुख खड़ी होकर अपने लावण्य पर मुग्ध हो रही थी। सहसा उसने हीरामन से पूछा, "क्या तुम्हारे सिंहल में मेरे समान सुन्दरी है?" सूए ने उत्तर दिया "पद्मिनी और तुम्हारे सौन्दर्य में दिनरात का अन्तर है।" रानी इस पर उत्तेजित हो उठी और भावी आशंका के भय से धाय को सूए के मार डालने की आज्ञा दी। दाई ने सूए को मारा नहीं, अपितु छिपा दिया। संध्या को जब राजा आखेट से लौटा, तो सूए को न पाकर बड़ा चिन्तित हुआ। रानी को हीरामन प्रस्तुत करने की कठोर आज्ञा प्रदान की। बेचारी दाई की समझदारी से रानी बची।

राजा के पूछने पर सूए ने समस्त बात ठीक-ठीक सुना दी। पद्मिनी की चर्चा से राजा विचलित हो गया। उसकी आज्ञा से हीरामन ने उसका नख-शिख वर्णन किया। राजा उसके प्रेम में उन्मत्त हो गया। सबने समझाया, हीरामन ने प्रेम-मार्ग की कठिनाई प्रकट की, उसकी माता रोई, स्त्री ने करुण विलाप किया, किन्तु सब व्यर्थ। राजा रत्नसेन सोलह सहस्र राजकुमारों के साथ योगी बन कर सिंहल की ओर चल दिए।

एक माह के पश्चात् वे समुद्र के किनारे पहुँचे। वहाँ के राजा गजपति ने रत्नसेन का स्वागत किया और समुद्र यात्रा की भयंकरता का वर्णन कर उसे सिंहल जाने से रोकना चाहा। परन्तु रत्नसेन न डिगा। निदान जहाजों की उचित व्यवस्था कर उसे विदा किया। यह योगी दल, खार, खीर, दधि, उदधि सुरा और किलकिला समुद्रों की विकट यात्रा को क्रमशः पार करते हुये मानसर में पहुँचे, जहाँ उनको शांति प्राप्त हुई।

सिंहल पहुँचकर सूए ने राजा को महादेव के मंडप पर टिकने का आदेश किया और कहा कि बसन्त पंचमी को पद्मावती पूजा को आवेगी, तब पहिले दर्शन करना फिर उसकी प्राप्ति होगी। सूआ राजा से बिदा लेकर पद्मावती के पास पहुँचा। वह उससे भेंट कर रोई, हीरामन ने उसे सान्त्वना दी और कहा कि वह उसके अनुकूल वर की खोज कर लाया है और उसने पूजा के बहाने बसन्त पंचमी को महादेव के मण्डप पर आने की प्रतिज्ञा भी ले ली। लौटकर उसने रत्नसेन को भी सूचना दे दी।

सखियों सहित पद्मावती महादेव की पूजा के लिये चली। पूजा करने के पश्चात् शिवजी से उपयुक्त वर की याचना भी की। तत्पश्चात् वे योगीदल को देखने गई। रत्नसेन पद्मावती के दर्शन से बेसुध हो गया। राजकुमारी ने चन्दन लगा कर शीतोपचार से उसे संज्ञा लाभ कराने का प्रयत्न भी किया, किन्तु निष्फल। अन्त में उसके वक्ष-स्थल पर चन्दनाक्षरों से अंकित कर दिया कि "तू भिक्षा प्राप्ति के अवसर पर सो गया। अभी तेरा योग कच्चा है।" और अपने प्रासाद को लौट आई। जब राजा को चेत हुआ तो वह रोने लगा और दृढ़ संकल्प कर मरने का आयोजन करने लगा। उसी समय उधर से महेश-पार्वती आ निकले। योगी की कथा सुन पार्वती ने उसकी परीक्षा ली और उसको प्रेम में सच्चा समझकर

महादेव से कृपालु होने की याचना की। महादेव जी ने उसे सिद्धि-गुटिका प्रदान की और उस तक पहुँचने का मार्ग भी बतला दिया।

जोगियों ने गढ़ पर आक्रमण कर दिया। राजा ने जब सुना कि जोगी उसकी राजकुमारी को भिक्षा में चाहता है, तो उसके क्रोध का ठिकाना न रहा। इधर रत्नसेन ने सूए के द्वारा पद्मावती का संदेश पा लिया तो वह और भी उत्साहित हो गया। गन्धर्वसेन ने मंत्रियों से परामर्श कर योगियों को बन्दी बना लिया। सूली देने की तैयारी होने लगी। महादेव-पार्वती भाट-भाटिनी का वेष धारण कर आ गए। राजा को समझाया। न मानने पर युद्ध के लिये ललकारा। समस्त देवताओं को अपने विरुद्ध देखकर राजा ढीला पड़ गया। हीरामन की साक्ष्य ली गई और विवाह का निश्चय करके तिलक कर दिया गया।

तत्पश्चात् ठाट बाट से बारात, दावत और विवाह सम्पन्न हुआ। रत्नसेन-पद्मावती के रहने के लिये सत-मंजिले पर प्रबन्ध किया गया। कवि ने सखियों के परिहास और पद्मावती के संकोच का वर्णन कर उनके संयोग का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। राजा के साथियों को भी सोलह सहस्र पद्मिनियाँ दी गईं और वे सब भी प्रसन्नता पूर्वक रहने लगे। पद्मावती का पति के साथ छहों ऋतुएँ आनन्ददायिनी प्रतीत होती थीं, परन्तु वियोगिनी नागमती को बारहों महीने बड़े कष्टदायक प्रतीत होते थे। वह दुखिया नगर से बाहर जंगल के पक्षियों से सहानुभूति प्राप्ति करने गई।

एक पक्षी को उस पर दया आ गई। उसने नागमती के संदेश को उसके पति तक पहुँचाने की प्रतिज्ञा की। वह पक्षी उड़कर सिंहल पहुँचा। वहाँ एक वृक्ष पर वह अपनी कथा साथियों को सुना रहा था। संयोगवश रत्नसेन भी आखेट से लौटकर उसी वृक्ष के नीचे रुके। पक्षी की बात सुनकर उसे बुलाया, संदेश पूछा। सुनकर उनका दिल भर आया। पक्षी तो संदेश देकर उड़ गया। रत्नसेन ने लौटकर गन्धर्वसेन से विदा के लिये प्रार्थना की।

निदान असंख्य द्रव्य के साथ शुभ मुहूर्त में पद्मावती विदा कर दी गई। समुद्र में आधी ही दूर गये थे कि बड़ी आपत्ति आयी और एक कपटी राक्षस के चकमे में आकर भँवर में पड़ गये। राजा-रानी अलग अलग लकड़ी के तख्तों पर बैठे बह गये। पद्मावती

बहती हुई ऐसे स्थान पर जा लगी जहाँ समुद्र की पुत्री लक्ष्मी खेल रही थी। लक्ष्मी ने उसे किनारे मँगा लिया और उसका उपचार किया। उसकी कथा सुनकर अपने पिता द्वारा राजा की भी खोज कराई। इस प्रकार राजा-रानी फिर से मिले। समुद्र की कृपा से उनके समस्त साथी और सम्पूर्ण द्रव्य भी प्राप्त हो गये। समुद्र ने उनका बड़ा सत्कार किया और विदा होते समय पाँच अमूल्य नग भी भेंट किये।

इस प्रकार राजा रत्नसेन जगन्नाथ होते हुए चित्तौड़ लौटे। प्रजा प्रसन्न हो गई। नागमती को सपत्नी से ईर्ष्या हुई। उसको दूसरे महल में टिकाया गया। राजा ने दान पुण्य किया। रात्रि को नागमती से भेंट की। नागमती की प्रसन्नता पद्मावती को सह्य न हो सकी। एक दिन सपत्नियों में गुत्थमगुत्था हो गई। रत्नसेन ने पहुँचकर समझाया और दोनों को सन्तुष्ट किया। नागमती के नागसेन और पद्मावती के पद्मसेन नाम के पुत्र हुये। सब प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे।

एक दिन राजा ने दरबार में पंडितों से पूछा कि द्वितीया कब है। राघव नाम के पंडित के मुख से निकल गया कि 'आज'। अन्य पंडितों ने उसके विरुद्ध उत्तर दिया कि 'कल'। राघव अपनी बात पर अड़ गया और यक्षिणी-पूजा के बल से उस दिन संध्या को द्वितीया का चन्द्रमा आकाश में दिखला दिया, किन्तु दूसरे दिन को जब दूज का चांद फिर दिखलाई दिया तो उसका कपटाचार प्रमाणित हो गया। राजा ने उसे देश निकाले का दण्ड दिया। पद्मावती ने उस पंडित को शान्त करने के विचार से अपना कंकण झरोखे में से उसको प्रदान कर दिया। राघव चेतन उसके सौन्दर्य पर रीझ गया। वह सुधि-बुधि खो बैठा। सखियों के उपचार से उसे चेतना प्राप्त हुई।

राघव चेतन प्रतिशोध के लिये दिल्ली पहुँचा। पद्मिनी के सौन्दर्य का वर्णन कर अलाउद्दीन को चित्तौड़ पर आक्रमण करने का निमंत्रण दिया। बादशाह ने उसका सत्कार किया। उसने रत्नसेन को पत्र लिखकर पद्मिनी की माँग की। राजा पत्र पढ़कर क्रोधित हो गया। दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। बादशाह ने आक्रमण किया। बड़ा घमासान युद्ध हुआ। अन्त में बादशाह ने सन्धि का प्रस्ताव भेजा। इसमें समुद्र से प्राप्त पांच नग मांगे गये और चंदेरी अपनी ओर से देने की प्रतिज्ञा बादशाह ने की।

रत्नसेन ने शर्त्त मान ली। सन्धि हो गई और युद्ध समाप्त हुआ। बादशाह को भोज दिया गया। उसने चित्तौड़ का किला देखा और शतरंज खेलते समय दर्पण में पद्मिनी का प्रतिबिम्ब भी देख लिया।

जब राजा अलाउद्दीन को पहुँचाने गढ़ से बाहर तक आया, तो वह बन्दी बना लिया गया और दिल्ली को रवाना कर दिया गया। दोनों रानियाँ विलाप करने लगीं। कुंभलनेर के राजा देवपाल ने एक दूती द्वारा पद्मावती को फुसलाकर अपने अधिकार में लेना चाहा। परन्तु भेद खुल गया, दूती पिटवाकर निकाल दी गई। बादशाह ने भी एक वेश्या को दूती बनाकर पद्मावती को फुसलाने के लिये भेजा। परन्तु यह प्रयत्न भी असफल रहा।

अन्त में पद्मिनी गोरा-बादल के यहाँ पहुँची, अपना दुखड़ा रोया। उन दोनों को दया आ गई और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। बादल की नवागता बधू ने उसका मार्ग रोका, माता ने भी अश्रु बहाये परन्तु वह राजपूत युवक विचलित न हुआ। सोलह सौ पालकियों में सशस्त्र राजपूत बैठे। पद्मावती की पालकी में एक लोहार बैठा। गोरा-बादल सवार होकर साथ चले और प्रसिद्ध करा दिया कि रानी अलाउद्दीन के पास जा रही है। दिल्ली पहुँचकर गोरा बादल ने अलाउद्दीन से प्रार्थना की कि पद्मिनी पति से अन्तिम बार मिलकर गढ़ की कुंजियाँ सौंपना चाहती है आज्ञा मिल गई। लोहार ने तत्काल रत्नसेन को बन्धन-मुक्त कर दिया।

रत्नसेन के छूटते ही राजपूत पालकियों में से निकल पड़े बड़ा घमासान युद्ध हुआ। गोरा उस युद्ध में मारा गया। परन्तु रत्नसेन चित्तौड़ गढ़ पहुँच गया। उसने पद्मिनी से देवपाल की करतूत सुनी और प्रातःकाल ही देवपाल पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में रत्नसेन को घातक चोट लगी। अस्तु चित्तौड़ का किला बादल को सौंपकर रत्नसेन स्वर्गवासी हुआ। दोनों रानियाँ सती हो गईं। तत्पश्चात ही अलाउद्दीन का पुनः आक्रमण हुआ। समस्त नारियाँ जौहर कर जल गईं और पुरुष वैरियों से युद्ध करते खेत रहे। इस प्रकार चित्तौड़ पर मुस्लिम आधिपत्य हो गया।

कथानक का विवेचन

उपर्युक्त कथानक पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करने पर विदित होता है कि रत्नसेन का पद्मावती को ब्याह लाने तक की

कथा में रत्नसेन और पद्मावती के नाम मात्र के अतिरिक्त सारा कथानक अनैतिहासिक—अर्थात् कल्पित है। परन्तु उत्तरार्द्ध की कथा एक सबल ऐतिहासिक घटना है। अस्तु इस कथानक के इन दोनों अंशों पर अलग-अलग विचार करना ही अधिक समीचीन होगा।

पूर्वार्द्ध अर्थात् कल्पितांश

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में चित्तौड़ अग्रणी रहा है। वहाँ के रावलों[1] में रत्नसिंह (रतन सी, जिसे फारसी लिपि सरलता से रत्नसेन बना सकती है) का स्थान भी प्रसिद्ध है। परन्तु यह रावल रत्नसिंह रावल समरसिंह के पुत्र थे न कि चित्रसेन के। अस्तु स्पष्ट है कि कवि ने नायक के पिता का नाम भी सही न देकर मानो इस अंश को कल्पित ही बने रहने देने का आग्रह किया है।

हीरामन सूए की कहानियां अवध में ही नहीं, ब्रज में भी अर्थात् समस्त ब्रज-कौशल प्रान्त के गाँव-गाँव में अभी तक शीतकाल की रात्रि के प्रथम पहर में 'अलाव' के चारों ओर बैठे हुए युवक और प्रौढ़ व्यक्तियों के मुख से तथा बालक-बालिकाओं से घिरी वृद्धाओं के भी मुख से सुनाई देती हैं। जायसी ने इसी सुनी हुई कहानी को सामयिक उपकरणों से रंजित कर सजा दिया है। अस्तु मध्य युगीन इतिहास के पन्ने उलटकर सिंहल में गन्धर्वसेन राजा का समय खोजना, चित्तोड़ के रावलों में चित्रसेन की खोज लगाना, किंवा रत्नसेन के सिंहल-गवन तथा पद्मिनी-पाणिग्रहण का समय निर्धारित करने का प्रयत्न करना मृग-तृष्णा मात्र प्रमाणित होगी। सिंहल से सिंगोली की ओर संकेत वाला ओझा जी का अनुमान हमको अमान्य नहीं है,[2] किन्तु हमारा अनुरोध तो यह है कि इन व्यर्थ के झमेलों से प्रस्तुत काव्य पर और अधिक प्रकाश पड़ने की आशा नहीं है। और

१—म० म० गौरी शंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, चतुर्थ खण्ड, पृ० १३७……"चित्तौड़ के रावल रणसिंह (कर्णसिंह) के तीन पुत्र थे—क्षेमसिंह, माहप, राहप। क्षेमसिंह अपने पिता रणसिंह का उत्तराधिकारी हुआ और माहप को सीसोदे की जागीर मिली जिसका विस्तार केलवाड़े तक था। मेवाड़ के स्वामी रावल और सीसोदे के सरदार राणा कहलाते रहे।"

२—म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : पद्मावत का सिंहल द्वीप, नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३ सं० १९८९, पृ० १६।

यदि कोई आग्रह ही करे तो फिर चित्रसेन भी रावल समरसिंह का उपनाम प्रमाणित करना पड़ेगा।

सारांश यह है कि 'किसी पक्षी—विशेषतया शुक द्वारा किसी सुन्दरी राजकुमारी का नख-सिख सुनकर किसी राजकुमार का उसको प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होना, और अन्त में सफल हो जाना' एक अति साधारण लोक-प्रिय कथानक है पक्षियों द्वारा सुन्दर राजकुमार और राजकुमारियों के विवाहोद्योग में पड़ना अतीत काल से सुनी हुई परम्परा है। यथा, राजहंस द्वारा नल-दमयन्ती संयोग जुटाना। इस साधारण कथानक को कवि, वक्ता आदि अपनी-अपनी रुचि, योग्यता, समय आदि के अनुसार मनोरम और आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते आये हैं। जायसी ने भी इस ढांचे में स्वान्तः सुखाय प्रेम-साधना की लोच, लोकरंजनार्थ विशद विवेचन, प्रगल्भता पांडित्य-प्रदर्शन, शब्द-खिलवाड़ आदि के आभरण, लोक-कल्याणार्थ सामंजस्य- सद्भावों की छवि, एवं वास्तविकता प्रदान करने के लिये ऐतिहासिक व्यक्तियों, स्थानों एवम् घटनाओं का निर्देश कर एक जाता जागता मनोरम चित्र उपस्थित कर दिया है।

सिंहल की कल्पना

सिंहल में पद्मिनियों की कल्पना गोरखपंथी योगियों की देन है। महायानी बौद्धों में धान्यकटक और श्री पर्वत सिद्धपीठ माने गये थे। वहाँ जाकर ही किसी को पूर्ण सफलता प्राप्त होती थी। ऐसा उनका विचार था।[१] जब वज्रयान का जोर हुआ तो श्री पर्वत का नाम वज्र पर्वत प्रसिद्ध हो गया। यह स्थान दक्षिण में मद्रास प्रान्तान्तर्गत है। गोरख-पंथ भी मूलतः महायान का ईश्वरवादी संशोधित संस्करण है। इन गोरखपंथियों में भी दक्षिण का महात्म्य बना रहा परन्तु श्री पर्वत, धान्यकटक, वज्रपर्वत, आदि का स्थान सिंहल द्वीप ने ले लिया। अस्तु सिंहल में जाकर अपने प्रेम, ब्रह्मचर्य आदि की परीक्षा में उत्तीर्ण होना सिद्ध योगी के लिये अनिवार्य हो गया। वहाँ पर साक्षात् शिव परीक्षा लेकर सिद्धि-गुटिका प्रदान करते हैं—ऐसा इन योगियों का विश्वास है। प्रवाद है कि गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ इस परीक्षा में उत्तीर्ण न हुए और पद्मिनियों के जाल में फँसकर कुएँ में बन्दी बना दिये गये। कुछ

१—राहुल सांकृत्यायन : पुरातत्व-निबंधावली, पृ० १२९।

समय के उपरान्त गोरखनाथ जी भी वहाँ गये। संयोगवश वे उसी कुएँ के पास से निकले। गुरु की आवाज पहचानकर उन्होंने उनको ललकारा, "जाग मछन्दर गोरख आया"। शिष्य के संकेत से उनको ज्ञान हुआ। इस प्रकार शिष्य द्वारा गुरु का उद्धार हुआ।

इस मुख्य घटना के अतिरिक्त पद्मावती का पूजा के मिस प्रेमी से मिलना, चंदनाक्षरों में संदेश अंकित करना, गौरा-पारवती[1] की प्रार्थना पर शिवजी का माहात्म्य प्रदान, पक्षी द्वारा संदेश पाना, समुद्र में जहाज टूटना, लकड़ी के अलग-अलग तख्तों पर बहना, लक्ष्मी का खटपाटी लेकर अपने पिता से राजा की खोज कराना, जगन्नाथ में पहुँचकर सम्पूर्ण द्रव्य का समाप्त हो जाना, सपत्नी-पद्मावती का अन्य मन्दिर में टिकाना, सपत्नियों—काली एवम् गोरी[2] में गुत्थमगुत्था होना, तथा दोनों के एक-एक पुत्र का जन्म लेना, आदि इस कथा में ऐसी घटनाएँ हैं जो प्रचलित लोक कहानियों में थोड़े से हेरफेर के साथ सर्वत्र समान रूप से पाई जाती हैं। 'लंका छाँड़ि पलका पड़ा"[3]-पद भी व्रजमण्डल में सर्वजनीन है और लगभग ७५ प्रतिशत कहानियों में सम्मिलित रहता है।

किन्तु इस कथानक में कुछ घटनाएँ कवि कल्पना-प्रसूत भी हैं। समुद्र एवम् समुद्र-यात्रा के विवरण जायसी के अपने हैं। शिव

१—इन लोक-कहानियों में शिव की सहगामिनी का नाम 'गौरा-पारवती कहा जाता है जिसका ठीक वैसा ही प्रयोग जायसी ने किया है—

चंवर घंट औ डमरू हाथा। गौरा पारवती धनि साथा॥ (६०)

२—इन कहानियों में सपत्नियों में प्राय: एक काली (साँवली) और दूसरो गोरी कही जाती है। दोनों जादू में निपुण होती हैं और लड़ने में प्राय: जादू का प्रयोग करती हैं। एक कहानी में गुरु द्वारा प्रेमी को दोनों सपत्नियों को मार डालने का निर्देश पाया जाता है—

"काली भली न सेत। दोनों मारौ एकै खेत"॥

३—इन कहानियों में 'पलंका' से निर्देश प्राय: लंका से परे किसी सुदूर स्थान का होता है। पद्मावत् में श्लेष द्वारा 'पलंग' भी होता है।

प्रो० कानूनगो का अनुमान कि यह शब्द अरबी 'फ़लक' (आकाश-स्तर) का अपभ्रंश है बुरा तो नहीं है, किन्तु कहानी परम्परा से ठीक मेल नहीं खाता है। देखिये अक्तूबर सन् १९४६ की माडर्न रिव्यू में प्रो० कानूनगो का लेख, पद्मावती, पृ० ३००।

के अतिरिक्त पार्वती द्वारा रत्नसेन के प्रेम की परीक्षा बड़ी सुन्दर योजना है जिसके अनुसरण का लोभ गोस्वामी तुलसीदास जी भी अपने 'रामचरितमानस' में संवरण न कर सके लक्ष्मी द्वारा इसकी पुनावृत्ति की विशेष आवश्यकता तो न थी, किन्तु लक्ष्मी के स्वभाव-चांचल्य के अनुरूप ही है। बिदाई के समय समुद्र द्वारा पांच अमूल्य पदार्थों के प्रदान किये जाने का बड़ा सुन्दर उपयोग किया गया है जिसकी विशेष चर्चा अगले पृष्ठों में मिलेगी।

सारांश यह है कि यद्यपि इस भाग में मौलिकांश विशेष नहीं है, तथापि उसके समस्त अवयवों का सुचारु संगठन और उसकी सजावट में कुछ ऐसा मनोरम आकर्षण है कि समस्त कथानक एकदम नवीन और मौलिक प्रतीत होने लगता है।

उत्तरार्द्ध अर्थात् ऐतिहासिक अंश

इस खण्ड की मुख्य घटना—बादशाह अलाउद्दीन का चित्तौड़ पर आक्रमण, राजपूतों का विजय की आशा छोड़ जौहर करना तथा चित्तौड़ पर मुस्लिम आधिपत्य स्थापन—है। यह घटना एक निर्विवाद इतिहासानुमोदित तथ्य है जिसका साक्ष्य सम सामयिक तथा बाद के विवरणों में प्रचुर परिमाण में प्राप्त है। परन्तु इस घटना के विवरणों के विषय में सर्वथा मतैक्य नहीं है। अस्तु कवि द्वारा कल्पित विवरणों पर विचार करने से पूर्व इन विवाद ग्रस्त अंशों पर एक दृष्टि डालना ही उचित प्रतीत होता है।

चित्तौड़ के अधिपति का नाम

जायसी ने चित्तौड़ाधिपति का नाम रत्नसेन (रत्न सी किंवा रत्नसिंह) दिया है। अबुल फ़ज़ल ने 'आईने अकबरी' में यही नाम दिया है। फरिश्ता में भी यही नाम मिलता है।[1] तथा नैनसी के ख्यातों में और जटमल की 'गोरा-बादल की बात' में भी यही नाम है। केवल टाड ने अपने राजस्थान में रत्नसिंह के स्थान पर भीमसी नाम दिया है जो अशुद्ध प्रतीत होता है।[2]

१—फरिश्ता के लखनऊ पाठ, पृ० ११५ पर पद्मिनी को राजा की पुत्री लिखा है जो निश्चय ही राजकुमारी का अशुद्ध अनुवाद है। विवाहिता नवयुवतियों के लिये भी राजकुमारी का शब्द प्रयुक्त होता था—यथा, "राजकुमारि सिखावन सुनहू" राम०, अयो०काण्ड।

राजकुमारी शब्द लगभग अँगरेजी Princess का वाच्य है।

२—डा० ईश्वरी प्रसाद : मेडीकल इंडिया, पृ० १९६।

चित्तौड़ का घेरा

जायसी ने अलाउद्दीन द्वारा ८ वर्ष तक घेरा डालने का वर्णन किया है[1] और जटमल ने इस घेरे की अवधि १२ वर्ष कही है।[2] इन लम्बी अवधियों का काव्य में चाहे जितना समीचीन उपयोग हुआ हो, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ये नितान्त अशुद्ध हैं। शिला-लेखों के विस्तृत परिशीलन के उपरान्त श्री ओझा जी का सर्वमान्य निश्चय है कि रत्नसिंह का राजत्व काल एक वर्ष से अधिक कदापि नहीं हो सकता।[3] दूसरे अमीर खुसरो ने जो इस लड़ाई में सुल्तान के साथ था, चित्तौड़-आक्रमण के लिए प्रस्थान-तिथि ८ वीं जमादि उस्मानी सन् ७०२ हि० (२८ जनवरी १३०३ ई०) और चित्तौड़ विजय की तिथि ११ वीं मुहर्रम ७०३ हि० (२६ अगस्त १३०३ ई०) लिखी है। इस प्रकार इस घेरे की अवधि लगभग ६ मास ठहरती है, क्योंकि कुछ समय दिल्ली से चित्तौड़ तक पहुँचने के लिये भी चाहिए।

आक्रमण का कारण

इस विषय में समकालीन सामग्री का मौनावलम्बन वशेष विवाद का कारण हो गया है। हम यह मानते हैं कि किसी आक्रमण का कारण कोरी विजय-लालसा भी हो सकती है, किन्तु प्रायः उसके लिए भी कोई नाम-मात्र का बहाना अवश्य पकड़ लिया जाता है। जायसी ने स्पष्ट ही इसका कारण सौन्दर्य-लोलुप अलाउद्दीन की उस परम सुन्दरी पद्मिनी को हस्तगत करने की उत्कट लालसा बतलाई है। समकालीन इतिहासकारों का इस विषय में मौन रहना राज-कोप के अतिरिक्त किस कारण है, समझ में नहीं आता। किन्तु बाद के समस्त इतिहास-लेखकों ने जायसी का अनुमोदन किया है।

अब इस समस्या पर दूसरे प्रकार से विचार करना चाहिए। क्या सुल्तान अलाउद्दीन के चरित्र में ऐसी गर्हित लोलुपता थी? अस्तु जब हम देखते हैं कि गुजरात-विजय (१२९७ ई०) में वहाँ के राजा कर्ण की रानी भी प्राप्त कर दिल्ली सुल्तान के हरम

१—आठ बरस गढ़ छेका रहा। धनि सुलतान कि राजा महा॥ (२३७)

२—म० म० गौरीशंकर (हीराचन्द ओझा : कवि जटमल रचित गोरा बादल की बात, ना० प्र० प० भाग १३, सं० ८९, पृ० ९९)।

३—वही, पद्मावत का सिंहल द्वीप, पृ० १५ :

में सम्मिलित की गई थी और फिर राजकुमार शंकर की पत्नी देवलदेवी को हस्तगत करने के अभिप्राय से दे गिरी पर द्वितीय आक्रमण किया गया था और वह दिल्ली लाकर खिज्रखाँ के साथ ब्याह दी गई थी, तब परम सुन्दरी पद्मिनी को हस्तगत करने के लिये अलाउद्दीन का प्रयत्नशील होना किंचित आश्चर्यजनक नहीं प्रतीत होता, वरन सत्य घटना समझ पड़ती है।

अन्य-प्रसङ्ग

इनके अतिरिक्त अलाउद्दीन का छल करना जो उसकी प्रकृति के अनुरूप था, "शठे शाठ्यम् समाचरेत्" वाली नीति का अनुसरण कर राजदूतों का छल से रत्नसेन को बंधन-मुक्त करना, गोरा-बादल[1] का वीरत्व-प्रदर्शन तथा जौहर-घटना इतिहासानुमोदित हैं। परन्तु राघव चेतन का पार्ट, देवपाल तथा अलाउद्दीन की दूतियों की करतूत, रत्नसेन का दिल्ली में बन्दी रखना तथा रत्नसेन देवपाल युद्ध में रत्नसिंह को घातक चोट लगाना, कवि द्वारा कल्पित अंश हैं जिनसे काव्य की सौन्दर्य वृद्धि होती है जिसका विवेचन अगले पृष्ठों में मिलेगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कवि ने कथा-परम्परा के एक सर्वजनीन साधारण कथानक में ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं की सुन्दर योजना कर, अपनी कल्पना, अनुभवों, सद्भावों, आदि से सजाकर एक अति उत्तम, अनूठा काव्य-रत्न हिन्दी-शिशु को भेंट किया था।

प्रेरणा किंवा लक्ष्य

साधारण पाठक जब पहली बार आरम्भ से अन्त तक पद्मावत काव्य को पढ़ता है तो उसके हृदय में केवल यही धारणा दृढ़तर होती जाती है कि काव्यकार ने पद्मावती को वीरगाथा काल

१—श्री ओझा जी का अनुमान है कि गोरा वंशमूलक उपाधि है और बादल नाम हैं। वस्तुतः गोरा बादल एक व्यक्ति था। इस अनुमान का आधार 'गोर' वंश का पाया जाना है। किन्तु जब तक कोई अन्य सबल प्रमाण उपलब्ध न हो जाय कि गोरा बादल एक ही व्यक्ति था, हम केवल अनुमान को विशेष महत्व देना अधिक संगत नहीं समझते।

देखिए म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का लेख गोर नामक अज्ञात क्षत्रिय वंश, ना० प्र० पत्रिका, भाग १३ सं० ८९, पृ० ७११।

की नायिकाओं के साँचे में उन सबसे श्रेष्ठ बनाने के लिये अपने वर्णन को इतना सजीव तथा इतना अलंकृत किया है। वस्तुतः अत्युक्ति, उत्प्रेक्षा तथा रूपक उसी कल्पना की उड़ान के सूचक हैं। नख-शिख वर्णन तथा स्त्री-भेद वर्णन भी इसी बात के सबल प्रमाण है और राजा-गढ़-छेका-खण्ड तथा राजा-बादशाह-युद्ध-खण्ड भी इसी ओर लक्ष्य करते हैं कि वीरगाथा काल की चलती हुई परम्परा में ही जायसी के इस काव्य को रखना चाहिए। वही शृङ्गार तथा वीर रस का मिश्रण, वही त्रैलोक्य सुन्दरी रमणी की कल्पना और वही युद्ध का कारण, वैभव तथा विलास—सब कुछ उसी पुरानी शैली का है।

किन्तु उपसंहार के पढ़ने से पहले जो हम लोग 'पंडितन्ह' की भांति 'हम किछु और न सूझा' कह रहे थे, एक दम चौंक से पड़ते हैं:—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंहल बुधि पदिमिन चीन्हा॥
गुरु सूआ जेइ पंथ दिखावा। बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोइ न एहि चित बांधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुल्तानू॥
·········प्रेम कथा एहि भांति विचारहु॥ (३०८)

इत्यादि लिखकर कवि ने आग्रह किया है कि इस प्रेम-कथा का एक आध्यात्मिक अर्थ भी है और उसी को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। किन्तु आगे कवि ने स्वयम् "कोइ न रहा, जग रही कहानी" लिखकर मानो स्पष्ट स्वीकार किया है कि वह स्वयं भी इस गाथा के कहानी पक्ष—सांसारिक पक्ष, पर ही अधिक बल देता है और दूसरा पक्ष—आध्यात्मिक पक्ष, केवल विचारने ही की वस्तु है—वास्तविक नहीं।

अस्तु, इस सम्पूर्ण कथा में सांसारिक अर्थ प्रधान है अथवा आध्यात्मिक—इस समस्या को लेकर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। यदि सांसारिक पक्ष ही प्रधान माना जाय तो स्थान-स्थान पर जो संकेत कवि ने उस परम सत्ता की ओर किये हैं वे अलंकार की सामग्री ही माने जावेंगे और यदि आध्यात्मिक पक्ष की प्रधानता

मानी जाय, तो सारा काव्य एक प्रकार की अन्योक्ति की श्रेणी में आवेगा। अतएव इसी समस्या पर विचार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्योक्ति का लक्षण

अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा का लक्षण विश्वनाथ ने इस प्रकार लिखा है—

क्वचिद् विशेषः सामान्यात्, सामान्य वा विशेषतः।
कार्यान् निमित्तं कार्यञ्च हेतोरथ समात् समम्।
अप्रस्तुतात् प्रस्तुत चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुत प्रशंसा स्यात्································॥७७॥

—साहित्य दर्पण।

सम्पूर्ण लक्षण का सार यह है कि 'अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद गम्यते', अर्थात् अप्रस्तुत (विषय) के वर्णन द्वारा प्रस्तुत (विषयी) का बोध हो; कवि जिसका वर्णन करना चाहता है उसका बोध अन्य के द्वारा हो। कवि की वर्णनाभीष्ट वस्तु सीधी काव्य का विषय न बने। महाराज जयसिंह के लिये लिखे हुये इस प्रसिद्ध दोहे में—

नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकाश इहि काल।
अली कली ही सों विंध्यो, आगे कौन हवाल॥

कवि अस्फुट-पराग-कली पर आसक्त भ्रमर के कथन द्वारा मुग्धा नायिका पर आसक्त जयसिंह की दशा पर खेद प्रकट कर रहा है।

अतः यह स्पष्ट है कि अन्योक्ति काव्य में कवि स्वयम् जो कुछ लिखता है वह उसका अभीष्ट नहीं होता, प्रत्युत वह किसी अन्य प्रस्तुत के वर्णन का एक सशक्त साधन-मात्र ही होता है—कवि का वर्ण्य केवल इंगित का ही विषय रहता है और समझने वाले ही उसे बड़े विस्मय के साथ समझ सकते हैं।

क्या पद्मावत अन्योक्ति है?

यदि हम सम्पूर्ण पदमावत को एक अन्योक्ति ही मानें तो रत्नसेन तथा पदमावती की सारी प्रेमगाथा जीवात्मा और परमात्मा के सूक्ष्म प्रेम का स्थूल रूप ही मानी जावेगी; पद्मावती का सारा अत्युक्ति पूर्ण सौन्दर्य विराट ब्रह्म का वास्तविक रूप माना जावेगा।

सिंहलद्वीप साक्षात् स्वर्ग ही रहेगा। इस प्रकार हमको इस स्थूल कथा में उस सूक्ष्म-प्रेम का आभास मिल सकता है और हम लोग भी "हम किछु और न सूझा" न कहकर इस प्रेम-कथा को "इहि भांति विचार" सकते हैं। किन्तु इस 'विचारने' में अनेक कठिनाइयाँ भी हैं।

यदि कथा में वर्णित स्थलों और पात्रों को ध्यान से देखा जावे तो कवि के आदेशानुसार हम तन को चित्तौड़, मन को राजा, हिय को सिंहल, बुद्धि को पद्मिनी, गुरु को सूआ, नागमती को दुनिया-धन्धा, राघव को शैतान और अलाउद्दीन को माया मान सकते हैं। किन्तु गंधर्वसेन, चम्पावती, चित्रसेन बनिजारा, गजपति, लक्ष्मी, नागसेन, पद्मसेन, देवपाल, गोरा, बादल इत्यादि को क्या माना जा सकता है ? कहने की आवश्यकता नहीं कि कुछ विशेष-विशेष पात्रों का तो दूसरा अर्थ कवि ने दे भी दिया है किन्तु शेष आधे से अधिक पात्र ऐसे हैं जिनका दूसरा अर्थ कोई नवीन सूफी पंडित भले ही हठ-योग की पुस्तकों को पलट कर लगा ले किन्तु स्वयम् जायसी ने इस पर 'विचारना' मानो अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। यहाँ पर हमको उन पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान आ जाता है जो राम, सीता आदि दो एक पात्र के विषय में 'विचार कर' रामायण की सारी कथा को प्राकृतिक शक्तियों का रूपक (allegory) मात्र समझा करते हैं।

गम्भीर अध्ययन के पश्चात् हमारे सामने कुछ अन्य कठिनाइयाँ भी आती हैं। कुछ ऐसे स्थल स्पष्टतः हमारे देखने में आते हैं जिनका या तो आध्यात्मिक पक्ष में कोई अर्थ लगता ही नहीं और यदि लगाया ही जावे तो अनर्थ हो जाता है। पद्मावती का ससुराल जाना एक ऐसी ही घटना है—

ऐ रानी मन देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी ॥
जौ लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलहु आजू ॥ (२७)

इसी प्रकार पद्मावती-रत्नसेन-भेंट के अवसर पर भी पद्मावती का संकोच अध्यात्म-पक्ष में भार-मात्र ही जान पड़ता है—

अनचिन्ह पिउ काँपौं मन मांहा। का मैं कहब, गहब जौ बाँहा ॥ (१३२)

स्त्री-भेद-वर्णन में आध्यात्मिकता की गंध भी नहीं है।

पद्मावती तथा रत्नसेन का जहाँ भी प्रसंग एक साथ आया है, पाठक की धारणा यही होती है कि कवि एक हिन्दू गृहिणी और

उसके पति-मिलाप का वर्णन कर रहा है और यदि उसे आध्यात्मिक पक्ष में घटाना अभीष्ट ही जान पड़े, तो वह रत्नसेन को ईश्वर और पद्मावती को जीवात्मा मानेगा। इस प्रकार पाठक का विचार कवि के ठीक विरुद्ध पड़ता है। अन्त में बंधन-मुक्त राजा से रानी के ये विचार कितने स्वाभाविक हैं—

> आस तुम्हारि मिलन कै, तब सो रहा जिउ पेट।
> नाहि त होत निरास जौ, कित जीवन कित भेंट ॥ (२६६)

सती होते समय भी पद्मावती ने अपने सतीत्व की रक्षा करते हुए जिस आदर्श का निर्वाह किया है वही आदर्श भगवती सीता[1] का भी था—

> जियत कंत तुम्ह हम गर लाई। मुए कंठ नहिं छोड़हि साईं ॥

तथा—

> यह जग काह जो अथहि न आथी। हम तुम नाह दुहू जग साथी ॥
> (३००)

इस प्रकार स्पष्ट है कि यद्यपि पद्मावत की कथा में आध्यात्मिक संकेत मानने में तो कोई अड़चन नहीं दिखलाई पड़ती, किन्तु सारे ग्रन्थ को उस परम सत्ता का ही वर्णन मानना एक भारी भूल ही नहीं, प्रत्युत सत्य एवम् काव्य के प्रति अत्याचार है। अस्तु काव्यकार का तादृश निर्देश होने पर भी हम 'पद्मावत' को एक अन्योक्ति नहीं मान सकते।[2]

क्या पद्मावत समासोक्ति है ?

अब प्रश्न यह है कि यदि इस काव्य में आध्यात्मिक अर्थ प्रधान नहीं तो क्या लौकिक अर्थ ही वर्ण्य है। यदि समस्त काव्य को एक कथा-मात्र मानें तो उसमें भी अनेक ऐसी कठिनाइयाँ हैं जो स्थान स्थान पर हमको चौंका देती हैं। पद्मावती के रूप सौन्दर्य को सुनकर

१—इह लोके तु पितृभिर्या नारी यस्य महाबल।

२—ए० जी० शिरेफ द्वारा अनुवादित अंग्रेजी पद्मावती, भूमिका, पृ० ८— "I doubt very much whether he (the poet) had any definite allegory present to his mind through out; the key which he gives us in the first stanza of the Envoy does not by any means fit the lock."

मूर्छित हो जाना राजा की रूप-लिप्सा ही सूचित करेगा, किन्तु आध्यात्मिक पक्ष में यह गुरु के उपदेश से शिष्य को ज्ञानोदय है। जोगी खंड का सारा वर्णन क्षत्रियोचित कर्म के विपरीत आदर्श ही उपस्थित करता है। लौकिक पक्ष में—

जोगिन्ह कहा भोग सों काजू। चहै न धन धरती औ राजू ॥ (५५)
का अर्थ भी कथा का सहायक नहीं माना जा सकता।

इसी प्रकार खींचतान करने पर एक दो बात ऐसी भी मिल सकती हैं जो लौकिक पक्ष में ठीक न उतरें, किन्तु ऐसी बातों को अलंकारों की सहायता से देखा जावे, तो कोई कठिनाई नहीं दिखलाई पड़ती। सिंहल द्वीप के वर्णन में—

पथिक जो पहुँचे सहि के घामू। दुख बिसरै, सुख होइ बिसरामू ॥
जेहि यह पाई छांह अनूपा। फिरि नहि आइ सहै यह धूपा ॥११॥
से केवल उस स्थान की शीतलता और सुखकारिता की ओर ही संकेत माना जावेगा। तथा सिंहलगढ़ के वर्णन में भी—

गढ़ तस बांक जैसि तोरि काया। पुरुष देखि ओही कै छाया ॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेहि पावा तेइ आपुहि चीन्हे ॥६३॥
महादेव जी रत्नसेन को उस गढ़ का वर्णन कर उसमें गुप्त द्वार द्वारा प्रवेश की विधि बतला रहे हैं ऐसा अर्थ ठीक है।

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देख हंस भा, दसन जोति नग हीर ॥२५॥

में हेतूत्प्रेक्षा द्वारा अत्युक्ति पूर्ण वर्णन ही कवि का अभीष्ट है। तथा,

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि सस नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥४४॥

इस वर्णन में कवि ने पद्मावती की दन्त-छवि को इतना अधिक सुन्दर बना दिया है कि पाठक उसकी कल्पना पर इतना मुग्ध हो जाता है जितना कि बिहारी के इस दोहे पर—

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यो ही रहति, आनन ओप उजास ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जायसी के इस काव्य में लौकिक पक्ष ही सब कुछ है, आध्यात्मिक पक्ष नहीं। हां, यत्र तत्र अध्यात्मिक पक्ष की ओर अवश्य ही कवि का संकेत है जो समासोक्ति के अन्तगत रखा

जावेगा। समासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन करते हुये अप्रस्तुत की ओर संकेत भर होता है[1]।

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "इस प्रकार वाच्यार्थ के प्रस्तुत और व्यंग्यार्थ के अप्रस्तुत होने से ऐसी जगह सर्वत्र समासोक्ति ही माननी चाहिये। पद्मावत के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं हैं। केवल बीच बीच में कहीं-कहीं दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है।[2]

इसमें संदेह नहीं कि बीच-बीच में जैसे कि सिंहलद्वीप के या गढ़ के वर्णन में, विदा के अवसर पर, नखशिख तथा इसी प्रकार के वर्णनों में कवि का ध्यान तुरन्त ही दूसरे पक्ष की ओर पहुँच जाता है, किन्तु दूसरा पक्ष, भले ही जायसी के हृदय में रहा हो, वर्णन का अंग नहीं। संकेत कहीं केवल शब्दों द्वारा है, कहीं वाक्यों द्वारा, कहीं वर्णनों द्वारा और अन्त में 'उपसंहार' लिखकर सारी कथा के आभास द्वारा।

हम यह प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि जायसी ने उपसंहार में जो रहस्य खोला है वह उसके मस्तिष्क में भले ही रहा हो, उसका उद्देश्य प्रेम-कथा का कहना ही है। हां, वह इस गूढ़ार्थ को विचारने की सम्मति अवश्य पाठकों को देता है, किन्तु यह 'विचारना' कथा की वास्तविकता में कोई वाधा नहीं उपस्थित करता। अतः 'पद्मावत' को हम एक कथात्मक काव्य ही मानेंगे जिसमें समासोक्ति अलंकार का प्रयोग अधिकता से किया गया है।

रचना-काल

जायसी ने पद्मावत का रचना-काल तो अपने ग्रन्थ में अवश्य दिया है, परन्तु उस पंक्ति के पाठ के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद चल पड़ा है। अतः इस विषय पर कुछ विस्तार के साथ विचार करना उचित ही नहीं वरन् आवश्यक प्रतीत होता है। यह विवादास्पद चौपाई स्तुति-खण्ड के अन्तिम सप्तक की प्रथम पंक्ति है—

१—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥१०।७४॥ (साहित्यदर्पण)

२—जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ५५।

सन् नव सै (सत्ताइस) सैंतालीस अहा । कथा अरम्भ बैनकवि कहा ॥(६)

इस पंक्ति में कुछ विद्वान् 'सत्ताइस' पाठ मानते हैं और कुछ की सम्मति में 'सैंतालीस' शुद्ध पाठ है। शायद कहने की आवश्यकता नहीं है कि सत्ताइस मानने वाले भी पहले सैंतालीस के पक्ष में थे[1]। परन्तु आलो उजालो के बंगला अनुवाद (लगभग १६५० ई०) के आधार पर 'सत्ताइस' पाठ मान्य ठहराया गया है। इस पाठ को ग्राह्य मानने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये जाते हैं:—

(१) आलो उजालो का बंगला अनुवाद बहुत प्राचीन है। एक विदेशी (अराकान के राजा किंवा मंत्री) जायसी-भक्त द्वारा यह अनुवाद कराया गया है। अतएव इसका पाठ प्रमाण कोटि में ग्राह्य होना चाहिए।

(२) उपर्युक्त पंक्ति की भूतकालिक क्रिया प्रकट कर रही है कि ग्रन्थ के समाप्त हो जाने पर लिखी गई है।

(३) शाहे-वक्त के वर्णन "सेरसाह देहली सुलतानू।" से "सन् नव सै सैंतालीस" तक पर्याप्त अंतर है। इस तिथि का सम्बन्ध "शाहे वक्त" से नहीं वरन् कथा के आरम्भ से है।

(४) अखरावट का रचना-काल किसी भी दृष्टि से सं० १५७५ वि० (सन् १५१८ ई०) के अनन्तर नहीं जा सकता। यदि हम पद्मावत की प्रारम्भ तिथि ९४७ स्वीकार करते हैं, तो २० वर्ष या इससे भी अधिक समय तक जायसी का मौन रहना संगत नहीं जान पड़ता।[2]

(५) एक नया तर्क है कि 'आखिरी कलाम' यानी कवि की आखिरी रचना का समय ९३६ हि० निर्विवाद है। अतः पद्मावत उससे पहले की रचना होनी चाहिए।[3]

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, प्रथम संस्करण (१९२४ ई०) भूमिका, पृष्ठ ६।

२—चन्द्रवली पाण्डेय: पद्मावत की लिपि तथा रचना काल, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, सं० १९८९ वि०, पृ० ४३८।

३—डा० कमल कुल श्रेष्ठ : मलिक मुहम्मद जायसी, भाग १, पृ० २५।

अब हम इन तर्कों को कसौटी पर क्रमशः लगाते हैं: -

प्रथम—बंगला का अनुवाद प्राचीन अवश्य है। यह अनुवाद पर्याप्त सावधानी से किया गया होगा, यह भी हम स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु जिस प्रति[1] से यह अनुवाद किया गया था, उसमें कोई अशुद्धि न थी, इसका कोई प्रमाण तो नहीं है और न अशुद्धि का होना असम्भव ही कहा जा सकता है। अतः यह अनुवाद स्वतः प्रमाण-कोटि में नहीं आ सकता। दूसरे रही अनुवाद की स्वयम् की शुद्धता—अर्थात् कवि के भाव को ज्यों का त्यों स्पष्ट कर देने की क्षमता—सो आलो उजालो की उस पंक्ति के अनुवाद से प्रकट है:—

"शेख मुहम्मद जति जखन रचिल ग्रन्थ संख्या सप्त विंश नव शत"[2] अनुवादकार ने पद्मावत का रचना-काल ही ९२७ मान लिया है और "अरम्भ बैन" वाली बात, जो इस पक्ष के समर्थकों का विशेष आग्रह है, साफ उड़ा दी है। अस्तु हमारा अनुरोध है कि बँगला के एक प्राचीन अनुवाद में यह पाठ पाया जाता है, कह देने मात्र से यह प्रमाण कोटि में ग्राह्य नहीं होना चाहिए।

द्वितीय—यह दूसरा तर्क इस पाठ के समर्थकों में भी मत-भेद उपस्थित करता है। इसी आधार पर डा० कमल कुलश्रेष्ठ का कथन है कि "कथा के आरम्भिक वचन कवि ने कहे थे। बाद में सारा ग्रन्थ लिख डाला गया तो शेरशाह के समय में कवि ने उसकी भूमिका (स्तुति खण्ड) लिखी। उसमें भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करते हुए प्रारम्भ काल दिया और सामयिक राजा के रूप में शेरशाह की प्रशंसा की"।[3] कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि डाक्टर महोदय 'स्तुतिखण्ड' को ग्रन्थ की समाप्ति के उपरान्त

१—विभिन्न प्रतियों में लेखकों की असावधानी से पाठ में अन्तर प्रायः हो जाया करता है। भारत कला भवन, बनारस की कैथी लिपि की पद्मावत की पोथी में पृ० १४ की प्रारम्भिक पंक्ति पर यह चौपाई इस प्रकार है—
'सन् नौ सै छतीस जब रहा। कथा उरेही बैन कवि कहा ॥
सिंघल द्वीप पदुमिनी रानी। रतनसेन चित उर गढ़ आनी ॥'

२—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, तृतीय संस्करण (सं० २००३ वि०), भूमिका पृ० ५ व ६ का फुटनोट।

३—डा० कमल कुलश्रेष्ठ : मलिक मुहम्मद जायसी, भाग १, पृ० २५।

की रचना मानते हैं और कथा की प्रथम पंक्ति "सिंहल दीप कथा अब गावौं," के 'अब' शब्द से दृष्टि चुरा लेते हैं।

पं० चन्द्रबली पांडेय का कथन है, "हम इस सम्पूर्ण खण्ड को ग्रन्थ की इति के उपरान्त की रचना मानने में असमर्थ हैं।... हम तो वंदना--शेरशाह की वंदना—को बाद की रचना मानते हैं"।[1] पाण्डेय जी ने अपने कथन में पर्याप्त सावधानी से काम लिया है, किन्तु हमको यह कथन कुछ भ्रामक प्रतीत होता है। क्या इनका यह तात्पर्य है कि पहले इस ग्रन्थ में इब्राहीम लोदी (६२७ के लगभग उसी का राजत्व काल था) की वंदना शाहे-वक्त के रूप में की गई थी। किन्तु ग्रन्थ-समाप्ति तक भारतीय राजनीति के रंग-मंच पर शेरशाह का आधिपत्य हो जाने से कवि ने पूर्व लिखित वंदना के स्थान पर नवीन शाहे-वक्त की वंदना अधिक उपयुक्त समझी ? अन्यथा, यदि ग्रन्थ पहले ही समाप्त हो चुका था तो शेरशाह की वंदना की क्या आवश्यकता थी ? दूसरे, यदि बिना शाहे-वक्त की वंदना के मसनवी पद्मावत समाप्त हो चुकी थी तो फिर इस वंदना की क्या आवश्यकता थी ? स्वयम् पाण्डेय जी मसनवी के लिये शाहे-वक्त की वन्दना आवश्यक नहीं मानते।

आचार्य शुक्ल जी ने मध्यम-मार्ग वाली नीति का अनुसरण कर निर्णय दिया है कि 'इस दशा में यही संभव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े पद्य तो सन १५२० में ही बनाए थे (स्पष्ट है कि इस कथन के पीछे ६२७ वाला पाठ कार्य कर रहा है) पर ग्रन्थ को १९ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया।'[2]

अब रही भूत कालिक क्रिया वाली बात, सो वह तो कवि ने आखिरी-कलाम के रचना-काल में भी प्रयुक्त की है—

नौ सै बरस छतीस जो भए। तब यह कथा के आखर कहे ॥
(३४३)

परन्तु इसके विषय में कोई वैसा तर्क अभी तक विद्वानों द्वारा नहीं उठाया गया। संभव है कि यदि किसी प्रति में 'छतीस' के

---

१ चन्द्रबली पाण्डेय : पद्मावत की लिपि तथा रचना काल ना० प्र० पत्रिका, भाग १३ सं० १९८९ वि०, पृ० ५६४।

२—शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, तृतीय संस्करण, भूमिका, प ५।

स्थान पर 'छत्तीस' पाठ मिल जाय, तो पद्मावत वाले तर्क फिर से दुहराए जाने लगें।

तृतीय—इस बात से तो सभी विवेचक पूर्णतया सहमत हैं कि इस सन् का सम्बन्ध कथा के प्रारम्भ से है, न कि शेरशाह से। शेरशाह का सम्बन्ध तो सामयिक राजा के रूप में उसकी वन्दना होने से काव्य के रचना-काल से हो जाता है। दूसरे, अपने यहाँ भी मंगलाचरण के पश्चात् ही कथा का प्रारम्भ होता है। मुक्तकों को छोड़ अन्य काव्य-रचना भी सिलसिले से ही होती है। साथ ही प्रारम्भिक पंक्ति का 'अब' शब्द भी बड़े महत्व का है। चन्द्रवली जी की भाँति हम भी डा० कमल कुलश्रेष्ठ के तर्क को अर्थात् 'स्तुतिखण्ड' कथा के उपरान्त लिखा गया है, मानने में असमर्थ हैं ही, वरन् शेरशाह की वन्दना का भाग भी बाद में रचा जाना हम को युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता।

चतुर्थ—अखरावट का रचना-काल कवि ने नहीं दिया है। कवि ने अपने इस ग्रन्थ में कबीर की ओर संकेत अवश्य किया है—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जुलाहे सों मैं हारा॥ (३११)

किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि कबीर उस समय जीवित थे कौन से तर्क के आश्रित है, उसे समझने में हम बार-बार प्रयत्न करने पर भी असमर्थ हैं। इससे तो केवल यही प्रमाणित हो सकता है कि यह रचना कबीर की प्रसिद्धि से पूर्व की नहीं हो सकती, बाद में किसी भी समय का हो सकती है। और यदि थोड़ी देर के लिये उसे ठीक ही मान लें, तो अखरावट का रचना-काल १५७५ वि० से पूर्व (९२५ हि० के लगभग) मानना पड़ेगा। उस दशा में कवि की उक्ति—

भा औतार मोर नव सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी॥ (३४०)

व्यर्थ होगी, क्योंकि ९३० हि० में कवि कविता करने ही न लगा था, प्रत्युत उससे पाँच वर्ष पूर्व वह एक विशद् काव्य का प्रणयन भी कर चुका था। इस प्रकार कवि द्वारा वर्णित जीवन-वृत्त अविश्वसनीय हो जावेगा।

इसी विषय में एक और भी बात विचारणीय है। जायसी ने यदि ९२५ हि० में अखरावट, ९२७ में पद्मावत, तथा ९३६ में

आखिरी-कलाम रचे, तो शेष आयु के १२-१३ वर्ष कवि का मौन रहना असंभव नहीं, तो असंगत अवश्य है। स्मरण रहे कि कवि का निधनकाल सन ६४६ हि० से पूर्व नहीं माना जाता। अस्तु अखरावट का रचना काल जैसा हमने सिद्ध किया है मान्य होना चाहिए।

पंचम—यह तर्क एक साधारण भूल पर आश्रित है। यह भूल इस कारण है कि 'आखिरी-कलाम' का शब्दार्थ ग्रहण कर इस ग्रन्थ को जायसी की अन्तिम कृति मान ली है। इसका निराकरण हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं।

अब 'सैंतालीस' वाले पाठ के पक्ष की कुछ युक्तियों पर भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा—

स्तुति-खण्ड में तो कवि ने शेरशाह का नाम लेकर प्रशंसा की ही है अतः वह कविता उसी के राजत्व-काल की है इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। ध्यान रखने की बात यह है कि विवादास्पद चौपाई इसी खण्ड में है। यदि स्तुति खण्ड शेरशाह के समय में लिखा गया (जैसा कि वस्तुतः है और अधिकतर विद्वान् ऐसा मानते भी हैं) तो यह उलझन वाली पंक्ति २० वर्ष पूर्व क्यों लिखी गई? निस्संदेह किसी ने भूल से सैंतालीस का सत्ताइस[1] पढ़ लिया और यह उलझन अनजाने उत्पन्न हो गई।

पद्मावत के पूर्वार्द्ध में सिंहल-द्वीप वर्णन है जिसमें कवि सामयिक परिस्थितियों का निर्देश कर सकता है। इस वर्णन को ध्यान पूर्वक पढ़ने से ज्ञात होता है कि जायसी ने फलदार वृक्षों के आधिक्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है:—

१—ठीक इसी प्रकार की भूल 'यूसुफ-जुलेखा' के विषय में भी हुई। निसार की प्रेम-कथा—यूसुफ-जुलेखा का रचना-काल इसी ग्रन्थ में १२०५ हि० दिया हुआ है। प्रतिलिपि में सम्वत् १८२५ है। पर हिसाब लगाने पर यह सम्वत् १८४७ होता है। स्पष्ट है कि यहां लिपिकार ने भूल की है। फारसी लिपि में 'सैंतालीस' का 'सत्ताइस' पढ़ा जाना या लिखा जाना दोनों ही सम्भव हैं। जायसी के सम्बन्ध में भी ठीक इसी तरह की भूल हुई है जहां कि ९४७ हि० का ९२७ पढ़ा गया था।

— गणेश प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी के कवि और काव्य भाग ३ (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, सन् १९४१) समालोचना खण्ड, पृ० २१-२२।

फरै आम अति सघन सुहाये। औ जस फरै अधिक सिरनाये ॥
(११)

तथा मार्ग की सुविधाओं, कुँआ, बावरी आदि का भी विशेष निर्देश किया है:—

पैग पैग पर कुँआ बावरी। साजी बैठक और पाँवरी ॥ (११)

इतिहासकारों ने शेरशाह के सत्य कार्यों में सड़कों के किनारे छायादार तथा फलदार वृक्षों (फरै आम अति सघन से तुलना कीजिए) का लगवाना तथा यात्रियों के ठहरने की सुविधा के लिये प्रत्येक कोस पर सराय, कुएँ आदि के बनवाने को सराहा है।[1]

उत्तरार्द्ध में भी दिल्ली के बादशाह का वर्णन करते हुए जायसी लिखते हैं:—

राव रंक जावत सब जाती। सब कै चाह लेइ दिन राती ॥
पंथी परदेसी जत आवहि। सब कै चाह दूत पहुँचावहि ॥ (२०७)

यह वर्णन भी शेरशाह के काल पर लागू होता है। शेरशाह अपने गुप्तचरों द्वारा उमरा पर दृष्टि रखता था और उन्हीं के द्वारा प्रजा की भी सूचना प्राप्त कर उनकी असुविधाओं को दूर करता था और आततायियों को कठिन दण्ड देता था।[2]

श्री चन्द्रबली जी का निर्णय कि 'उन्होंने पद्मावत में जिन रजवाड़ों का वर्णन किया है उनकी संगति प्रायः शेरशाह के समय में

१—इश्तियाक हुसैन कुरैशी : दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑव दी सुल्तानेट ऑव देहली, पृ० २७०—

"The builder of Sarai was Shershah, he built one at every koh of his famous roads Each Sarai had a mosque, a well and food and drinking water for Hindus as well as Muslims. The travellers were provided with hot water and bed-steads, also with fodder for their horses.'

तथा एस० आर० शर्मा : मुगल एम्पायर इन इंडिया, पृ० १७१—

'On both sides of the high ways Sher Shah planted fruit bearing trees such as also gave much shade.'

२—वही, पृ० १७२।

"Sher Shah sent trusted sepoys with every force of his nobles in order that inquiring and secretly ascertaining all circumstances relating to the nobles their sodliers and the people, they might relate them to him."

ही ठीक-ठीक बैठती है।"[1] हमारे पक्ष का सबल समर्थन करती है।

अस्तु, यदि काव्य का प्रत्येक अंश पुकार-पुकार कर शेरशाह के समय की साक्ष्य दे रहा है, तो बंगला अनुवाद के अंधभक्त बनकर विवादास्पद चौपाई में 'सत्ताइस' पाठ मानने का दुराग्रह क्यों किया जावे? तर्क की कसौटी पर---

सन नव से सैंतालीस अहा। कथा अरम्भ-बैन कवि कहा॥

खरा उतरता है और वही मान्य होना चाहिये। इस प्रकार पद्मावत का रचना-काल ६४७ हि० (सन १५४० ई०) प्रमाणित होता है।

रचना-शैली

इस काव्य की रचना प्राकृत के जैन चरित-काव्यों तथा फारसी की मसनवी शैली के अनुकरण पर हुई है, जिसमें पाश्चात्य 'एपिक' और भारतीय 'महाकाव्य' की भी अनेक विशेषतायें विद्यमान हैं। इसका नायक क्षत्रियोचित गुण-सम्पन्न राजा रत्नसेन है। इसमें शृंगार, करुणा, और वीर तीनों रसों का पूर्ण समावेश है तथा अन्य रसों का भी प्रयोग किया गया है। कथानक का पूर्वार्द्ध कल्पित और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक है। इसमें कथा-सूचक वचन भी स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इसमें सूर्य, चन्द्र, रात्रि, मृगया, पर्वत, वन, सागर, ऋतु, सम्भोग, विप्रलम्भ, मुनि, योगी, रण-प्रयाण, विवाहादि का भी यथा स्थान वर्णन मिलता है। परन्तु इसमें दोहा-चौपाई के अतिरिक्त न तो अन्य छंद प्रयुक्त हुआ है और न सर्ग विभाजन ही है। यदि प्रयत्न किया जावे तो सर्ग-विभाजन सरलता से किया जा सकता है और उनकी संख्या अवश्य ही आठ से अधिक होगी। अतएव यह काव्य ईरानी और भारतीय संस्कृतियों के सम्मिश्रण का द्योतक मसनवी शैली का महाकाव्य है।

इस शैली की परम्परा पर दो दृष्टिकोणों से—प्रथम, भारतीय महाकाव्यों की तथा द्वितीय, प्रेम गाथाओं की परम्परा—विचार प्रस्तुत करना अधिक समीचीन होगा।

महाकाव्यों की परम्परा

किसी देश के साहित्य में महाकाव्यों का सृजन उस देश की

१—चन्द्रवली पाण्डेय : पद्मावत की लिपि तथा रचना-काल, ना०प्र० पत्रिका, भाग १३ सं० १९८६, पृ० ४६५।

तत्कालीन उच्चतम संस्कृति, परिमार्जित लोक-प्रवृत्ति, परिष्कृत-कवित्व श्री सम्पन्नता, आदि का परिचायक है। आदि काव्य रामायण एक सर्वकालीन विशद महाकाव्य है। उत्तर वैदिक काल का प्रतिनिधि महाकाव्य महाभारत है। मध्यकालीन इतिहास में गुप्त युग भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण-युग' कहलाता है। इस काल में अश्व घोष का 'बुद्ध चरित' कालिदास के रघुवंश और कुमार-सम्भव, भारवि का किरातार्जुनीय, माघ का शिशुपाल-वध तथा श्री हर्ष का नैषधीय चरित संस्कृत साहित्य के उच्चतम महाकाव्य हैं। ये ग्रन्थ संस्कृत भाषा के जाज्वल्यमान रत्न एवम् भारतीय संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं।

इनके अनन्तर अपभ्रंश का युग प्रारम्भ होता है। इस काल में जैनाचार्यों की कृपा से महाकाव्यों (चरित-काव्यों) का प्रवाह अक्षुण्ण बना रहा। संवत् १०२६ के लगभग पुष्पदन्त ने 'आदि पुराण' और 'उत्तर पुराण' नाम के प्रबन्ध काव्य रचे। जसहरि चरित (यशधर-चरित्र) भी इसी समय की कृति है। हेमचन्द्र केवल वैयाकरण ही न थे, उन्होंने 'कुमारपाल चरित' द्वारा अपने आश्रयदाता का यश-वर्णन कर तेरहवीं शताब्दी के उषा-काल में इन प्रबन्ध काव्यों की परम्परा में योग दिया था। इसी समय के आसपास अब्दुल रहमान ने 'सदेश रासक' की रचना की थी। हेमचन्द्र से लगभग ४० वर्ष पश्चात् सोम प्रभु सूरि ने हेमचन्द्र और कुमारपाल ने संवाद रूप में 'कुमारपाल-प्रतिबोध' को रचा। इस काव्य की एक मुख्य विशेषता थी। यह गद्य-पद्य मय था। इन प्रबन्ध-काव्यों में सबसे महत्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट जैनाचार्य मेरुतुंग का 'प्रवन्ध चिन्तामणि' कहा जा सकता है। यह ग्रन्थ १३६१ वि० के आसपास की रचना प्रतीत होती है।

भारतीय परतन्त्रता के विधायक राठौर नरेश महाराज जयचन्द्र की तत्कालीन शासकों में पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। विद्याधर नाम के एक कवि ने शायद इन्हीं राठोर-नरेश के प्रताप का वर्णन किया है, जिसकी कोई प्रति आज उपलब्ध नहीं है। इस समय तक हिन्दी का स्वरूप भी स्थिर हो चुका था और उसमें बड़े-बड़े ग्रन्थ भी रचे जाने लगे थे किन्तु अपभ्रंश की यह परम्परा १४ वीं शती के अन्त तक चलती रही। इस परम्परा के एक कवि शारंधर हैं जिनका यश उनकी वैद्यक योग्यता के कारण ही विशेष है। इन्होंने हम्मीर रासो की रचना की थी। किन्तु खेद है कि अब इस ग्रन्थ का केवल नाम

ही नाम प्राप्त है। एक और कवि जिन्होंने हिन्दी में सरस पद-रचना को साथ ही साथ अपभ्रंश परम्परा में भी योग दिया. मैथिल-कोकिल, वैष्णव-भक्त विद्यापति हैं। इनकी कीर्तिलता नेपाल राज्य में सुरक्षित है। इनके पश्चात् अपभ्रंश का समय समाप्त हो जाता है किन्तु प्रबन्ध काव्यों की परम्परा हिन्दी में अनवरत वेग से चलती रही।

हिन्दी के आदि युग में रासो-काव्यों का चलन रहा था। इनमें से कुछ का केवल नाम ही ज्ञात रह गया है और उपलब्ध काव्यों में प्रक्षिप्तांश प्रचुर परिमाण में उपस्थित हैं। हिन्दी का आदि काव्य 'खुमान-रासो' सं० ६०० वि० के लगभग दलपति विजय द्वारा रचा गया था, किन्तु इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। नरपति-नाल्ह का 'वीसलदेव रासो' भी एक प्रबंध काव्य है, यद्यपि इसे महाकाव्य की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। इसकी एक विशेषता यह है कि यह काव्य गीत काव्य के रूप में है। भट्ट केदार मधुकर के 'जयचन्द्र-प्रकाश' एवम् 'जय-मयंक जस-चन्द्रिका' भी इसी परम्परा के प्रयास हैं।

इस परम्परा का सर्वश्रेष्ठ काव्य 'पृथ्वीराज रासो' है, जिसमें १६ वीं शताब्दी तक के प्रक्षिप्तांश पाए जाते हैं यही हिन्दी का सर्व प्रथम काव्य है जिसके विषय में कुछ दृढ़ता पूर्वक कहा जा सकता है। जगनिक कृत आल्हखंड तो अल्हैतों के हाथों पड़कर वर्तमान शताब्दी की खड़ी बोली का काव्य बन गया है। इसके पश्चात् जायसी का 'पद्मावत्' इस परम्परा में आता है हमारे विचार से यही हिन्दी-भाषा का सर्वप्रथम महाकाव्य है जो क्षेपकों से मुक्त प्रायः अपने असली रूप में विद्यमान है, तथा जिसके लेखक, समय, भाषा, विशदता मनोरमता, आदि के विषय में विद्वान् सर्वथा सहमत हैं।

इससे लगभग ३० वर्ष पश्चात् गोस्वामी तुलसीदास ने लोक-प्रख्यात 'रामचरित-मानस' का निर्माण किया इनके अनुकरण पर ब्रजवासीदास (सं० १८२७ वि०) में 'ब्रज-विलास' और सबलसिंह चौहान (१७७० वि० के लगभग) ने 'महाभारत' की रचना की। नरोत्तमदास के 'सुदामा चरित' का भी इन काव्यों में प्रमुख स्थान है। रीतिकाल में प्रबन्ध-काव्यों का प्रवाह कुछ अवरुद्ध सा हो गया था। परन्तु आधुनिक युग में खड़ी बोली के उत्थान के साथ इस परम्परा की भी विशेष उन्नति हुई। 'प्रिय-प्रवास' से प्रारम्भ होकर 'साकेत',

'कामायनी', 'बुद्ध-चरित', 'नूरजहाँ', 'सिद्धार्थ', 'जौहर', आदि महाकाव्यों का सृजन करती हुई यह परम्परा 'कृष्णायन' में पुनः रामायण (रामचरित-मानस) का अनुसरण कर 'जन नायक' की ओर अग्रसर हो रही है। वस्तुतः वर्तमान काल महाकाव्यों का वसंत-युग है।

प्रेमाख्यानों की परम्परा

हिन्दी के आदि युगीन जिन काव्यों की चर्चा की गई है, उसमें प्रेम और युद्ध दोनों की समान प्रतिष्ठा रही थी। वे काव्य शृंगार और वीर रसों से अभिसिंचित हो परिप्लावित हुए थे। अस्तु यह एक समस्या है कि इनको प्रेम-काव्य कहा जावे किंवा वीर-काव्य। इन्हीं काव्यों की परम्परा में प्रेम को विशेषता प्रदान कर एक और परम्परा प्रचलित हुई, जिसका नाम प्रेमाख्यान परम्परा उचित ही प्रतीत होता है। इस परम्परा की कुछ निम्न विशेषताएँ हैं:—

१—ये आख्यान केवल दोहे-चौपाइयों में रचे गये थे। नूर मुहम्मद ने अपने 'अनुराग-बाँसरी' में दोहे के स्थान पर बरवै अवश्य प्रयुक्त किया है।

२—इनकी भाषा बोलचाल की अवधी है केवल अनुराग-बाँसरी की भाषा अधिक संस्कृतमय है

३—इनके रचयिताओं ने प्रेम-गाथाओं के रूप में प्रेम-तत्त्व का निरूपण किया है जो ईश्वर को मिलाने वाला है तथा जिसका आभास लौकिक-प्रेम के रूप में मिलता है।

४—इन काव्यों में प्रकृत व्यापारों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत किये गये हैं।

५—इन काव्यों में अन्योक्ति एवम् समासोक्ति अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है।

६—इनमें शृंगार और करुण रस का विशेष चित्रण किया गया है।

७—इनके रचयिता प्रायः मुसलमान सूफ़ी फ़कीर थे। इस सारी परम्परा में एक पंजाबी हिन्दू सूफ़ी सूरदास के नाम से हुए हैं, जिन्होंने 'नल-दमयन्ती-कथा' नाम की कहानी लिखी, तथा दूसरे हिन्दू जिन्होंने 'सत्यवती-कथा' लिखी ईश्वरदास नाम के सज्जन थे।

८—इन कथाओं के कथानक प्रायः कल्पित हैं। किसी-किसी में ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत-मात्र मिलता है।

९—ये काव्य प्रायः रहस्य-वाणी समझे जाने के कारण सम्माननीय हुए। अतः ये काव्य क्षेपकों से सर्वथा विमुक्त हैं।

इस परम्परा-विशेष के प्रवर्तक फीरोजशाह तुगलक के राजत्व-काल में मुल्ला दाऊद नाम के एक सूफी सज्जन थे इन्होंने चन्दावन (चन्द्रावत) नाम की प्रेम कहानी सं० १४२७ वि० में लिखी। इसके लगभग १२५ वर्ष पश्चात् १५५० वि० में रज्जन मियाँ[1] ने 'प्रेमवन, जोब-निरंजन' नाम की प्रेम कथा सिकन्दर लोदी के शासन काल में रची थी। इसी समय ईश्वरदास ने 'सत्यवती-कथा' नाम की कहानी दोहे-चौपाइयों में अवधी भाषा में लिखी। इस कहानी में पाँच-पाँच चौपाइयों पर ही दोहा रखा गया है। इस प्रकार यह काव्य प्रेम-गाथाकारों का आदर्श रूप ही कहा जावेगा।

उपलब्ध कहानियों में कुतुबन की 'मृगावती' सबसे प्राचीन है। शेख कुतबन शेख बुरहान के शिष्य थे। इन्होंने 'मृगावती' हुसैनशाह के समय में ९०९ हि० (सं० १५५९ वि०) में लिखी। इनके पश्चात् मंझन ने 'मधुमालती' की रचना की। इस कहानी की रचना इब्राहीम लोदी के शासन-काल में हुई प्रतीत होती है। इन दोनों कवियों ने भी पाँच-पाँच अर्द्धालियों के पश्चात् दोहे का क्रम रखा था। इनमें मंझन की कृति अधिक उत्कृष्ट है। कवि ने एक उपनायक और एक उपनायिका की कल्पना कर एक उत्तम काव्य की योजना की है। इन्होंने प्रकृति दृश्यों द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही सुन्दर संकेत किये हैं।

परन्तु इस परम्परा के सबसे उत्तम कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इन्होंने अपनी पद्मावत' को शेरशाह के समय में सन् ९४७ हि०

१—इनका असली नाम शेख रिजकुला मुश्ताकी था। (रिसाल—ए—अब्दुलहक दहलवी।)

"Shaikh Rizqullah Mushtaqi wrote poetry not only in persian but also in Hindi, his non-de-guere for the latter was Rajjan."

—डा० इश्तियाक हुसैन कुरैशी : दी एडमिनिस्ट्रेशन ऑव सुल्तानेट ऑव दिल्ली; पृ० १७५।

(सन् १५४० ई०) में रचा। कवि ने अपनी प्रेम-कहानी में इस परम्परा की अन्य प्रचलित कथाओं का निर्देश भी किया है।[1] जायसी ने पूर्व प्रचलित क्रम में भी थोड़ा सा परिवर्तन कर दिया—उन्होंने पाँच-पाँच अर्द्धालियों के स्थान पर सात-सात का क्रम रखकर दोहों का प्रयोग किया है।

इनके पश्चात् भी यह परम्परा काफी समय तक चलती रही। उसमान ने जहाँगीर के समय में 'चित्रावली' रची। यह उसमान हाजी बाबा के शिष्य कहे जाते हैं। इनके कुछ वर्ष पश्चात् शेखनबी ने 'सात दीव' नाम की प्रेम-कथा लिखी। तत्पश्चात् शाहजहाँ के शासन-काल में सूरदास पंजाबी नाम के एक सूफी हिन्दू ने 'नल-दमयन्ती-कथा' नाम की प्रेम-कहानी लिखा।

औरंगजेब की कट्टर धार्मिक असहिष्णुता ने अपने राजत्व काल में संगीत एवम् काव्य-क्षेत्रों को बन्ध्या-प्राय: बना दिया था।[2] उसमें प्रेमाख्यान-प्रवाह भी अवरुद्ध हो गया। परन्तु मुहम्मदशाह के शासन-काल में मुगल राज्यश्री अपनी अन्तिम ज्योति में टिमटिमाने लगी। औरंगजेब से पूर्व की सारी परिपाटियाँ पुनर्जीवित हो चलन में आईं। सूफियों ने भी प्रेमगाथाओं की परम्परा को आगे बढ़ाया। कासिमशाह ने १७८८ वि० में 'हंसजवाहर' रची और नूर मुहम्मद ने ११५७ हि० (सं० १८०१ वि०) में 'इन्द्रावती' की रचना की। परन्तु इस समय तक उर्दू भाषा व्यवहार में आ चुकी थी। अतएव उर्दू-भक्त मुसलमानों द्वारा इनका प्रबल विरोध होने लगा। नूरमुहम्मद को शायद इस्लाम-विमुख भी कहा जाने लगा। फलत: उसको अपनी ओर से मुस्लिम-जगत के समक्ष सफाई देने की

१—विक्रम धंसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा ॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी ॥
राजकुंवर कंचनपुर गएऊ। मिरगावति कँह जोगी भएऊ ॥
साध कुंवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू ॥
प्रेमावति कँह सुरसरि साँधा। ऊषा लागि अनिरुध बर बाँधा ॥
(१००)

२—तुलना कीजिए—"औरंगजेब धार्मिक नृशंसता का प्रतिनिधि और कलाओं का संहारक था।"—डा० श्यामसुन्दर दास : हिन्दी-साहित्य पृ० ६७।

आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् ११७८ हि० (सं० १८२१ वि०) में 'अनुराग-बाँसरी' द्वारा नूरमुहम्मद ने अपने को सच्चा इस्लाम अनुयायी होने की घोषणा की:—

जानत है वह सिरजनहारा। जो किछु है मन मरम हमारा ॥
हिन्दू मग पर पांव न राखेउ। का जो बहुतै हिन्दी भाखेउ ॥

× × × ×

जहँ रसूल अल्लाह पियारा। उम्मत को मुक्तावन हारा ॥
तहाँ दूसरो कैसे भावै। अच्छ असुर सुर काज न आवै ॥

अस्तु प्रकट है कि शताब्दियों के हिन्दू-मुस्लिम सामंजस्य के सद्प्रयत्न मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता एवम् लोकभाषा की अवहेलना द्वारा निष्फल ही नहीं होगये, वरन् भविष्य में उनके मध्य की खाई अधिकाधिक विस्तार पाती गई। यदि यह प्रकृत्ति न उत्पन्न हुई होती तो आज का भारत अन्यतम होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अनुराग-बाँसरी' इस परम्परा का अन्तिम एवम् अन्यतम काव्य है। इसकी भाषा परिमार्जित, सुष्ठु एवम् अधिक तत्समतामय है। नूरमुहम्मद ने जायसी से पूर्व की परिपाटी के अनुसार पाँच-पाँच अर्द्धालियों का ही समुदाय रखा, परन्तु दोहे के स्थान पर बरवै की रचना कर एक प्रकार से नया ढाँचा प्रस्तुत किया। इसकी एक और विशेषता है—"इसका विषय भी तत्व-ज्ञान सम्बन्धी है। शरीर, जीवात्मा और मनोवृत्तियों आदि को लेकर पूरा अध्यवसित रूपक (allegory) खड़ा करके कहानी बाँधी है। और सब सूफी कवियों की कहानियों के बीच-बीच में दूसरा पक्ष व्यंजित होता है पर यह सारी कहानी और सारे पात्र ही रूपक हैं।"[1]

इनके पश्चात् भी एकाध प्रेम-कहानियाँ लिखी गईं। किन्तु उनका लक्ष्य परम के प्रति प्रेम का संकेत शेष न रह गया। अतएव 'अनुराग-बाँसरी' के साथ ही इस परम्परा की परिसमाप्ति मानना हम अधिक उपयुक्त समझते हैं।

प्रबन्ध काव्य की विशेषताएँ

प्रबन्ध काव्यों की परम्परा पर विहंगम दृष्टि-पात के पश्चात इस काव्य की प्रबन्धात्मकता पर विचार कर लेना अधिक समीचीन होगा। जिस प्रकार शुद्ध साहित्यिक निबन्ध (प्रबन्ध) गद्य-साहित्य की सफल कृति मानी जाती है उसी भाँति सफल प्रबन्ध-

१—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० १३७-३८।

काव्य किसी भी कवि की महानता का प्रमाण होता है। प्राचीन और आधुनिक, प्राच्य एवम् पाश्चात्य, सभी साहित्य-शास्त्रियों ने सफल प्रबन्ध-काव्य की कुछ विशेषताएँ निर्धारित की है। उनमें से निम्नांकित बातें प्रायः सभी को मान्य हैं:—

१—प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य किसी विशेष उद्देश्य से लिखा जाता है। यह उद्देश्य उस काव्य का 'कार्य' कहा जाता है। काव्य का प्रत्येक विवरण, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक घटना उस कार्य के सम्पादनार्थ सहायक, आतुर एवम् व्यस्त रहती है।

२—प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य की कथा के तीन निश्चित विभाग किए जा सकते हैं। यथा, आदि, मध्य और अन्त। काव्य की आदि घटनाएँ लक्ष्याभिमुख होती हैं। मध्यावस्था में पहुँच कर उनमें कुछ शिथिलता का वातावरण उपस्थित हो जाता है—घटना-प्रवाह मंथर गति से आगे बढ़ता है, अथवा उसमें कुछ विराम सा आ जाता है और लक्ष्य भी ओझल सा होने लगता है। किन्तु अन्त विभाग में कोई विशेष घटना समस्त प्रवाह को सहसा लक्ष्य की ओर बड़े वेग से मोड़ देती है और निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न हो जाता है।

३—प्रबन्ध-काव्य की मुख्य कथा-वस्तु अविराम गति से उस लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होती रहती है। उसकी प्रत्येक घटना इस श्रृंखला की एक आवश्यक कड़ी के सदृश्य होती है। इन घटनाओं का लक्ष्य-साधन से निकट किंवा दूर का योग अवश्य होता है अर्थात् ये कथाएँ असम्बद्ध, ऊपर से जोड़ी हुई अथवा भोंड़ी न हों तथा उनके हटा देने पर कथा अपूर्ण जान पड़े और लक्ष्य-साधन में बाधा उपस्थित हो जावे। अस्तु सफल प्रबन्ध काव्य में अनावश्यक व्यक्ति, घटना, विवरणादि का पूर्ण बहिष्कार होता है जिनसे कथा-प्रवाह में गति न आकर बाधा उपस्थित होती हो।

४—प्रबंध-काव्य में कोई ऐसा विवरण न हो जो पूर्व विवरण से प्रतिरोध करता हो। कवि को पूरे कथानक पर सदैव दृष्टि रखनी चाहिए।

५—प्रबंध-काव्य जिस काल की घटना उपस्थित करे उसकी सारी घटनाएँ, विवरणादि तत्कालीन वातावरण के अनुकूल हों। किसी भी प्रकार के अरुचिकर ऐतिहासिक व्यतिक्रम न उपस्थित हों।

६—चरित्र-चित्रण, वर्णन आदि में स्वाभाविकता हो।

७—जीवन की अधिकाधिक मर्म-स्पर्शिनी परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराना सफल प्रबंध-काव्य का अत्यावश्यक धर्म है।

८—जिस लक्ष्य को लेकर काव्य की रचना की गई हो उसका स्थायी प्रभाव सहृदय पाठकों पर पड़ना काव्य की सफलता का प्रमाण है।

पद्मावत की प्रबंधात्मकता

अब इन विशेषताओं की 'पद्मावत' में खोजकर उसके प्रबंध-सौष्ठव पर विचार प्रस्तुत किया जाता है।

प्रथम—'पद्मावत' का उद्देश्य है उद्विग्नता रहित शान्ति; परम सम्मिलन—पद्मावत का सती होना। कवि ने इस घटना से संसार की असारता की ओर लक्ष्य कर बड़ा शान्त वातावरण प्रस्तुत किया है—

रातीं पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार॥ (३००)

इस कार्य के सम्पन्न हो जाने पर बाद की सारी ऐतिहासिक घटना को कवि ने आधी चौपाई और एक दोहे में समाप्त कर दिया है—

भा धावा, भइ जूझ असूझा। बादल आइ पँवरि पर जूझा॥
जौहर भइ सब इस्तरी, पुरुष भए संग्राम।
बादशाह गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम॥४॥ (३००)

इस काव्य में कौन-कौन से विवरण कथा-प्रवाह में सहायक किंवा बाधक हैं इनका विवेचन आगे मिलेगा।

द्वितीय—कथा के आदि, मध्य और अन्त विभाग वैसे ही ऊटपटाँग नहीं मान लिये जाते। कथाओं का संगठन ही इस प्रकार का होता है कि इनकी प्रतीति सहृदयों को अनायास होने लगती है। प्रस्तुत काव्य में प्रारम्भ से लेकर राजा रत्नसेन के सिंहल पहुँचकर पद्मावती को प्राप्त कर लेने की कथा—नायक के अभीष्ट-प्राप्ति की कथा—इसका आदि भाग माना जा सकता है। परन्तु इस आदि का निश्चित अंत किस स्थान पर होता है यह विचारणीय है। आचार्य शुक्ल के अनुसार "सिंहलगढ़ घेरने तक कथा-प्रवाह का आदि

समझिए" ।[1] परन्तु हमारे विचार से रत्नसेन-सूली-खण्ड की अन्तिम दो अर्द्धालियाँ इस विभाग के अंत की सूचक प्रतीत होती हैं—

जो अस कोई जिउ पर छेवा। देवता आइ करहिं नित सेवा ॥
दिन दस जीवन जो दुख देखा। भा जुग-जुग सुख जाइ न लेखा ॥
(१२०)

क्योंकि इसके पश्चात् कथा-प्रवाह में बिराम आ जाता है, रत्नसेन आमोद-प्रमोद, आखेट आदि में व्यस्त रहने लगता है मानो कुछ और करना शेष नहीं रहा।

परन्तु कवि ने कहानी कहने वालों की प्रचलित शब्दावली में इस आदि भाग की परिसमाप्ति लक्ष्मी-समुद्र की अनुकम्पा से पद्मावती-रत्नसेन पुनर्मिलन के पश्चात् प्रकट की है—

जिन काहू कह होइ बिछोहू। जस वै मिलै मिलै सब कोऊ ॥ (१-४)

इसी प्रकार कथा का मध्य विराम 'नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड' ही माना जावेगा। जहाँ कथा-प्रवाह स्थिर हो जाता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि कथा को आगे बढ़ाने के लिये बगलें झाँक रहा है।

तत्पश्चात् सहसा 'राघव-चेतन देश निकाला-खण्ड' से कथा लक्ष्य की ओर तीव्र गति से चल पड़ती है और सती-खण्ड में कथा की इतिश्री हो जाती है। निस्संदेह इस प्रकार के निश्चित विभाग अन्य प्रबन्ध काव्यों में कम दृष्टिगोचर होते हैं।

तृतीय—इस कथा में सूआ-खण्ड, बनिजारा खण्ड, लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड, देवपाल दूत-खण्ड, बादशाह-दूती खण्ड, प्रासंगिक कथाएँ हैं, शेष अधिकारिक। हमको यह निःसंकोच स्वीकार करना पड़ता है कि अधिकारिक कथा के दो खण्ड—स्त्री-भेद-खंड तथा बादशाह-भोज-खण्ड नितान्त अनावश्यक थिगलियाँ हैं। इनमें से प्रथम केवल पद्मिनी नाम की पद्मिनी प्रकार की स्त्रियों से संगति भिड़ाने के लिये हस्तिनी, शंखिनी, चित्रनी; तथा पद्मिनी स्त्रियों का वर्णन करने का लोभ कवि संवरण न कर सका। यह वर्णन भी कामसूत्र के अनुसार न होकर ऊटपटांग मनगढ़न्त है। कवि ने हस्तिनी में हाथी के गुण, संखिनी में शेर के गुण (शायद संखिनी को सिंहनी समझकर) चित्रनी में चित्र-कला विद् होने के गुण तथा पद्मिनी

1—जा० ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ७२।

में पद्म के गुण का आरोप कर लिया है।[1] वास्तव में इस खण्ड में सहृदयों के काम की कोई चीज नहीं है और न इसके निकाल देने से कथा में तनिक भी बाधा उपस्थित होती है- यह खण्ड शेष कथा से सर्वथा असम्बद्ध है।

बादशाह-भोज-खण्ड को कवि ने कथा से सम्बद्ध तो अवश्य करना चाहा है किन्तु इसमें उसको सफलता न मिल सकी। इसमें भद्दी परम्परा प्रदर्शन—पाकशास्त्र की जानकारी प्रकट करने की लालसा—कतिपय सूक्तियां और शब्द-खिलवाड़-प्रियता के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सहृदय पाठक को इससे अरुचि ही उत्पन्न होती है। इस खण्ड के भी न रहने से कथा को किसी प्रकार की भी क्षति नहीं होती।

कुछ खण्ड ऐसे हैं जो कथा की इतिवृत्तात्मकता को पूर्ण करने के हेतु आवश्यक थे और कवि ने उनकी आवश्यकता उसी अंश तक समझी भी है। अतएव ये खण्ड बहुत छोटे और इतिवृत्तिमय हैं। ऐसे खण्ड राजा-गजपति-संवाद-खण्ड, रत्नसेन-साथी-खण्ड, रत्नसेन-संतति-खण्ड, राजा रत्नसेन-वैकुण्ठवास-खण्ड है।

कुछ ऐसे खण्ड हैं जिनके विषय में विद्वानों में मतभेद हो सकता है। नख-शिख-वर्णन का काव्य में क्या स्थान होना चाहिए, अवश्य ही विवादास्पद है। परन्तु जायसी ने जिस ढाँचे में अपने 'पद्मावत' को ढाला है उसमें नख-शिख प्रधान अंग है इसमें किसी को कोई आपत्ति का अवसर नहीं है। जायसी का नख-शिख-वर्णन बहुत ही पूर्ण है। उसकी प्रत्येक पंक्ति उसी परम अव्यक्त का आभास देती है, परन्तु नख-शिख की प्रायः समस्त उपमाओं, रूपकों, उत्प्रेक्षाओं का पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड में तादृश वर्णन किया जाना अवश्य खलता है। माना कि अलाउद्दीन को फुसलाने के लिये पद्मावती के रूप-वर्णन की अवश्य आवश्यकता थी। परन्तु कवि यह तो जानता था कि नख-शिख की पुनरावृत्ति पाठक को अरुचिकर होगी। अस्तु कवि ने यदि कुछ अधिक समझदारी से काम लिया होता—पद्मावती-रूप-चर्चा दूसरे प्रकार से की होती—नवीन उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षाएँ जुटाई होतीं, किंवा नख-शिख की आधी सामग्री रूप-चर्चा के हेतु सुरक्षित कर दी होती, तो कवि-कर्म अधिक सफल कहा जाता।

१—जा० ग्रन्थावली, पृ० २०७-२०८।

अब रही प्रासंगिक कथाओं की उपयुक्तता सो सुआ तो कहानी को अग्रसर करने वाला ही है। परन्तु रत्नसेन-पद्मावती का विवाह सम्पन्न हो जाने पर उसकी कोई आवश्यकता न रह जाने के कारण कवि ने फिर हीरामन की कोई चर्चा नहीं की है। बनिजारों के सम्पर्क में आकर ब्राह्मण सूए को मोल लेकर राजा रत्नसेन तक पहुँचाने का हेतु होता है। अतएव बनिजारा-खण्ड नितान्त आवश्यक घटना है। जिससे मुख्य कथा पोषित होती है। लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड की कथा को बचाया भी जा सकता था। परन्तु कवि ने इस घटना से दो महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध किए। प्रथम तो दान-महिमा एवम् द्रव्याभिमान पर पतन के अटल नियम को कवि पाठकों को हृदयगंम करा सका है। तथा दूसरे, समुद्र द्वारा रत्नसेन को पांच अप्राप्य नगों की भेंट प्रदान कर कथानकोपयोगी घटना प्रस्तुत कर सका है। इन्हीं पांच रत्नों की भेंट द्वारा अलाउद्दीन और रत्नसेन में सधि संभव हो सकी जिससे बाद की कथा सम्बद्ध है। इस प्रकार कवि ने बड़े कौशल से इस प्रासंगिक भाग को उपादेयता प्रदान की है और नायक के चरित्र की रक्षा की है।

प्रारम्भ में देवपाल-दूती-खण्ड अनावश्यक थिगली प्रतीत होता है। परन्तु इसी कारण रत्नसेन-देवपाल द्वन्द्व-युद्ध में रत्नसेन को प्रहार लगने से नायक का अलाउद्दीन की विजय से पूर्व मारा जाना और पद्मिनी का सती हो जाना तथा इस प्रकार नायक के गौरव, चरित्र, आदि की रक्षा ही कवि का ध्येय मनन कर कवि के चातुर्य्य एवम् प्रबन्ध-पटुता पर मन मुग्ध हो जाता है।

बादशाह-दूतीखण्ड की भी विशेष आवश्यकता तो न थी। परन्तु प्रचलित कथाओं में प्रेम-परीक्षा के ऐसे ही विधान रूढ़ि से हो गये हैं। राजा रत्नसेन के पद्मावती के प्रति प्रेम की परीक्षाएँ पहले गौरा-पारवती और तदन्तर लक्ष्मी द्वारा कवि ने वर्णित की हैं, अतएव पद्मावती के प्रेम की परीक्षा भी दो बार होना समानाधिकार के सम्प्रति युग में समीचीन प्रतीत होगी। परन्तु हम शुक्ल जी से सर्वथा सहमत हैं कि "कवि ने जो कसौटी तैयार की है वह इतने बड़े प्रेम के उपयुक्त नहीं हुई[1]"।

इस प्रकार सम्पूर्ण कथा वस्तु पर विचार कर लेने के पश्चात् कवि द्वारा वर्णित विवरणों पर भी विचार करना आवश्यक है। हम

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ ३३।

यह पहिले ही कह देना उचित समझते हैं कि जायसी इस कसौटी पर खरे नहीं उतर पाये है। उन्होंने विवरणों को अनावश्यक विस्तार दे दिया है। इसके कुछ कारण भी हैं—

(अ) वस्तुओं के नाम की लम्बी-लम्बी सूचियाँ देने की कवियों में रूढ़ि सी हो गई थी।

(आ) कवि से प्रत्येक विषय की पूर्ण जानकारी की आशा की जाती थी। अतएव वे बहुज्ञान प्रदर्शन के लिए किसी भी उपयुक्त अवसर की ताक में रहते थे। 'कवि-कण्ठाभरण' के रचयिता क्षेमेन्द्र के अनुसार कवि-शिक्षा की अन्तिम (पाचवीं) कक्षा परिचय-प्राप्ति है। "कवि को इतने शास्त्रों का परिचय-ज्ञान आवश्यक है—न्याय, व्याकरण, भरत-नाट्यशास्त्र, चाणक्य-नीतिशास्त्र, वात्स्यायन-कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्षोपाय, आत्मज्ञान, धातु-विद्या, वाद्यशास्त्र, रत्नशास्त्र, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गजशास्त्र, अश्वशास्त्र, पुरुष-लक्षण, द्यूत, इन्द्रजाल, प्रकीर्ण-शास्त्र।"[1]

(इ) सूफियों को पारिभाषिक शब्दों से विशेष मोह था।

(ई) जायसी की प्रमोद शील प्रकृति शब्द-खिलवाड़ में विशेषतया रस मग्न हो जाती थी।

इस भद्दी परम्परा के परिणाम स्वरूप विभिन्न वृक्षों, पुष्पों, लताओं, पक्षियों, वाद्यों, आदि की लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रस्तुत हैं। नक्षत्रों के नाम, दिकशूल, जोगिनी और चन्द्रमा की स्थिति आदि का अनावश्यक विवरण भी है।

जायसी को शब्द-खिलवाड़ से विशेष रुचि थी। इसके प्रमाण उनके इस काव्य के किसी भी पृष्ठ पर मिल जावेंगे। पानी, दिया, सत, रस, माटी, आदि अनेक शब्दों के प्रस्तुत होते ही कवि अपने प्रबन्ध को भूलकर अपना वाक्-चातुर्य दिखाने में प्रवृत्त हो जाता है। वाक्-विदग्धता का भी काव्य में उपयुक्त स्थान है किन्तु सर्वथा शब्दों के हो पीछे पड़ जाना अवश्य ही अरुचि उत्पन्न कर देता है।

चतुर्थ—जायसी ने अपने प्रबन्ध में पर्याप्त सावधानी रक्खी है। अपने विवरणों में सूक्ष्म विवेचनों की ओर भी सतर्कता दिखलाई है। हिन्दू प्रथानुसार केवल सौभाग्यवती स्त्रियां ही अपनी माँग

१—म० म० डा० गंगानाथ झा : कवि-रहस्य, पृ० ७१।

सेंदुर से सजाती हैं। विवाह-संस्कार के पश्चात् ही सेंदुर लगाया जाता है। हीरामन ने राजा रत्नसेन से पद्मावती का नख-शिख वर्णन करते हुए इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है—

बरनौं माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहीं॥
बिनु सेंदुर अस मानहु दीया। उजियर पंथ रैनि महँ कीया॥ (४१)

परन्तु राघव चेतन उसी पद्मावती की रूप-चर्चा जिस समय अलाउद्दीन के समक्ष करता है उस समय वह एक सौभाग्यवती रानी थी। अस्तु—

माँग जो मानिक सेंदुर रेखा। जनु बसन्त राता जग देखा॥(२१०)

राघव चेतन ने पद्मावती को झरोखे के ऊपर देखा था। वह उसके कटि पर्यन्त अंगों की ही झलक देख पाया था। अतएव 'रूप चर्चा' में उसके उतने ही अंगों का वर्णन कर वह मानो अपने कथन की सचाई पर मुहर सा लगा देता है:—

बरनेउँ नारि जहाँ लगि, दिस्टि झरोखे आइ।
और जो रही अदिस्ट धनि, सो किछु बरनि न जाइ॥ (२०५)

कवि की चतुराई एक और स्थान पर प्रशंसनीय है। समुद्र में रत्नसेन के साथी और द्रव्यादि ही न डूब गये थे, अपितु पद्मिनी भी बिछुड़ गई थी। लक्ष्मी की अनुकम्पा से रत्नसेन—पद्मावती का पुनर्मिलन हो गया। तत्पश्चात् जब मन में अपने साथियों और द्रव्यादि के प्राप्त करने की भी लालसा जागरित हुई पद्मावती ने बड़े कौशल से अपनी इस लालसा को लक्ष्मी पर प्रकट किया—

लछमी सौं पद्मावति कहा। तुम्ह प्रसाद पाएउ जो चहा।
जो सब खोइ जाहिं हम दोऊ। जो देखे भल कहै न कोऊ॥(१८४)

पद्मावती श्री पंचमी को महादेव की पूजा को गई। पूजा के पश्चात् उसने मनौती की—

बर सौं जोग मोहि मेरवहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हीछा पूजै, बेगि चढ़ावहु आनि॥ (८१)

योग्य वर से विवाहिता हो जाने पर वह अपनी मनौती को भूल नहीं जाती, वरन् प्रथम प्रातः काल में सखियों को बुलाकर प्रस्ताव करती है:—

पदमावत कह सुनहु सहेली। हौं सो कमल तुम कुमुदिनि बेली।
कलस मानि हौं तेहि दिन आई। पूजा चलहु चढ़ावहि जाई॥ (१४७)

और अपने हाथों मनौती को पूर्ण करती है—

अपने हाथ दैव नहवावा। कलस सहस इक घिरित भरावा ॥ (१५७)

जायसी की एक और अपनी विशेषता है। वे किसी विषय को अधूरा नहीं छोड़ते। प्रश्न की प्रत्येक बात का उत्तर प्रश्न-कर्त्ता को दिया जाता है। इसका विशेष विवेचन तो अगले अध्याय में संवाद शीर्षक के अन्तर्गत मिलेगा, यहाँ पर हम केवल एक उदाहरण देते हैं। महादेव के साक्ष्य पर राजा रत्नसेन अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह रत्नसेन के साथ कर देने पर प्रस्तुत हो जाता है। उसी समय हीरामन भी साक्ष्य देने के लिए बुलाया जाता है। उसके आने पर राजा उससे प्रश्न करता है—

राजै पुनि पूछी हँसि बाता। कस तन पियर भएउ मुख राता ॥
(१७)

उत्तर में सुआ पहले तो अपने कृत्य की सफाई पेश करता है कि भला काम करते हुए भी उसे दोषी समझा गया। इस लम्बी सफाई के पढ़ने में पाठक को प्रश्न के शब्दों का ध्यान भी नहीं रहता। किन्तु अन्त में जब हीरामन अपनी सफाई का सारांश संक्षेप में कहता है—

सुआ सुफल लेइ आएउँ, तेहि गुन तैं मुख रात।
कया पीत सो तेहि डर, सँवरौं विक्रम बात ॥ (११८)

तो पाठक प्रश्नोत्तर के साम्य पर मुग्ध हो उठता है। सारांश यह है कि कवि लम्बे-लम्बे विवरणों में उलझ कर भी कथा सूत्र को नहीं उलझने देता।

कवि की प्रबन्ध-पटुता के दो अन्य स्थल भी प्रशंसनीय हैं। एक है बादशाह द्वारा संधि-प्रस्ताव। अलाउद्दीन आठ वर्षों के निरंतर घेरे के पश्चात् भी चित्तौड़-विजय में सफल न हो सका। उधर दिल्ली से भी चिन्ताजनक समाचार आने लगे—

× × × । दिल्ली तैं अरदासैं आई ॥
पहिल हेरव दीन्ह जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंह कै दीठी ॥ (२३७)
तथा, सुना साह, अरदासैं पढ़ी। चिंता आन आनि चित चढ़ी ॥ (२३८)

उसी समय बादशाह की दशा साँप-छछूँदर की सी हो गई—

गढ़ सौं अरुझि जाय तब छूटै। होइ मेराव, कि सो गढ़ टूटै ॥ (२३८)
अतएव अपनी झेंप मिटाने के लिए तथा कूटनीति का जाल फैलाने

के लिए संधि का ऐसा नया प्रस्ताव शाह भेजता है जिससे दोनों में से किसी की आन पर धब्बा नहीं लगता प्रतीत होता है। चंदेरी राजा को देकर राजा से समुद्र के पाँच अमूल्य नगों की मांग का प्रस्ताव बादशा भेजता है—

आपन देस खाहु सब, औ चंदेरी लेहु।
समुद्र जो समदन दीन्ह तोहि, ते पांचौ नग देहु ।। (२३८)

दूसरा स्थल है पदमावती का प्रतिबिम्ब-दर्शन। ऐतिहासिक आधार तो यह बतलाया जाता है कि राजा घेरे से व्यथित होकर पद्मिनी के प्रतिबिम्ब को दर्पण में देखकर दिल्ली लौट जाने के अलाउद्दीन के प्रस्ताव से सहमत हो जाता है। यदि यह घटना वस्तुतः हुई तो राजा रत्नसेन का चरित्र निन्दनीय ही समझा जावेगा। जायसी ने ऐतिहासिक वृत्त को अक्षुण्य बनाये रखने के साथ अपने नायक के चरित्र की रक्षा के लिये मनोविज्ञान का आश्रय लिया है। उत्सुकता स्त्री-प्रकृति-सुलभ है। पद्मिनी भी बादशाह को एक दृष्टि देखलेने की लालसा को न दबा सकी। झरोखे पर से जैसे ही झांकी, बादशाह ने अपने समक्ष रखे हुए दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब देख लिया। इस प्रकार एक ऐतिहासिक घटना को आकस्मिक रूप देकर कवि ने नायक के चरित्र की हेयता को बचा दिया।

कुछ ऐसे स्थल भी हैं जहां कवि प्रमाद-वश किंवा प्रचिलित परम्परा के कारण पूर्व विवरण के विरुद्ध वर्णन कर गया है। राजा रत्नसेन के साथी जो जोगी बन कर उसके साथ चले थे, सोलह सहस्र थे—

राय रान सब भए वियोगी सोरह सहस कुँवर भए जोगी ।। (५६)

एक अन्य स्थल पर भी कवि ने इसी संख्या का निर्देश किया है—

पुनि ओहि कोउ न छाड़ अकेला। सोरह सहस कुँवर भए चेला ।।
(७७)

एक और स्थल पर भी यही संख्या ध्वनित होती है। राजा रत्नसेन का विवाह तो पद्मावती से हो गया और वह उसके साथ भोग में रत हो गया। जब रत्नसेन अपने साथियों से भेंट करता है तो वह उन लोगों से भी अपनी भाँति आनन्द मग्न रहने का आदेश करता है जिस प्रकार उन्होंने उसके साथ योग में कष्ट सहन किये थे।

अस्तु —

जो जेहि लगि सहै तप जोगू। सो तेहि के संग मानै भोगू॥
सोरह सहस पदुमिनी मांगी। सबै दीन्हि नहिं काहुहि खांगी॥
(१४६)

किन्तु मण्डप गमन-खंड में इस संख्या का प्रत्यक्ष विरोध है—

राजा बाउर बिरह वियोगी। चेला सहस तीस संग जोगी॥ (७१)

पद्मावती अपनी पूजा में महादेव के समक्ष स्पष्ट स्वीकार करती है कि उसके अतिरिक्त उसकी अन्य समस्त सहेलियाँ विवाहिता थीं—

और सहेली सबै वियाही। मो कहँ देव कतहुँ वर नाही॥ (८८)

परन्तु रत्नसेन-विदाई-खंड से स्पष्ट ही ऐसी ध्वनि निकलती है कि वे अविवाहिता थीं—

धनि रोवत, रोवहिं सब सखी। हम तुम्ह देखि आपु कहँ झखी॥
तुम्ह ऐसी जो रहै न पाई। पुनि हम काह जो होहि पराई॥[1]
(९७)

रत्नसेन-विदाई-खंड में केवल एक सहस्र डोलियों का वर्णन है—

डोली सहस चली संग केरी। सबै पदुमिनी सिंहल केरी॥ (१७०)

परन्तु लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड में दो लाख की चर्चा है—

बहल घोड़ हस्ती सिंहली। औ संग कुवरि लाख दुइ चली॥ (१८१)

लक्ष्मी ने पद्मावती को 'बहिन' कहकर संबोधित किया था—

लछिमी आनि बुझावै जीऊ। ना मरु बहिन, मिलिहि तोर पीऊ॥
पीउ पानि होइ पवन अधारी। जसि हौ तुहूँ समुद कै बारी॥
(१७८)

परन्तु विदा के अवसर पर लक्ष्मी उसको बेटी कहकर संबोधित करती है—

लक्ष्मी पद्मावति सौं भेंटी। औ तेहि कहा मोरि तू बेटी॥ (१८५)

जो उचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रथम तो लक्ष्मी की आयु पद्मावती से इतनी अधिक नहीं प्रतीत होती तथा दूसरे बड़ी बहिनें

१—शुक्ल जी ने 'पुनि हम काह जो आहि पराई' पाठ माना है। परन्तु इसका अर्थ ठीक नहीं बैठता 'हमारा क्या कहना जो परतन्त्र है।' संशोधित पाठ के अनुसार इसका अर्थ होगा—'तुम जैसी राजपुत्री यदि नैहर में न रहने पाई तो हम साधारण नारियाँ पराई हो जाने पर, विवाहित होकर, किस प्रकार यहाँ रह सकेंगी।'

छोटियों को पुत्रीवत् स्नेह तो करती हैं, किन्तु पुत्री कह कर पुकारती कभी नहीं ।

इसी खण्ड में एक और भूल कवि की असावधानी से हो गई है । कवि ने स्पष्ट कहा है कि रत्नों से भरा पान का बीड़ा पदमावती को समुद्र ने भेंट किया था—

दीन्ह समुद्र पान कर बीरा । भरि कै रतन पदारथ हीरा ॥ (१८५)

परन्तु थोड़े ही समय में पद्मावती इस बात को भूल जाती है और कहती है—

लछमी दीन्ह रहा मोहि बीरा । भरि कै रतन पदारथ हीरा ॥ (१८६)

इसी खण्ड में एक बात और खटकती है । समु की कृपा से रत्नसेन को न केवल अपनी डूबी हुई सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, वरन् समुद्र ने भी अमूल्य रत्नादि एवम् पांच अलभ्य नग प्रदान किए थे । समुद्र से विदा होकर जगन्नाथ तक आने में अधिक समय भी न लगा था और न कोई आपत्ति ही आई थी समुद्र के सेवक जलमानुष उनको सकुशल जगन्नाथ तक पहुँचा गये थे । वहाँ पहुँचकर राजा के इस कथन पर—

राजै पद्मावत सौं कहा । सांठि नाठ किछु गाँठि न रहा ॥ (१८६)

पाठक सहसा चौंक पड़ता है कि सारा द्रव्य कहाँ गया । शुक्ल जी इन पंक्तियों की असंगति देखकर अनुमान करते हैं कि ये क्षेपक हैं ।[1] किन्तु केवल इसी कारण हम इनको क्षेपक मानना संगत नहीं समझते जबतक कि कुछ प्राचीन प्रतियों में इनसे रहित पाठ न मिल जावें । हमारी सम्पति में इसका हेतु केवल कवि की साँठि-गाँठि से खिलवाड़ तथा द्रव्य की अप्रतीति ही प्रतीत होती है ।

पंचम—जायसी ने अपने इस काव्य में कोई ऐसी बात नहीं आने दी है जो ऐतिहासिक सत्य में बाधा उपस्थित करती हो । रणथम्भोर, देवगिरि और गुजरात की विजय चित्तौड़—आक्रमण से पूर्व की घटनायें हैं, अतः इस काव्य में उनका उल्लेख बड़ा ही समुचित हुआ है । हरेव (मंगोल) आक्रमण की ओर इंगित भी ऐतिहासिक साक्ष्य पर है । वर्णन की अत्युक्ति पूर्ण विशदता के अतिरिक्त कोई ऐसा विवरण नहीं है जो पूर्व मध्यकालीन भारत का वातावरण न प्रस्तुत करता हो । तोपों से गोले बरसाना अलाउद्दीन-

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १२० का फुटनोट ।

काल की वस्तु नहीं है। उनका प्रथम प्रयोग भारतभूमि पर पानीपत के प्रथम युद्ध में (सन् १५२६ ई०) हुआ था, जो कवि के जीवन की घटना है। अतएव इससे प्रमाणित होता है कि कवि अपने समय के नवीनतम आविष्कारों से भी अनभिज्ञ न था। अस्तु गोलों का वर्णन भी अनुचित नहीं हुआ।

षष्ठ—जायसी का चरित्र-चित्रण एवम् वर्णन व्यक्तिगत एवम् वस्तुगत न होकर वर्गगत है, तथा उनमें स्वाभाविकता की पूर्ण रक्षा की गई है। इनका विशेष विवेचन अगले अध्याय में मिलेगा।

सप्तम—यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो कवि जीवन की जितनी अधिक मर्मस्पर्शिनी परिस्थितियों को प्रस्तुत कर उनके वर्णन में जितनी ही अधिक स्वाभाविकता एवम् सजीवता ला सकता है वह उतना ही बड़ा कवि माना जाता है। ये स्थल ही कवि की वास्तविक-अनुभूति के प्रमाण हैं। प्रबन्ध-काव्य में सम्पूर्ण जीवन होता है। अतएव उसमें कवि, जीवन की अनेक दशाओं के उपयुक्त अवसर पर बड़े ही मार्मिक दृश्य चित्रित कर सकता है।

प्रस्तुत काव्य में जन्मोत्सव, विवाहोत्सव, हास-परिहास, सुहागरात, विदाई, दहेज, बसंतोत्सव, भोजोत्सव, जल-क्रीड़ा, हिंडोल-क्रीड़ा, हाट, शृंगार-हाट, पनघट, यात्रा, समुद्र-यात्रा की कठिनाइयां, मंडप, वैभव, गढ़, प्रासाद, सेना युद्ध-तैयारी, युद्ध-यात्रा, युद्ध, बसीठो, संधि, नीति, आदि का पूर्ण विवरण है। जीवन का लक्ष्य है प्रेम। अस्तु जायसी ने मैत्री, वात्सल्य, शृंगार—पूर्वानुराग, संयोग, विप्रलम्भ, सभी का सुरम्य चित्रण किया है। इनके अतिरिक्त कहीं ऋतुएँ, बारहो महीने, मूढ़-विश्वास, स्वप्न-विचार, दिक्शूलादि, बन्दी-जीवन, आखेट, कृतघ्नता, कृतज्ञता, रूठना, द्रवित होना, प्रतिशोध, ईर्ष्या, असूया, विद्या का सदुपयोग एवम् दुरुपयोग आदि सभी के सरस प्रसंग प्रस्तुत हैं। राजा-प्रजा, मित्र-मित्र, स्वामी-सेवक, सपत्नियों के सम्बन्ध भी प्रदर्शित किये हैं। किन्तु इस प्रकार के सम्बन्ध इतने अधिक हैं कि उन सब तक पूरी पहुँच होना एक प्रकार से असम्भव ही है। इस क्षेत्र में जायसी की गति तुलसी के समान कदापि नहीं है। फिर भी मध्यकालीन भारतीय राजपूत की वीर-प्रवृत्ति का आदर्श इस काव्य का प्राण ही है। सारांश यह है कि जायसी ने जीवन की अनेक दशाओं के मनोरम चित्र अपने

काव्य में उपस्थित कर अपने को पूर्ण सहृदय कवि प्रमाणित कर दिया है। हम आचार्य शुक्ल से पूर्णतया सहमत हैं कि "पद्मावत के घटना-चक्र के भीतर जीवन दशाओं और मानव सम्बन्धों की वह अनेक रूपता नहीं है जो रामचरित मानस में है। ......जो कुछ हो, यह अवश्य मानना पड़ता है कि रसात्मकता के संचार के लिये प्रबन्ध-काव्य का जैसा घटना-चक्र चाहिये पद्मावत का वैसा ही है। चाहे इसमें अधिक जीवन दशाओं को अन्तर्भूत करने वाला विस्तार और व्यापकत्व न हो, पर इसका स्वरूप बहुत ठीक है।"[1]

अन्तिम—जायसी का लक्ष्य था प्रेम-कहानी द्वारा मनुष्यों में पारस्परिक मेल जोल बढ़ाना, सद्भावनायें उत्पन्न करना और साम्प्रदायिक संकीर्णता को मिटाना। यह काव्य अपनी सरसता एवम् सद्भावनाओं के कारण हिन्दू मुसलमान दोनों में समान आदर का पात्र रहा है और लगभग समस्त उत्तर भारत में प्रचलित रहा है। उसकी प्रतियां पूज्य भाव से संग्रह की जाती हैं। यदि शुक्ल जी[2] और सुल्तानपुर गजेटीयर के सम्पादक[3] के अनुभवों को ठीक माने—न मानने का कोई कारण भी नहीं है—तो यह ग्रन्थ वास्तव में हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को बहुत अंशों में दूर करने में समर्थ हो सका है।

उपसंहार की आवश्यकता

पाश्चात्य नाटकों में Epilogue की रीति प्रचलित थी। कवि इसके द्वारा अपने नाटक अथवा व्यक्तित्व पर किये हुए आरोपों का

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ६६।

२— वही पृ० ५ —

इतना मैं अपने अनुभव से कह सकता हूं कि जिन मुसलमानों के यहाँ यह पोथी (पद्मावत) देखी गई है उन सबको मैंने विरोध से दूर और अत्यन्त उदार पाया"।

३—एच० आर० नेविल, आई० सी० एस० : सुल्तानपुर प्रान्त का गजेटीयर, भाग ४६ सन् १९०३ ई०, पृ० ७२—

"It is note worthy feature perhaps that Hindus and Muslims live on basis of the greatest amity with one another and that no where perhaps religious tolerance is so great as in this district."

प्रतिकार कर दिया करते थे। यह सफाई रंग मंच पर ही किसी प्रमुख पात्र द्वारा पेश की जाती थी। सूफ़ी-साहित्य में इसकी आवश्यकता क्यों महसूस हुई? कारण स्पष्ट है। सूफियों में इश्क हकीकी की सीढ़ी लौकिक प्रेम है। अतएव परम-सम्मिलन का वर्णन भी सांसारिक-प्रेम (सम्भोग शृंगार) के रूप में ही किया जाता है। परिणाम स्वरूप उसमें अश्लीलता का समावेश सम्भोग, चेष्टादि का वर्णन) बुरा नहीं समझा जाता, वरन् इनकी अधिकता से ही अत्यधिक, आध्यात्मिक आत्मानुभूति का अनुभव समझा जाता है अस्तु साधारणतया इस प्रकार के काव्य में लौकिक पक्ष इतना अधिक सबल हो गया कि अध्यात्म-संकेत भी अस्पष्ट हो दृष्टि के सामने से हटने लगा। अतएव "कितने ही कवियों को अपनी कविता की व्याख्या इसीलिए करनी पड़ी कि लोग उसके हकीकी अर्थ को न समझते थे और केवल मजाजी अर्थ पर ही लटके रहते थे"।[1] जायसी ने भी अपनी प्रेम-कहानी कह चुकने के पश्चात् यह अनुभव किया कि इसमें लौकिक पक्ष इतना गहरा रंग गया है कि उसमें अध्यात्म पक्ष छिप-सा गया है। अतएव उसको ठीक प्रकार से 'विचारने' के हेतु कवि को उपसंहार जोड़ देने की आवश्यकता प्रतीत हुई—

प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥(३०१)

कवि अपने इस प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ है इसका विवेचन पहिले ही हो चुका है।

एक बात और ध्यान देने की है। जब ऐसी रीति चल पड़ती है तो सम्प्रदायवाद खींचतान कर उनका अभीष्टार्थ लगा ही देता है। यह एक इतिहास सम्मत सत्य है कि इब्न अर्बी मक्का की किसी सुन्दरी पर मुग्ध था। उसने उसके प्रेम विषयक कविता लिखी। किन्तु बाद में उस कविता पर भी अध्यात्म आरोपित कर दिया गया। सिद्धों, नाथों, और बाममार्गियों के दुराचार एवम् लोक-बाह्य कुरीतियों का—अनर्गल, अश्लील प्रलापों का भी, एक खास ढर्रे से उसके पोषक आध्यात्म-पक्ष में सुन्दर व्यंजना की व्यवस्था कर देते हैं। सम्प्रति सटोरिये भी किसी साधु (?) के मुख से अनायास निकले हुये शब्दों को मनगढ़न्त ऊट-पटांग कल्पना द्वारा कोई संख्या मनोनीत कर अपना कार्य सिद्ध करने में प्रयत्नशील रहते हैं। सारांश यह है कि

१—चन्द्रवली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १५७।

अपनी उक्ति को स्पष्ट करने के लिये किसी उपसंहार या टीका की उस समय आवश्यकता प्रतीत होती है, जब अपनी उक्ति का प्रकृत अर्थ अपने अभीष्टार्थ प्रकट करने में असमर्थ होता है और उससे भ्रान्ति फैलने की सम्भावना सबल हो जाती है।

निष्कर्ष

पद्मावत का पूर्ण अनुशीलन करने के उपरान्त हम संक्षेप में कह सकते हैं कि यह एक सरस प्रबंध-काव्य है जिसमें विभिन्न जीवन दशाओं के व्यापक और मनोहर चित्र उपस्थित किये गये हैं तथा जिसके कल्पित कथानक में ऐतिहासिकता का पुट देकर कवि ने उसको अधिक हृदयग्राही बना दिया है। स्थान-स्थान पर मनोरम अध्यात्म संकेतों द्वारा इस कृति का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाता है। साम्प्रदायिक मोह के कारण एकाध स्थल पर अश्लीलता की गंध अवश्य आ गई है और लम्बी-लम्बी नामावलियाँ भी अवश्य अरुचिकर हो गई हैं। किन्तु यह उस युग की सामान्य प्रवृत्ति थी। अस्तु कवि इन दोनों के लिये अवश्य क्षमा का पात्र है। वस्तुतः पद्मावत हिन्दी का सबसे पहला उत्कृष्ट प्रबंध-काव्य है।

पंचम अध्याय

अखरावट

जायसी का अन्तिम काव्य है 'अखरावट।' यह ४७६ पंक्तियों का छोटा-सा काव्य है, जिसमें ५४ दोहे, उतने ही सोरठे तथा ३७१ चौपाइयाँ (अर्द्धालियाँ) हैं। सर्व प्रथम एक दोहा तत्पश्चात् एक सोरठा है जिस पर गिनती नहीं डाली गई है। इन के पश्चात् सात अर्द्धालियों के अनन्तर फिर वही दोहे और सोरठे का क्रम है।

वर्ण्य विषय

सर्व प्रथम कवि ने शून्यावस्था में केवल ब्रह्म की स्थिति का वर्णन किया है। ब्रह्म को अपना ऐश्वर्य प्रकट करने की इच्छा हुई इस हेतु समस्त संसार की रचना हुई। सर्व प्रथम चार फरिश्ते रचे गए। इन चारों ने चार तत्त्व[1] मिला कर पाँच भूतों से युक्त दश द्वार वाला पुतला रचा। इस प्रकार आदम की उत्पत्ति हुई। ईश्वर ने फरिश्तों को आज्ञा दी कि इस को प्रणाम करो। इब्लीस के अतिरिक्त सबने आदम को 'सिजदा' किया। इब्लीस को अनन्य भक्त समझ कर दशम द्वार का पहरुआ नियुक्त कर दिया गया।

इसके उपरान्त हौआ की रचना की गई और इन दोनों को स्वर्ग में विहार करने भेज दिया गया। उन्होंने नारद के बहकाने से वर्जित फल 'गेहूँ' खा लिया। इस अपराध के कारण उन दोनों को वहां से निकाल दिया गया। वे दोनों बहुत समय तक वियोग में तड़पते रहे। अन्त में भगवान् की कृपा से उनका पुनर्मिलन हुआ। इस प्रकार उन दोनों से सृष्टि उत्पन्न हुई—हिन्दू और तुरुक दोनों उन्हीं की सन्तान हैं।

इसके पश्चात् कवि ने वर्णन किया है कि इस शरीर की रचना भी संसार की भाँति दो पक्ष-युक्त की गई है। इसी शरीर में पुले सरात, स्वर्ग-नरक, सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, ऋतु, आदि सभी हैं। इस शरीर रूपी मन्दिर में पांच ठग भी हैं। अतः उनसे बचने के लिये

१—शामी मतों में वायु, जल, अग्नि और मिट्टी चार ही तत्व माने गये हैं।

बहुत ही सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। फिर कवि ने श्रवण, आँख, नाक और मुख में चार सेवक, फरिश्ते, मित्र, इमाम, आस्मानी पुस्तकों आदि की कल्पना की है।

इसके पश्चात् कवि ने मन की चंचलता का वर्णन किया है। उसी की चंचलता के कारण स्वप्न में संसार प्रकट होता है। इसी चित्त के ऊपर परमहंस है। इसके निकल जाने पर शरीर मिट्टी के समान रह जाता है।

माता के रक्त (रज) और पिता के बिन्दु (वीर्य) से मनुष्य की उत्पत्ति होती है। हृदय रूपी दर्पण यदि स्वच्छ कर किया जावे तो उसके दर्शन हो जाते हैं। परन्तु अहंकार के कारण वह दूसरा प्रतीत होता है। फिर कवि ने शरीर के सात खण्डों में सात ग्रहों की कल्पना की है। वास्तव में केवल वही संसार में व्याप्त है और सब उसी के रूप हैं। इसके पश्चात् कवि ने अपनी धारणा प्रकट की है कि यदि इस जन्म में उसका परिचय न किया गया तो यह जन्म वृथा है।

तदनन्तर कवि ने संसार की असारता प्रकट कर तप साधने का उपाय बतलाया है। फिर प्रश्न द्वारा कवि मनुष्यों का ध्यान आकर्षित करता है कि उनको विचारना चाहिए कि वे कहाँ से आए हैं और क्यों आए हैं? साधनों का विवेचन करते हुए कवि ने गुरु के महत्व का वर्णन किया है। समस्त धर्मों में इस्लाम को श्रेष्ठ बतलाया है। तत्पश्चात् अपनी दोनों गुरु-परम्पराओं की प्रशंसा की है।

इसके पश्चात् हंस-रूपक, शून्य-विवेचन, घी-रूपक, तथा दीपक-रूपक का वर्णन किया है। तदनन्तर नाम-महिमा, अहंकार-विनाश की आवश्यकता तथा जप आदि अन्य साधनों का विवरण दिया है। शरीर-दर्पण का पूर्ण रूपक वर्णन कर आदम नाम की व्याख्या की है। अन्त में अपनी साधना को गुप्त रखने का आदेश देकर कबीर की प्रशंसा करते हुये जुलाहा-कर्म रूपक के साथ अक्षर-परक कविता समाप्त कर दी है।

इसके पश्चात् चेला-गुरु-संवाद के रूप में सिद्धान्त विवेचन किया है। चेला प्रश्न करता है, "एक होकर किस प्रकार अन्य को

प्रतीति होती है तथा अहंकार किस प्रकार मिटाया जा सकता है ?" गुरु समाधान करता है कि वास्तव में वही सत्य है। व्यवहार में अन्य का बोध होता है। फिर वही रह जाता है।

शिष्य पुनः आपत्ति करता है, 'यदि सब कुछ वही है तो मनुष्य एक को प्रेम और अन्य को घृणा क्यों करता है ?' गुरु सूर्य के प्रकाश के उदाहरण से समझाता है।

शिष्य अन्तिम प्रश्न करता है, 'आकाश किस पर स्थित है ? बादल-बिजली कहाँ से आती हैं ?' आदि। गुरु उत्तर में पवन के महत्व का वर्णन करता है और समझाता है कि सब कुछ उसी की आज्ञा से होता है अन्त में गुरु ईश्वर के गुणों का गान करता है और समझाता है कि यह विषय कहने से संबंध नहीं रखता, बिना बिचारे कुछ समझ में नहीं आ सकता। अतएव धैर्य पूर्वक साधन में लग जाना चाहिये और प्रेम-गाथाएँ वर्णन करनी चाहिए क्योंकि कहने वाला तो शीघ्र ही नष्ट हो जावेगा, परन्तु कहानी बहुत दिनों तक चलती रहेगी। इस प्रकार विचार-तारतम्य स्थायित्व प्राप्त कर सकेगा।

आधार

इस पुस्तक में कवि ने अपने विश्वास के अनुसार संसार की उत्पत्ति का कारण, प्रकार, प्रयोजन, आदि का वर्णन किया है। इस्लामी पुस्तकों के अनुसार ईश्वर ने सर्व प्रथम मुहम्मद साहब का नूर उत्पन्न किया—

गगन हुता नहिं महि हुती, हुते चंद नहिं सूर।
ऐसइ अंध कूप मंह, रचा मुहम्मद नूर ॥ (३०३)

फिर इन्हीं मुहम्मद साहब की प्रीति के कारण संसार की रचना की—

तेहि कै प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा ॥ (३०४)

तत्पश्चात् आदम को अपने अनुरूप बनाकर फरिश्तों को आज्ञा दी कि इसको प्रणाम करो। इबलीस को छोड़ सभी ने आदम को सिजदा किया।[1] उस समय से इबलीस शैतान घोषित कर दिया

१—ए० यूसुफ़ अली : दी होली कुरान, पृ० २५, अध्याय २, आयत ३४।

Then We said to the angels;
"Bow down to Adam"; and they bowed down.
Not so Iblis; he refused and was haughty.
He was of those who reject Faith.

गया। उसने भी ईश्वर का विरोध प्रारम्भ कर दिया। उसने आदम और हौआ को बहकाया और आज पर्यन्त धर्मात्माओं को रुच धर्म से हटाता और पाप की ओर प्रेरित करता है। शैतान के जाल में फँसने के कारण आदम परमात्मा का कोप-भाजन बना और वह स्वर्ग से बहिष्कृत किया गया। इस प्रकार मनुष्य-जीवन में दुःख का श्री गणेश हुआ।

सूफी मत वस्तुत: इस्लामी कर्म-काण्ड के विरोध की प्रतिक्रिया थी। अतएव सूफी बागी होता है।[1] परन्तु 'शरीअत' का विरोध करने पर जीवन संकट में पड़ता था। फलत: उस पर विश्वास प्रकट करते हुए भी सूफी अपनी स्वच्छन्द प्रकृति का परिचय देते थे। जायसी ने भी इस्लाम पर पूरी आस्था प्रकट करते हुये साधना क्षेत्र में अपने अनुभवों को सिद्धान्त रूप दिया है। इन सिद्धान्तों में मुख्यत: संसार की असारता, मोहत्याग, ईश्वर प्रेम, सादा जीवन आदि का महत्व वर्णित है। देखा भी जाता है कि मनुष्य वर्षों की साधना और सत्यनिष्ठा के पश्चात् तत्व-ग्रहण की क्षमता प्राप्त कर पाता है। उस समय वह सम्प्रदायवाद से ऊँचा उठ जाता है। उसके विचारों में प्रौढ़ता होती है और होता है एक सर्वजनीन आकर्षण। यही कारण है कि 'अखरावट' के सिद्धान्त प्रायः सर्व सम्मत एवम् रुवे-कालीन हैं।

रचना-काल

कुछ विद्वानों का यह अनुमान कि यह कृति सं० १५७५ वि० (१५१८ ई०) से पूर्व की है, किस प्रकार सारहीन है—इसका विवेचन पहिले ही किया जा चुका है। जायसी ने इस काव्य का रचना-काल नहीं दिया है, न इसमें शाहे वक्त की प्रशंसा है क्योंकि यह मसनवी नहीं है। यह तो जायसी का सिद्धान्त-ग्रन्थ है। अस्तु इसके रचना-काल के निर्णय के लिये अन्य बातों का आश्रय लेना पड़ता है।

१—मौ० अब्दुल हक : उर्दू की इब्तिदाई नशानुमा में सूफियाये कराम का काम, पृ० १—

"यह एक किस्म का बागी होता है जो रस्मोजाहिरदारी को जो दिलों को मुरदा कर देती है रवा नहीं कर सकता और उसके खिलाफ़ इल्म बग़ावत बुलन्द करता है।"

कवि के तीन प्राप्य ग्रंथों में से दो ग्रन्थों में दो गुरु-परम्पराओं का तथा एक में केवल एक गुरु-परम्परा का उल्लेख मिलता है। अतः स्पष्ट है कि जायसी का प्रारम्भ में केवल एक ही गुरु-परम्परा से सम्बन्ध था किन्तु बाद में दूसरी गुरु-परम्परा से भी सम्पर्क हुआ। इस प्रकार बाद के काव्यों में उन्होंने दोनों परम्पराओं का गुण-गान किया। इससे यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि 'अखरावट' की रचना 'आखिरी-कलाम' से अवश्य ही बाद में हुई।

अब प्रश्न यह है कि 'पद्मावत' और अखरावट में कौन पहली और कौन बाद की रचना है। इन दोनों काव्यों की रचना शैलियों की प्रौढ़ता एवम् विशदता की परीक्षा करने के उपरान्त सैयद कल्बे मुस्तफा साहब का निर्णय है कि यह जायसी की अन्तिम रचना है।[1] हम भी मुस्तफा साहब के निर्णय से पूर्णतया सहमत हैं। इस काव्य में छन्दगत दोष न्यूनतम है। दोहे-चौपाइयों में माधुर्य भी अधिक हैं और भाषा भी अधिक सुस्थर और व्यवस्थित है। कवि ने एक नवीन छन्द सोरठे का भी सफल प्रयोग किया है। कुछ सोरठों के चारों चरणों की तुकों में साम्य है जिससे यह छन्द विशेष श्रुतिमधुर बन गये हैं। गोस्वामी जी ने भी इस प्रकार के पद्यों का प्रयोग किया है जो जनता में बड़े लोक-प्रिय बन गये हैं।

प्रायः यह भी देखा जाता है कि कवि अपनी वैयक्तिक भावनाओं का स्पष्टीकरण अन्त में ही करते हैं यद्यपि उनका यत्र-तत्र समावेश तो उनकी समस्त रचनाओं में व्याप्त रहता है। ऐसा ग्रन्थ भी स्वान्तः सुखाय ही रहने के कारण प्रायः सर्व-प्रिय नहीं होता। उसमें कवि की मनस्तुष्टि रहती है। यद्यपि गोस्वामी जी का विशेष ख्याति प्राप्त काव्य 'रामचरितमानस' है, तथापि उनकी भक्ति-साधना की उच्चतम कृति 'विनयपत्रिका' है जो मानस के बाद की रचना है। गुप्त जी की आधुनिक कृतियाँ भी इसी सिद्धान्त की ओर इंगित

१—सैयद कल्बे मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी, पृ० १६०—"अल्फाज का इंतिखाब, जुबान की रवानिगी, बन्दिश की चुस्ती पता देती है कि यह नज्म शायर जायसी के दौर आखिर का नतीजा है। इसके यह करायन हैं कि अखरावट 'पद्मावत के बाद तसनीफ हुई है :"

करती है और इसी प्रकार की रचना 'अखरावट' है।

ध्यान पूर्वक अनुशीलन करने पर अखरावट में एक चौपाई मिलती है। जो बड़े महत्व की है—

कहा मुहम्मद प्रेम कहानी। सुनि सो ज्ञानी भए ध्यानी॥ (३०३)

वह कौन सी कहानी है जिसको सुन कर ज्ञानी लोग भी परम प्रिय के प्रेम में ध्यानावस्थित हो जाते है। निश्चय ही जायसी की वह प्रेम-कहानी 'पद्मावत्' है। इस प्रकार 'अखरावट' पद्मावत के पीछे की रचना ठहरती है।

जनश्रुति के आधार पर भी अखरावट की रचना अमेठी के राजा के कहने पर हुई थी।[1] परन्तु राजा का जायसी से परिचय 'पद्मावत' के द्वारा ही हुआ था। अस्तु अखरावट पद्मावत के बाद की ही रचना ठहरती है।

अस्तु जन श्रुति के आधार पर, शैली की प्रौढ़ता एवम् विशदता के समर्थन से तथा आध्यात्मकता के विशेष झुकाव के कारण हम इस काव्य को पद्मावत के बाद की ही रचना मानते हैं पद्मावत का रचना-काल ९४७ हि० (१५४०) ई० है। जायसी की निधन-तिथि भी ९४९ हि० (१५४२ ई०) प्रायः असंदिग्ध ही है। अस्तु अखरावट की रचना-तिथि ९४८ हि० का अन्त अथवा ९४९ का प्रारम्भ (सन १५४२ ई०) ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

शैली

प्रस्तुत काव्य न तो प्रबन्ध काव्य है और न मुक्तक ही कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें वे गुण नहीं हाये जाते जो एक मुक्तक के लिए आवश्यक ठहराए गये हैं। अपने वर्तमान रूप में यह एक सिद्धान्त-काव्य है। इसमें कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जिनको हम अलग-अलग शीर्षकों में भी नहीं विभाजित कर सकते। यह विवेचन एक दूसरे से गुंथे हुए चलते हैं। सिद्धान्त काव्यों की दो परिपाटियाँ प्रचलित थीं। प्रथम—शास्त्रीय पद्धति, जिसमें अलग-अलग सिद्धान्तों पर अलग-अलग पूर्ण विवेचन रहता है; इसमें वर्णित सिद्धान्तों का विभाजन प्रायः विषयानुकूल रहता है अन्यथा ऐसा विभाजन सरलता से किया जा सकता है। दूसरी पद्धति है

१—ए० जी० शिरेफ : पद्मावती, भूमिका, पृ० ५।

अशास्त्रीय पद्धति जिसमें विवेचन किसी विशेष क्रम से न होकर मन माने ढंग पर होता है, जो भी विषय और सिद्धान्त सूझ पड़ा उसी की व्याख्या होने लगी। इसमें अनेक आवश्यक सिद्धान्त छूट जाते हैं और बहुतों का विवेचन बार-बार हो जाता है। यह पद्धति अधिकतर निर्गुण सम्प्रदाय की देन थी। निर्गुणिए संत पढ़े लिखे तो कम थे, केवल अपनी प्रत्युत्पन्न बुद्धि और विदग्धता के आश्रय में अपने सिद्धान्तों का समर्थन एवम् विरोधियों का खंडन करते थे। इन्हीं की एक पद्धति ककहरा-पद्धति थी।[1] इस पद्धति में वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर पर कुछ सिद्धान्तों का विवेचन किया जाता था।

कवियों को यह पद्धति चमत्कारपूर्ण प्रतीत हुई। परिणाम स्वरूप रीतिकाल में इसका पर्याप्त जोर रहा। गत शताब्दी के वृद्ध पुरुष भी ककहरा के विशेष कायल थे। हमारे एक पूर्वज थे, वे वर्णमाला के स्थान पर ककहरा के सिद्धान्त वाक्यों को याद कराया करते थे। उनके कतिपय शिष्यों को वे अभी तक स्मरण हैं।[2] कहने की आवश्यकता नहीं है कि ऐसी कविता विशेष चमत्कार पूर्ण समझी जाती थी। सारांश यह है कि अखरावट ककहरा पद्धति का काव्य है जिसका विषयानुकूल विभाजन नहीं हो सकता। केवल वर्ण-माला के अक्षर-क्रम से विभाजन किया जा सकता है। परन्तु इस विभाजन से काव्य के विषय को समझने में किसी प्रकार की सहा-यता नहीं मिलती।

नाम

इस काव्य का नाम अखरावट है, जो अक्षर-वृत्त का तद्भव रूप प्रतीत होता है। कुछ विद्वान् इसका नाम 'अखरावत' अथवा

१—"कबीर के खास-ग्रन्थ के अन्तर्गत चौंतीसी पुस्तक है। इसमें नागरी वर्ण माला के ३३ व्यंजन और ३४ वें ओंकार में से एक एक को प्रत्येक पद्य के आदि में रखकर धार्मिक कविता की गई है।"
—देखिये, कबीर, बचनावली, भूमिका, पृ० ३३।

२—कुछ उदाहरण देखिये —

क का रे काम करत कछु अलस न कीजै।
ख खा रे खान पान में लोभ न कीजै।
ग गा रे गाय माय की सेवा कीजै।
घ घा रे घी के बासन तेल न कीजै। आदि

'अखरावटी' किंवा 'अखरौटी' भी मानते हैं। अन्तिम नामों की ध्वनि तो कवि के विषय-प्रवेश की घोषणा में निकलती है—

कहौं सो ज्ञान ककहरा, सब आखर महँ लेखि।
पंडित पढ़ै अखरावटी, टूटा जोरेहु देखि ॥ (३०३)

परन्तु जायसी के अन्य ग्रन्थों पदमावत, सखरावत, इतरावत, मटकावत आदि के अनुकरण पर इस काव्य का नाम 'अखरावत' ही अधिक ठीक प्रतीत होता है।

विभाजन

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस काव्य का विषयानुसार विभाजन तो हो नहीं सकता। किन्तु नामानुकरण से यह ग्रंथ दो भागों में सरलता से विभक्त किया जा सकता है। पूर्वार्द्ध—प्रारम्भ से लेकर अन्तिमाक्षर 'न'[1] (ज्ञ) के बाद ४४ वें सोरठे तक। तथा उत्तरार्द्ध—४४ वें सोरठे के अनन्तर से लेकर अन्त तक जिसमें गुरु-चेला-संवाद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि मूलतः यह दो काव्य रहे होंगे।[2] हमको भी यह सम्मति समीचीन प्रतीत होती है। सम्भव है कि गुरु-चेला-संवाद एक 'पेम्फलेट' के रूप में रहा हो जिसमें जायसी के विशेष सिद्धान्तों का समर्थन है। बाद में सिद्धान्त परक काव्य 'अखरावट' के अधिक अनुकूल समझकर उसी के अंत में जोड़ दिया गया होगा। इसी प्रकार 'हनुमद्-बाहुक' को कुछ लोग गोस्वामी जी का स्वतंत्र ग्रंथ और कुछ 'कवितावली' के अन्तर्गत मानते हैं। अस्तु गुरु-चेला-संवाद को अखरावट के अन्तर्गत मानने में कोई विशेष त्रुटि नहीं दिखाई देती।

छन्द

जायसी के अन्य काव्यों की भाँति इसमें भी सात-सात अर्द्धा-

१—ककहरा पद्धति में वर्णों के विषय में कुछ विशेष रीतियाँ हैं—

(क) स्वराक्षरों को प्रायः छोड़ दिया जाता है।

(ख) कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग के पंचमाक्षर तथा वर्णमाला के अन्तिमाक्षर को 'न' कहा जाता है और प्रायः एक ही पंक्ति इनके स्थानों पर समान रूप से उद्धृत की जाती है।

(ग) य का ज, श का स, ष का ख, क्ष का ख प्रायः माना जाता है, किन्तु 'त्र' का 'छ' जायसी की अपनी नवीन कल्पना है।

२—डा० कमल कुलश्रेष्ठ : मलिक मुहम्मद जायसी, भाग १ पृ० ४९।

लियों का एक सप्तक है। इस सप्तक के पश्चात् एक दोहा भी पूर्ववत् है। किन्तु दोहे के साथ-साथ एक सोरठा रखकर जायसी ने इस काव्य में नवीनता ला दी है। कवि ने सोरठों की रचना भी विशेष उद्देश्य से की है, ऐसा प्रतीत होता है। प्रायः सोरठे में जिस तथ्य की ओर संकेत किया है, उसी का स्पष्टीकरण बाद की चौपाइयों में किया गया है परन्तु कवि इस नियम का निर्वाह सब स्थानों पर नहीं कर सका है। वैसे सोरठों का प्रयोग बड़ा ही उपयुक्त बन पड़ा है।

इस काव्यगत चौपाइयों में केवल दस के अंत में दो ह्रस्व (।।) हैं और पचास के अंत में एक ह्रस्व और एक दीर्घ (।S) है। शेष के अन्त में दोनों दीर्घ (SS) हैं। परन्तु तुकों में कहीं भी तनिक भी गड़बड़ नहीं है। दोहे और सोरठे तो प्रायः सर्वथा दोषमुक्त हैं।

विशेष

एक बात और ध्यान देने की है। 'आखिरी-कलाम' तथा 'पद्मावत' का प्रारम्भ चौपाई से किया गया है, जिसमें कर्त्ता का स्मरण किया गया है परन्तु 'अखरावट' का प्रारम्भ दोहे से किया गया है और उसमें मुहम्मद साहब के नूर के सर्व प्रथम निर्माण किये जाने की घोषणा की गई है। इससे भी कवि के सिद्धान्त-विवेचन का लक्ष्य प्रकट होता है। अतएव इसमें काव्यानुभूति अथवा रसादि के परिपाक की खोज करने पर अवश्य ही निराशा मिलेगी। किन्तु इसका महत्त्व दूसरे प्रकार से है। इसमें न तो दार्शनिकों की सी शुष्कता है और न निर्गुणियों की सी अक्खड़ता है। इस काव्य में कवि ने बड़ी ही सरस भाषा में मनोरम ढंग से अपने सिद्धान्त हृदयंगम कराये हैं। जो कुछ भी कहा है सुस्पष्ट भाषा में कहा है, जिसमें पाठक का मन रमता है और प्रभावित होता है।

इसमें वर्णित धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन एवम् पारस्परिक सामंजस्य भावना के सद् प्रयत्नों का वर्णन आगे दर्शन वाले अध्याय में मिलेगा।

———

षष्ठ अध्याय

काव्य-कला

कलाओं का वर्गीकरण

पाश्चात्य समीक्षकों ने कलाओं को उपयोगी एवम् ललित दो वर्गों में विभाजित किया है। उपयोगी कलाओं में सब कार्य आ जाते हैं जो मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हैं। ललित कलायें केवल पाँच मानी गई हैं—वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत एवम् काव्य। इन में से वास्तुकला तो मूलतः उपयोगी ही है। केवल विशेष सौन्दर्याभिव्यक्ति एवम् निर्माता की प्रवृत्ति की द्योतक होने के कारण उसको अन्य उपयोगी कलाओं से अलग कर ललित में सम्मिलित करना विशेष समीचीन नहीं प्रतीत होता।

सौन्दर्याभिव्यक्ति के अतिरिक्त ललित कलाओं में उनके निर्माता के हार्दिक संवेदन का प्रत्यक्षीकरण भी होता है जिससे द्रष्टा एवम् श्रोता का हृदय द्रवित होकर तदाकार अनुभूति मग्न हो जाता है। इन कलाओं को उपयोगी श्रेणी से इस कारण अलग नहीं किया जाता कि उनका कोई उपयोग ही नहीं होता, अथवा कोई उपयोग किया ही नहीं जा सकता, वरन् इसलिये कि इनके निर्माण से उनके निर्माताओं का ध्येय सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यंजना ही रहता है। यदि ऐसी कृतियों से स्वार्थ-सिद्धि किंवा अन्य उपयोग (दुरुपयोग) किए जावें, तो वह उन कलाओं के प्रति व्यभिचार कहा जावेगा। अस्तु ललित कला अपने निर्माता की चित्त-स्थिति का प्रतिबिम्ब होती है।

परन्तु भारत में १४ विद्याओं और ६४ कलाओं (उपविद्याओं) का उल्लेख मिलता है। इन ६४ कलाओं में प्रायः समस्त उपयोगी कलायें आ जाती हैं और विद्याओं के अन्तर्गत निपुणता परक कर्म आ जाते हैं। कोई-कोई १४ विद्याओं में ४ वेद, ६ वेदांग, पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और स्मृति मानते हैं।[१] एक ध्यान देने

१—म० म० डा० गंगानाथ झा : कवि-रहस्य, पृष्ठ ३।

योग्य बात यह है कि 'कला' शब्द का प्रयोग ही भारतवर्ष में उपयोगी कलाओं के लिये सुरक्षित सा था। आजकल पाश्चात्यानुकरण पर काव्य की गिनती कलाओं में होने लगी है किन्तु भर्तृहरि के समय तक साहित्य एवम् संगीत कलाओं से अलग माने जाते थे—

'साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः।'

पाश्चात्य विद्वान् भी काव्य को सर्वोपरि कला स्वीकार करते ही हैं। अतएव इतना तो निश्चित है कि काव्य-रचना एक उच्चतम पवित्र एवम् महान कर्म है। कुछ विद्वान् काव्य के साथ 'सत्' विशेषण का भी प्रयोग करते हैं। परन्तु हमारे विचार से काव्य पूर्णतया 'सत्' होना चाहिये, उसमें 'असत्' की सम्भावना ही असह्य है। जो असत् है वह काव्य हो नहीं सकता, चाहे उसे अन्य कोई भी संज्ञा दे दी जावे। सारांश यह है कि काव्य आनन्द प्रदान करता है, चित्तवृत्तियों का परिमार्जन करता है और हृदय को संवेदनशील बनाता है, संक्षेप में मनुष्य का बाह्य परिस्थिति से ऊँचा उठाकर कल्पना लोक में विचरण की क्षमता प्रदान करता है।

काव्य के अंग

प्रत्येक वस्तु की भांति काव्य के भी दो अंग हैं—एक बाह्य और दूसरा अन्तः। इन्हीं दोनों अंगों को यवनाचार्यों ने Matter (अन्तः या आत्म) और Method (बाह्य या ढंग) नाम देकर इनका निरूपण किया है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि एक भाव होता है और दूसरा होता है उसको व्यक्त करने का ढंग। जिस प्रकार आत्मा विहीन सुन्दरतम शरीर मिट्टी है उसी भांति कोई भी काव्य, चाहे उसमें कितना ही बाह्याकर्षण हो, व्यर्थ है यदि उसमें अन्तः (आत्म) न हो। इसी आधार पर कवियों की दो श्रेणियाँ की जाती हैं—एक अधम (निकृष्ट) जिनमें केवल बाह्य सौन्दर्य होता है तथा दूसरे उत्तम जिनका काव्य अन्तः सौन्दर्य से ओत-प्रोत हो। इन उत्तम कवियों को भी दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है —१, प्रकृत कवि,—वे कवि हैं जिनके काव्य में अन्तः सौन्दर्य विशेष होता है यद्यपि उनमें बाह्य सौन्दर्य भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है। २, कुशल कवि वे हैं जिनमें बाह्य एवम् अन्तः दोनों पक्ष अति उत्तम होते हैं, दोनों का सुन्दर समिश्रण रहता है। बाह्याकर्षण से संबंधित होने

के कारण बाह्य सौन्दर्य को कला-पक्ष (कुशलता-परक) नाम दिया गया है और अन्तः सौन्दर्य को भाव-पक्ष कहते हैं।

हम इन दोनों पक्षों को क्रमशः अभिव्यक्ति और अनुभूति कहेंगे। साधारण पाठकों पर अभिव्यक्ति (बाह्य कर्षण) का प्रथम और विशेष प्रभाव पड़ता है अतएव हम जायसी की अभिव्यंजन क्षमता का प्रथम अध्ययन करेंगे।

अभिव्यक्ति

भाषा

भावों को व्यक्त करने का साधन भाषा है। प्रत्येक सम्भ्रान्त मुसलमान की भांति जायसी फारसी से सुपरिचित थे। धार्मिक भाषा होने के कारण अरबी शब्दों से भी उनका परिचय रहा होगा। इन सूफी फकीरों की एक और बड़ी विशेषता थी—वे जिस भूखण्ड में गए वहां की बोली को इन्होंने सीखा और वहां के रहने वालों में अपने विचार उनकी ही बोली में व्यक्त किये।[1] अस्तु जायसी अवध प्रान्त में रहने के कारण वहां की जन साधारण में बोली जाने वाली अवधी से पूर्ण परिचित थे। उन्होंने अपने काव्य वहां की जनता में अपने विचारों को फैलाने के लिए लिखे। अतएव इन काव्यों की भाषा जन-साधारण में बोली जाने वाली अवधी है, जिसमें न तो संस्कृत की तत्समता के दर्शन होते हैं और न विदेशी शब्दों की ओर ही आकर्षण प्रतीत होता है।

शब्द-भंडार

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है जायसी ने अवध प्रान्त में बोले जाने वाले शब्द ही प्रायः प्रयोग किए हैं। विदेशी शब्दों की संख्या अत्यल्प है। अखरावट में धर्म संबंधी कुछ शब्द अरबी भाषा के हैं जैसे, नूर, जमाल, जलाल, नबी, इल्लिलाह, आदि। पद्मावत में इन शब्दों का प्रयोग खलीफाओं अथवा पीर के संबन्ध

१—मौ० अबदुलतहक़ उर्दू की इब्तिदाई नशोनुमा में सूफियाये कराम के काम, पृष्ठ ४।

में हुआ है। यथा सिद्दीक, अदल, मखदूम, मुरशिद आदि। आखिरी कलाम में बाबर की प्रशंसा में कुछ विदेशी शब्दों का प्रयोग हो गया है। किन्तु इन शब्दों की संख्या तीनों काव्यों में नगण्य है। एक फ़ारसी पद का प्रयोग भी 'पद्मावत' में मिलता है :—

'केस मेघावर सर ता पाईं। (२)

फारसी के अनुकरण पर कुछ समास भी कवि ने निर्माण किए हैं—

'लीक-पखान पुरुष कर बोला।'

तथा, 'भा भिनसार किरिन-रवि फूटी।'

हिन्दी के व्याकरण के अनुसार पखान-लीक' तथा 'रवि-किरन' होना चाहिये।

फारसी में 'देव' शब्द दैत्य किंवा राक्षस का पर्याय है। जायसी ने इस अर्थ में भी इस शब्द का प्रयोग किया है—

'राजहिं देखि हँसा मन देवा।'

संस्कृत शब्दों के तत्सम रूप भी कम हैं। प्रायः वे सरल तत्सम शब्द हैं जो सर्व साधारण में प्रचलित थे।

आज के साहित्यिक इस बात को भूल कर कि कवि ने अपनी कहानी जन साधारण के हितार्थ लिखी, उसके कुछ शब्दों में देहाती-गंध अवश्य पाते हैं।' यथा अम्बिरथा (व्यर्थ), पाजी (पैदल), भारि (समस्त), खोंपा (चोटी), परवस्ते (सुआ), मन्दचाला (नीच), पुरविला (पूर्व जन्म का), बिसायंध (तुलना कीजिए-चिरायंध, सड़ांयध), निछोही (निष्ठुर) आदि। होंछा (इच्छा) का प्रयोग तो अकेले 'पद्मावत' में कवि ने लगभग १५ स्थलों पर किया है। 'बिसवासी' (विश्वास घाती) का प्रयोग तो ब्रज भाषा के कवियों घनानन्द और दूलह में भी पाया जाता है।'

जायसी ने कुछ शब्द बनाए भी प्रतीत होते हैं। फांस शब्द का अर्थ है बंधन। कवि ने इसका विलोम अनफांस (मोक्ष) गढ़

१—कबहुं वा बिसासी सुजान के आंगन मो अंसुवान को ले बरसो—

घनानन्द।

'जापे हौं पठाई ता विसासी पै गई न दीसै, संकर की चाही चन्द्रकला—

दूलह।

डाला—

जेकर पास अनफांस, कहु हिय फिकिर समारि कै।
कहत रहै हर सांस, मुहम्मद निरमल होइ तब ॥ (३३०)

सुहाग का विलोम दुहाग तो कबीर में भी पाया जाता है।[1]

पार्वती के लिए 'महेशी' और गंधर्वसेन तथा सिंहल के षष्ठी रूप 'गंधव सेनी' और 'सिंहलपुरी' बहुत ही उपयुक्त है। छंद की आवश्यकतानुसार राम का रामा, विनती का विनाती तथा स्त्रीलिंग को पुलिंग रूप देना[2] जायसी में भी पाया जाता है, किन्तु बहुत कम। शब्दों का बेढंगी तोड़-मरोड़ तो प्रायः नहीं है। एक और स्थल देखिए—

आइ मिलै चितउर के साथी।
सबै बिहँसि कै दीन्ही हाथी ॥ (१४५)

यहां 'हाथी दीन्हा' पद का अर्थ है 'हाथ मिलाया'।

किन्तु कुछ शब्द अवश्य ऐसे हैं जो अपनी प्राचीनता के कारण कुछ दुरूह प्रतीत होते हैं—यथा, अढवायक अढ़वैयन, पायल, अहुठ जोगवाट (अथवा जुगाटा; तुलना कीजिए-सिलोटा, पथरोटा)

व्याकरण-सम्मत

बोलचाल तथा साहित्यिक भाषा में एक विशेष अन्तर पाया पाया जाता है। किसी प्रदेश विशेष की बोल चाल की भाषा में एक शब्द का एक ही रूप उस भाग में पाया जाता है और उसका प्रयोग भी एक ही प्रकार से होता है, जिनका नियमन व्याकरण से होता है। किन्तु साहित्यिक भाषा का क्षेत्र विस्तृत होता है, उसमें कभी-कभी देशज (local) प्रवृत्ति कार्य करती है। अतएव एक ही शब्द विभिन्न प्रान्तों के लेखकों की एक ही सहित्यिक भाषा में विभिन्न रूप धारण कर लेता है और व्याकरण के अनुशासन से स्वच्छंद हो जाता है।

१—हँस हँस कंत न पाइया, जिन पाया तिन रोय।
दासी खेले पिय मिलै, कौन दुहागिन होय ॥—कबीर।

२—देखि चरत पद्मावत हंसा'।
तथा 'दशन देखि के बीजु लजाना ॥'—जायसी।
तुलना कीजिए —
'परम बचन तब सीता बोला।'—तुलसी।

आजकल हमारे प्रदेश की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली है किन्तु पश्चिम और पूर्व के लेखक एक ही शब्द का भिन्न लिंगों में प्रयोग कर जाते हैं। अस्तु जायसी की भाषा में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन प्रायः नहीं हुआ है क्योंकि उनकी भाषा बोल चाल की है—उन्होंने जिस शब्द का जिस प्रयोग में आते सुना उसका वैसा ही प्रयोग उन्होंने किया।

अवधी की सामान्य प्रवृत्ति क्रिया का रूप कर्ता के पुरुष, लिंग और बचन के अनुसार रखने की है। जायसी की भाषा तथा तुलसी की साहित्यिक अवधी दोनों में यह बात समान रूप से पाई जाती है।[1] किन्तु सकर्मक भूत कालिक क्रिया के लिंग-बचन अधिकतर पश्चिमी हिन्दी के ढंग पर कर्म के अनुसार रखे हैं—

'बसिठन्ह जाइ कही अस बाता।' (६६)

इसका कारण कदाचित दिल्ली से सम्पर्क रहा हो, किन्तु तुलसी में भी इसका पाया जाना इस बात का द्योतक है कि अमीर खुसरो, कबीर, प्रभृति के परिश्रम से 'पछाँही हिन्दी' अथवा 'भाखा' का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा था। इसी प्रकार कहीं-कहीं क्रिया का सामान्य आकारान्त रूप भी पाया जाता है जो तीनों पुरुषों, दोनों लिंगों और बचनों में एकसा रहता है—

उत्तम पुरुष—का मैं बोआ जनम ओहि भूंजी। (एक बचन)
हम तो ताहि देखावा पाऊ। (बहु बचन)
मध्यम पुरुष—तुइ सिरजा यह समुद अपारा। (एक बचन)
अब तुम आइ अंतरपट साजा। (बहु बचन)
प्रथम पुरुष—भूलि चकोर दिस्टि तंह लावा। (एक बचन)
तिन्ह पावा उत्तम कैलासू। (बहु बचन)

भविष्यत् क्रिया के रूप पूछब, बैठब, पाउब आदि पाए ही जाते हैं किन्तु कहीं कहीं इनका रूप पूछे, मारै, पछारै, आदि हो गए हैं। विभक्तियों के प्रयोग भी जायसी और तुलसी में समान पाए जाते हैं।

हाँ, जायसी की भाषा में न्यूनपदत्त्व दोष अवश्य पाया जाता है। वे प्रायः विभक्तियों, सम्बन्ध वाचक सर्वनामों तथा अव्ययों का लोप कर जाते हैं—

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १७९ व १८०।

विभक्ति-लोप—'जंघ छपा कदली होइ बारी।'
तथा,
सरजै लीन्ह सांग पर घाऊ। परा खड़ग जनु परा निहाऊ॥
अव्यय-लोप—'तब तंह चढ़े फिरें नौ भँवरी।'
तथा,
'पुनि सो रहै, रहै नहिं कोई।'

स्पष्ट है कि प्रथम उदाहरण में जब, नौ भँवरी फिरै' तथा दूसरे में 'जब कोई नहिं रहै' होना चाहिए।

सम्बन्ध वाचक सर्वनाम का लोप

'कँह सो दीप पतंग कै मारा।'

यहाँ पर पतंग से पहिले 'जेहि' (जिसने) पद लुप्त है।

सन्क्षेप में जायसी की भाषा में व्याकरण के नियमों का उल्लंघन प्रायः नहीं है। उनकी वाक्य-रचना स्वच्छन्द है। वह बोलचाल की सीधी-सादी भाषा है। उसका माधुर्य अपना माधुर्य है—बोल चाल की ठेठ अवधी का मिठास है। उसमें न विदेशी शब्दों की भरमार है, न शब्दों की तोड़-मरोड़, और न उसमें भौंड़े शब्द या बेहूदा वाक्य मिलते हैं। बोलचाल की भाषा का इतना निखरा हुआ अकृत्रिम मिठास अन्यत्र दुर्लभ है।

मुहाविरों का प्रयोग

मुहाविरों से भाषा सशक्त बनती है। इनकी सहायता से उसकी अभिव्यंजन-शक्ति बलवती हो जाती है। जो लेखक इनका प्रयोग जितनी ही अधिक सफलता से कर सकता है उसकी भाषा उतनी ही स्वच्छ एवम् ओजपूर्ण मानी जाती है। प्रत्येक भाषा के अपने विशिष्ट मुहाविरे होते हैं जो अन्य भाषा में यथार्थतः प्रकट ही नहीं किए जा सकते। अतएव किसी भाषा के मुहाविरों से परिचित हुए बिना कोई उस भाषा का सुलेखक नहीं बन सकता। अवधी भाषा मुहाविरों की रानी है। जायसी ने इनका मूल्य समझा और इनका प्रयोग अपने काव्यों में बड़ी ही सफलता से किया है। कहीं भी ये मुहाविरे ऊपर से थोपे हुए नहीं जान पड़ते। नीचे लिखे पद्यों में मुहाविरों की छटा दर्शनीय है:—

(१) देश देश के बर मांहि आवहिं। पिता हमार न आँख लगावहिं॥ २१)

(२) राजा सुना दीठि भै आना। (२१)

(३) जेइ तिल देखि सो तिल-तिल जरा। (४४)
(४) जोबन बान लेंहि नहिं बागा। (४६)
(५) राजा बहुत मुए तपि, लाइ, लाइ भुइ माथ।
काहू छुवै न पाए, गए मरारत हाथ ॥१५॥ (५६)
(६) को अस बात सिंघ मुख घालै। (७७)
(७) लीन्हेसि साँस, पेट जिउ आवा। (१०१)
(८) बोहित बहे, न मानहि खेवा। (१७३)
(९) भरा मास तेहि रोइ गवांवा। (३११)

कहावतों का प्रयोग

मुहाविरों की भाँति ही कहावतों के प्रयोग से भाषा में बड़ी सजीवता आ जाती है। जायसी ने मुहाविरों की भाँति कहावतों का प्रयोग भी बड़े कौशल से किया है। कहावतों के कुछ सुन्दर प्रयोग देखिए:—

(१) बोबै बबुर, लवै कित धाना। (३१७)
(२) आपु मरे बिनु सरग न छुवा। (२२७)
(३) काया जोग कथिन के कथे।
निकसै घिउ न बिन दधि मथै ॥ (५१)
(४) समुद न जान कुआ कर भेजा। (६३)
(५) जानउ घिउ बसंधर परा। (९७)
(६) भाइन मांहि होइ जिनि फूटी।
घर के भेद लंक जनु फूटी ॥ (१६६)

'तबेले की बला बन्दर के सर' एक प्रसिद्ध कहावत है। जायसी ने इसका बड़ा सफल रूपांतर किया है—

'तुरय रोग हरि माथे आए।' (३५)

गुण

गुण को काव्य का लावण्य माना गया है—

"अलंकृतमपि प्रीत्यै न काव्यं निर्गुणं भवेत्।
वपुष्य ललिते स्त्रीराणां हारो भारायते परम् ॥"[1]

गुण रस का चिर सहचर है।[2] नीरस काव्य में गुण होता ही

१—अग्नि-पुराण, ३४६। १।

२—'अलंकारां रसविना ऽवतिष्ठन्ते। गुणास्तावत रसं बिना नावतिष्ठन्ते।
—साहित्य-दर्पण, पृ० ४७८ का फुटनोट।

नहीं। गुण के तीन भेद हैं माधुर्य, ओज तथा प्रसाद।

ओज गुण वीर-काव्य का उपकारक होता है। इससे मन में तेज उत्पन्न होता है। जिस काव्य में टवर्ग की अधिकता, लम्बे-लम्बे समास, वर्गों के प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ वर्णों का योग, तथा 'र' का अन्य वर्णों के साथ योग विशेष पाया जावे वह काव्य ओज गुण युक्त कहा जाता है।[1] जायसी के युद्ध-वर्णन में कहीं-कहीं, किसी-किसी पंक्ति में कठिन वर्णों का प्रयोग हो गया है—

गरू गयंद न टारे टरही। टूटहि दाँत माथ गिरि परही ॥(२३०)

तथा, ठांठर टट फूट सिर तासू।

स्यो सुमेरु जनु टूट अकासू ॥ (२६३)

परन्तु न तो लम्बे-लम्बे समास हैं, न प्रथम-तृतीय और द्वितीय चतुर्थ वर्णों का योग पाया जाता है। अस्तु हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि जायसी की प्रकृति ओजगुण के अनकूल कदापि न थी।

जिस काव्य में ट, ठ, ड, ढ, के अतिरिक्त शेष वर्गों के वर्ण, वर्गों के पंचमाक्षर से संयुक्त वर्ण, ह्रस्व 'र' और 'ण' तथा समासों का अभाव किंवा लम्बे-लम्बे समासों का बहिष्कार हो वह काव्य माधुर्य गुणयुक्त कहलाता है। जायसी में केवल दो छोटे-छोटे पदों के ही समास हैं। एकाध स्थल पर तीन पदों के समास हैं जो प्राय: बहुत छोटे-छोटे पदों के योग से बने हैं। यथा; प्रेम-मद-भरे, 'अमिय-रस-भीने' आदि। इससे अधिक लम्बा समास कोई नहीं है। यह तो ऊपर ही कहा जा चुका है कि कवि ने कठोर वर्णों का प्रयोग प्राय: नहीं किया है। संयुक्त वर्ण भी अनुस्वार-मय ही हैं। अस्तु इनका समस्त काव्य माधुर्य गुण युक्त है।

"शब्द सुनते ही जिसका अर्थ प्रतीत हो जाय ऐसा सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण का व्यंजक होता है"[2] जिस प्रकार शुष्क काष्ठ में अग्नि तथा स्वच्छ वस्त्र में जल तत्काल व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार प्रसाद गुण चित्त में व्याप्त हो जाता है :—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छ जलवत्सह सैव यः' ॥ ७० ॥ सुत्र ४६

—काव्य-प्रकाश : ,पृष्ठ ४७६।

जायसी की समस्त रचना सरल है। उसके अर्थ की प्रतीत सहृदयों को तथा सर्व साधारण को भी तत्काल हो जाती है।

१—काव्य प्रकाशे, उल्लास ८, श्लोक ७४-७५।

२—पोद्दार : काव्य-कल्पद्रुम ,पृष्ट २२०।

केवल कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ न्यूनपदत्व के कारण किंवा कवि की विनोद-प्रिय प्रकृत्ति के कारण अथवा बहुज्ञता प्रदर्शन के फेर में पड़ जाने के कारण अर्थ दुरूह हो जाता है। ऐसे स्थलों के अतिरिक्त उसका काव्य सर्वत्र प्रसाद-गुण मय है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि जायसी के काव्य में ओज का अभाव है, किन्तु वह माधुर्य और प्रसाद गुणयुक्त है।

छंद

जायसी ने केवल तीन छंदों का प्रयोग किया है - दोहा, चौपाई और सोरठा। प्रत्येक काव्य में प्रयुक्त छंदों के गुण-दोषों का विवेचन उनके अन्तर्गत हो चुका है। यहाँ पर हम अन्य कवियों द्वारा प्रयुक्त इन्हीं छंदों में जायसी के छन्दों की तुलना करके देखेंगे कि वह कहाँ तक सफल प्रयत्न रहा है। जायसी के पूर्ववर्ती कवियों में जैन पंडितों, सिद्धों, नाथों, रासोकार, अमीर खुसरो और कबीर ने दोहे चौपाइयों का प्रयोग किया है। जैनों और सिद्धों की भाषा अपभ्रंश थी, अतएव इनको छोड़ देना ठीक है। रासोकार के काव्य में परिवर्तन, संशोधन एवम् परिवर्धन होते रहे हैं। अस्तु सम्भव है कि उसके छन्दों का वास्तविक रूप हमारे सम्मुख न हो। फिर भी इनकी तुलना कीजिए—

परे रहन रन खेत अरि, करि दिल्लीय—
जात चल्यौ प्रथिराज रन, सकल सूर भय सुध्य॥
तथा, सक समीप मन कुँवरि को, लग्यो बचन के हेतु।
अति विचित्र पंडित सुआ, कथन सुकथा अमेत॥
—पृथ्वीराज रासो, पद्म वती समय।

खुसरो रैन सुहाग की, जागी पी के संग।
तन मेरा मन पीउ को, दोउ भए एक रंग॥
तथा, गोरी सोवे सेज पर, मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई चहुँ देस॥
—अमीर खुसरो।

कबिरा बैद बुलाइया, पकरि के देखी बाँहि।
बैद न बेदन जानई, करक करेजे माहि॥
तथा, यार बुलावै भाव सों, मो पै गया न जाय।
धनि मैली पिउ ऊजला, लागि न सक्को पाय॥
—कबीर।

दोहों का प्रयोग ईसा की सातवीं शताब्दी से हो रहा था।[1] अतः वे पिंगल की खराद पर चढ़ कर लोगों के दिल में बैठ गये थे। उनमें प्रायः मात्राओं की न्यूनाधिक संख्या न होती थी। उनमें श्रुति-मधुरिमा आने लगी थी। रासोकार और खुसरो के दोहों में पर्याप्त स्वच्छता है। परन्तु कबीर की लापरवाही (फक्कड़पन) के कारण उनके दोहे कुछ विकृत हो गये हैं। क्रम-विकास के दृष्टिकोण से दोहा बिहारी के हाथों चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

चौपाइयों का प्रयोग जैन चरित काव्यों में है ही, रासों में, खुसरो की मुकरनियों में तथा कबीर में भी इनका प्रयोग पाया जाता है। किन्तु चौपाइयों में अभी इतनी सफाई न आई थी जितनी कि दोहों में। चौपाइयों में सफाई लाना जायसी का काम था। उनकी लय मधुर है, उनमें प्रवाह है। उनका अन्त प्रायः ऽऽ है किन्तु दो ह्रस्व (।।) अथवा एक ह्रस्व और एक दीर्घ (।ऽ) से अन्त होने वाली चौपाइयों की भी कमी नहीं है। वस्तुतः चौपाइयों का निखरा और मधुर रूप गोस्वामी जी में ही प्राप्त होता है।

एक प्रकार से जायसी प्रथम सोरठाकार हैं। यदि पद्य के प्रथम और तृतीय चरण पर जोर देना होता है तो कवि दोहे के स्थान पर सोरठे का प्रयोग करता है। इसी लिये प्रत्येक दोहे को सोरठे में परिवर्तित कर देने में उसकी सरसता जाती रहती है। जायसी ने अपने 'अखरावट' में ही सोरठों का प्रयोग किया है। यदि कवि को किसी सिद्धान्त के प्रारम्भ में जोर देना आवश्यक प्रतीत हुआ तो उसने उस बात को सोरठे में व्यक्त किया है। अस्तु उसके सोरठे प्रायः आवश्यकतानुकूल हैं केवल पिंगलीय निपुणता के प्रदर्शनार्थ नहीं। गोस्वामी जी ने भी इसी सिद्धान्त पर जहाँ आवश्यक समझा सोरठा लिखा है।

अस्तु हम कह सकते हैं कि जायसी द्वारा प्रयुक्त तीनों ही छन्द स्वच्छ और पिंगलीय मान्यताओं के अनुकूल हैं। वे इन छन्दों के क्रम विकास में पिछड़े हुये नहीं हैं।

संवाद

प्रबन्ध काव्यों में संवादों से सरसता आजाती है। अँगरेजी साहित्य में पद्य-बद्ध नाटक बड़े लोकप्रिय थे क्योंकि उनमें प्रबंध-

१—डा० विनयतोष भट्टाचार्य : बंगाल की रोयल ऐशियाटिक सोसाइटी का जर्नल, LXXX I I, I, पृ० २४९।

काव्यों के गुणों के अतिरिक्त सुन्दर संवादों की भी मनोरम छटा का दिग्दर्शन रहता था। हिन्दी के प्रबन्ध-काव्यों में भी संवादों का विशेष स्थान रहा है। 'मानस' के लक्ष्मण-परशुराम-संवाद, कैकेयी-मंथरा-संवाद, अंगद-रावण-संवाद आदि बड़े ही सरस स्थल माने हैं। केशव की 'रामचन्द्रिका' की मुख्य विशेषता तो किसी-किसी विद्वान् की सम्मति में उनके कतिपय संवादों की मनोरम व्यंजना ही है।[1] आधुनिक प्रबन्ध-काव्यों—प्रिय-प्रवास, साकेत, कामायिनी, आदि में भी इन संवादों का विशिष्ट स्थान है। अस्तु जायसी के पद्मावत में संवादों का विवेचन भी महत्वपूर्ण है।

जायसी के पूर्ववर्ती काव्यों में—रासो ग्रन्थों में तो संवादों का विशेष स्थान नहीं रहा, किन्तु जगनिक के 'आल्ह-खण्ड' की ख्याति तो मूलतः इन्हीं संवादों में व्यंजित उत्साह, हर्ष, क्रोध, आदि मनोवेगों के कारण ही है। जायसी के संवादों में उतनी मनोरमता तो नहीं है, फिर भी उनमें सरसता है। 'पद्मावत' के चार प्रकरणों—नागमती-सुवा-संवाद खण्ड, राजा-सुवा-संवाद खण्ड, राजा-गजपति-संवाद खण्ड, और पद्मावती-गोरा-बादल-संवाद खण्ड—के नामों में संवाद शब्द का प्रयोग ही हुआ है। परन्तु उनमें संवाद की कोई विशेषता नहीं है। प्रथम में नागमती ने सूए से एक प्रश्न में दो बातें पूछीं—

मोरे रूप कोइ जग माँहा।

× × × ×

तथा, दहुँ हौं लोनि, कि वै पद्मावती। (३४)

सूए ने प्रश्न का विश्लेषण कर उत्तर में दो सामान्य तथ्य (general truth) तथा एक विशेष बात कही—

दई कीन्ह अस जगत अनूपा। एक-एक तें आगरि रूपा॥

× × × ×

लोनि विलानि तहाँ को कहै। लोनी सोइ कंत जेहि चहै॥

× × × ×

तथा,

का पूछहु सिंहल के नारी। दिनहि न पूजे निसि अँधियारी॥ (३४)

१—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० २५७।

इसी प्रकार दूसरे परिच्छेद में भी राजा के प्रश्न का सुए ने उत्तर-मात्र दिया है, उस में कुछ संवाद की सी सरसता नहीं है। यही बात तीसरे और चौथे खण्ड की भी है।

यद्यपि पद्मावत के पूर्वार्द्ध में रत्नसेन-महादेव, रत्नसेन-मंत्री, सुवा-पद्मावती, गंधर्वसेन-सुवा- रत्नसेन-समुद्र के भी छोटे और सुन्दर संवाद हैं, तथापि संवादों की सुन्दर छटा उत्तरार्द्ध के नागमती-पद्मावती-विवाद खण्ड, रत्नसेन-सरजा, सरजा-अलाउद्दीन तथा पद्मावती-देवपालदूती, आदि खण्डों में ही दृष्टि-गोचर होती है। नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड में तो दोनों सपत्नियों के संवाद (विवाद) में इतनी विदग्धता और इतने तीखे व्यंग हैं कि देखते ही बनता है। उन तीखे व्यंगों को सपत्नियाँ सहन न कर सकीं और अन्त में उनमें गुत्थमगुत्था हो ही गई। पद्मावती की ईर्ष्या से पराभूत हृदय सपत्नी की सुख वाटिका को न देख सकी। उसने नागमती पर कटाक्ष किया—

बारी सुफल अहैं तुम रानी। है लाइ पै लाइ न जानी॥ (१६२)

बस विवाद का श्री गणेश हो गया। प्रत्येक वृक्ष, फल, फूल, के मिस एक दूसरे पर व्यंग पूर्ण आक्षेप होने लगे। नागमती बड़ा संयत कटाक्ष करती है—

तूं कस पराइ बारी दुखी। तजा पानि धाई मुख सूखी॥ (१६३)

जब व्यंगों से परितोष न हो सका तो सीधे वाक्प्रहार होने लगे। पद्मावती कहती है—

तू भुजइल हौं हंसनि भोरी। मोहि तोहि मोति पोति कै जोरी॥

जिसके प्रत्युत्तर में नागमती ने—

सब निसि तपि तपि मरसि पियासी। भोर भए पावसि पिय बासी॥
सेजवां रोइ-रोइ निसि मरसी। तू मो सो का सरबरि करसी॥ (१६४)

सत्य एवम् कठोर प्रहार किया जिससे पद्मावती तिलमिला गई और सपत्नी से भिड़ गई।

राजा-बादशाह- मेल खण्ड में सरजा के यह कहने पर—

ए, जगसूर भूमि उजियारे। विनती करहि काग मसि कारे। (२४०)

बादशाह ने बड़ी ही सुन्दर उक्तियों द्वारा राजपूत-चरित्र की सराहना की है।

देवपाल-दूती खण्ड में कुमुदिनी मनोवैज्ञानिक दक्षता के साथ

पद्‌मावती की जिज्ञासा, उत्सुकता तथा-अभिलाषा को उत्तरोत्तर जागरित कर अपने जाल में फँसाने का गम्भीर प्रत्यन करती हैं, तथा उसका प्रतिकार भी पद्‌मावती बड़ी विदग्धता से करती है। यद्यपि हम इस संवाद में पति-वियुक्ता सती रमणी के शोक-विह्वल हृदय की स्वाभाविक गम्भीरता के स्थान पर कुछ परिहास पूर्ण वाक्‌-पटुता का अनुभव करते हैं (जो प्रबन्ध की दृष्टि से काव्य में त्रुटि है) फिर भी यह संवाद सरस है। दूती पति-वियुक्त सती को धैर्य देना चाहती है—

जिनि तुइ वारि करसि अस जीऊ। जौलहि जीवन तौलहि पीऊ॥
(२७१)

पद्‌मावती उसका सहन न कर सकी। फिर भी नैहर की धाय को अपना दृष्टिकोण समझाने का प्रयत्न करती है—

जो पिउ रत्नसेन मोर राजा। बिनु पिउ जोबन कौने साधा॥

× × × ×

तथा,

जोवन नीर घटै का घटा। सत कै बर जौ नहि हिय घटा॥ (२७१)
भोग विलास केरि यह बेरा। मानि लेहु पुनि का कहि केरा॥ (२७२)

की बात सुन कर तो पद्‌मावती जल जाती है। वह परि-स्थिति स्पष्ट करना चाहती है—

जोवन जाउ जाउ सो भँवरा। पिय के प्रीति न जाइ जो सँवरा॥(२७२)

परन्तु मन्द-बुद्धि दूती पद्‌मावती और उसके सच्चे प्रेम की गम्भीरता का अनुमान न कर उसे फुसलाने के लिए और भी स्पष्ट अपशब्द कहती है। यहाँ तक कि पद्‌मावती वास्तविक परिस्थिति को समझ लेती है और कुमुदिनी को उसके 'दूतित्त्व' का उचित परि-माण में पुरस्कार प्राप्त होता है —

फेरत नैन चेरि सौ छूटी। भइ कूटन कुटनी तस कूटी॥
नाक कान काटेन्हि मसि लाई। मूंड मूंडि कै गदह चढ़ाई॥ (२७४)

इस प्रकार स्पष्ट है कि संवादों की ओर जनता के आकर्षण को जायसी के सरस हृदय ने समझा और उपयुक्त अवसरों पर उनका सुन्दर विधान कर अपने काव्य को कुछ अधिक मनोरम बनाने में वे समर्थ हो सके। उनके संवादों में सरसता है, वाक्‌-चातुर्य है और है पूर्णता।

———

अलंकार

यह तो हम पहिले ही दिखला चुके हैं कि जायसी का 'पदूमावत' कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, शेष दोनों ग्रन्थ, यद्यपि वर्णनों से रहित नहीं हैं, फिर भी उनमें वह काव्यात्मकता नहीं मिलती, जिसके कारण हम उनको काव्यों में सराहनीय स्थान दे सकें। अस्तु अब हम यह देखना चाहते हैं कि जायसी ने कथात्मकता एवम् वर्णन बहुलता के लिये अपने पदूमावत में किन अलंकारों का आश्रय लिया है तथा उन अलंकारों में कितनी मौलिकता, कितनी भावोत्तेजकता और कितनी गुणाभिव्यक्ति है। यह कहना कि किसी कवि को किसी अलंकार विशेष या कुछ अलंकारों से ही अधिक प्रेम था, शेष से नहीं, अधिक उचित नहीं प्रतीत होता, फिर भी उसकी रचना में जिन अलंकारों के निर्दोष उदाहरण अधिक संख्या मे मिलें वे अलंकार उस कवि को प्रिय हैं, ऐसा कहने में कोई हानि नहीं। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जायसी के प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा और मुद्रा हैं।

शब्दालंकार

अर्थालंकारों और शब्दालंकारों में से पहले शब्दालंकारों का चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। अतः पहिले शब्दालंकारों के सौन्दर्य को ही देखना चाहिये। अनुप्रास अलंकार का प्रयोग जायसी ने बड़े संयम से किया है। यों तो मधुर रचना होने के कारण हमको इसके सुन्दर उदाहरण प्रत्येक पृष्ठ पर मिल सकते हैं किन्तु फिर भी छेकानुप्रास की मात्रा बहुत कम है। वृत्यनुप्रास के नीचे लिखे उदाहरण देखिये:—

(१) पपीहा पीउ पुकारत पावा। (१५३)
(२) सखीं सहस दस सेवा पाई। (१२७)
(३) रग रकत रह हिरदय राता। (२७८)
(४) सोरह सहस घोड़ घोड़सारा। (१०)
(५) भूमि जो भीजि भएउ सब गेरू। (६८)

चतुर्थ उदाहरण में 'घोड़ घोड़सारा' में लाटानुप्रास भी सुन्दर है। वस्तुतः कवि को शब्दों की खिलवाड़ से भी प्रेम था। अतएव

अधिकतर स्थलों पर उन्हीं शब्दालंकारों का अधिक प्रयोग है जिनमें शब्दों के एक से अधिक अर्थ हैं। परन्तु यमक और श्लेष प्रचुर परिमाण में प्राप्त होते हैं। यमक के कुछ सुन्दर उदाहरण देखिये:—

(१) जाति सूर और खांड़े सूरा। (५)
(२) रसनहि रसनहि एकौ भावा। (२६५)
(३) गई सो पूजि मन पूजि न आसा। (६७)
(४) तू हरि लंक हराए केहरि। (१०७)

प्रथम और तृतीय उदाहरण में सूर (शूर; वंश विशेष) तथा पूजि (पूजा; पूरा) शब्द दो-दो बार भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। चतुर्थ उदाहरण का दूसरा 'हरि' निरर्थक है और पहला सार्थक। द्वितीय उदाहरण का पिछला 'रसनहि' पद एक साथ भी सार्थक है और अपने वास्तविक रूप 'रस+नहि' में भी सार्थक है।

श्लेष

अब श्लेष अलंकार के सुन्दर उदाहरण देखिये। हंस (जीव; पक्षी विशेष), रतन (रत्न; राजा रत्नसेन), सोहागा (सौभाग्य; सुहागा) इन तीन शब्दों के प्रायः समस्त प्रयोग श्लिष्ट हैं:—

(१) हंस जो रहा सरीर मंह, पांख जरा गा भागि। (१५१)
(२) धनि औ पिउ मंह सीउ सुहागा।
दुहुन्हें अंक एकै मिलि लागा॥ (१५०)
(३) काया उदधि चितउ पिउ मांहा।
देखौ रतन सो हिरदय माहा॥ (१७७)
(४) रतन चला घर भा अँधियारा। (५५)

किन्तु श्लेष का सबसे सुन्दर चमत्कार 'दिया' शब्द के ऊपर है। 'दान' और 'दीपक' दोनों ही अर्थों में सात अर्द्धालियों तथा एक दोहे में एक साथ धक पूरकर इस शब्द का प्रयोग कवि ने १५ बार किया है:—

धनि जोबन औ ताका हिया। ऊँच जगत में जाकर दीया॥
इक दिया तें दसगुन लहा। दिया देखि सब जग मुख चहा॥
दिया करै आगै उजियारा।......................
दिया मंदिर निसि करै अंजोरा। दिया नाहि घर मूसहि चोरा॥

इस उदाहरण में दूसरी पंक्ति देखिए—'एक दिया' (दान; दीपक) से दस (अनेक) गुन (गुण, बत्तियाँ) प्राप्त होते हैं। 'गुन' शब्द पर भी श्लेष का बोझ डालकर कितना चमत्कार आ गया है! दान-मात्र में अनेक सद्गुणों का आश्रय है और केवल एक ही दीपक में अनेक बत्तियाँ जलाकर यथेष्ट प्रकाश किया जा सकता है। इस पंक्ति के उत्तरार्द्ध में 'मुहचहा' प्रयोग पर भी श्लेष है—दानी के मुख की ओर तो सब आशा लगाये रहते ही हैं, जिसके हाथ में दीपक होता है उस व्यक्ति की ओर भी अंधकार में चलने वाले सभी को देखना पड़ता है। मुहाविरों के श्लिष्ट प्रयोग पदों के श्लिष्ट प्रयोग से कितने अधिक चमत्कारी होते हैं।

तीसरी पंक्ति में 'आगे' (दूसरा जन्म; मार्ग में आगे) भी श्लिष्ट पद है तथा चतुर्थ पंक्ति का उत्तरार्द्ध भी 'मूसहिं चोरा' के कारण श्लिष्ट है—यदि दान न दोगे तो धन को शायद चोर ही चुरा ले जायँ।

मुद्रा

यहाँ तक हमने शब्द श्लेष के उन प्रयोगों को देखा जिनमें यह अलंकार प्रधान रूप से आता है। अब उन उदाहरणों को देखिये जिनमें यह अलंकार दूसरे अलंकार की सहायता के लिये आता है। सम्पूर्ण 'पद्मावत' में कवि का झुकाव मुद्रा, अलंकार की ओर है। अनेक बार 'राम' और 'रावन' शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा लछमन, सीता, अजुध्या, और कौसिला शब्द भी आये हैं। किन्तु यथा शक्ति कवि ने राम, रावन, और लछन का प्रयोग तो श्लिष्ट ही किया है और सभी जगह मुद्रा अलंकार को बुलाने का प्रयत्न किया है [जहाँ प्रस्तुत अर्थ के पदों से किसी अन्य शास्त्र, इतिहास, वर्णन आदि की सूचना हो वहाँ भी मुद्रा मानना चाहिये] तथा उसे सफलता भी मिल गई है:—

(१) लंक जो पैग देति मुरिजाई।
कैसे रही जो रावन राई॥ (१४२)

(२) हौं रामा तू रावन राऊ। (१२६)

(३) कालिह न होइ रही महि रामा।
आजु करहु रावन संग्रामा॥ (४८)

(४) खीन लंक टूटी दुखभरी।
बिनु रावन केहि बर होइ खरी॥ (१७८)
(५) हुलसी लंक कि रावन राजू।
राम लखन दर साजहिं आजू॥ (१२३)
(६) ससि मुँह सौंह खडग देइ रामा।
रावन सौं चाहै संग्रामा॥ (२१२)

इन सब पंक्तियों में 'लंक' के अर्थ हैं कटि तथा लंका; रामा के राम तथा स्त्री; रावण के रमण तथा रावण और लछन के लक्ष्मण तथा शृंगार।

पांचवे उदाहरण के अर्थ इस प्रकार होंगे -

१—लंका प्रसन्न हुई कि आज राम तथा लक्ष्मण, रावण के राज्य को नष्ट कर (हरि) उसे सुशोभित करेंगे (साजहिं)।

२—कटि प्रसन्न हुई कि आज राजा (रावण=रत्नसेन) पद्मावती (रामा) के शृङ्गार (लछन) को छिन्न-भिन्न कर उसे सुशोभित करेंगे। कितने खिलवाड़ी अर्थ हैं जायसी के! और किस प्रकार 'राम' तथा 'रावण' के प्रति जो जनता की भावना है उसके प्रतिकूल श्लेष का दुरुपयोग किया गया है। इतना ही नहीं 'रामा' शब्द का श्लिष्ट अर्थ सदैव लिंग विपर्यय द्वारा ही होता है। न जाने क्यों समालोचकों की दृष्टि—

पांडव की प्रतिभा सम लेखो।
अरजुन भीम महामति देखो॥

की ओर इतनी उलझ गई कि जायसी की ये मोटी भूलें भी उनकी सूक्ष्म दृष्टि से बच ही गईं। वस्तुतः राम और रावण के प्रति जायसी की भावना हमारी भावना के ठीक विपरीत सी प्रतीत होती है और श्लेष के लोभ के लिये उन्होंने परम्परा गत आदर्शों की अवहेलना की है—

तौलगि भुगुति न लेइ सका, रावन सीय जब साथ।
कौन भरोसे अब कहौं, जीउ पराये हाथ॥६॥ (१००)

यहां 'रावन' शब्द पर तो श्लेष है ही और 'सीय' का रूप आतिशयोक्ति से अर्थ होगा—'सीता के समान सुन्दरी पद्मावती'।

अब मुद्रा अलंकार के कुछ अन्य प्रसिद्ध उदाहरण लीजिए। कम से कम छः स्थलों पर कवि ने यह खिलवाड़ मचाई है—तीन स्थलों पर फूलों के नाम गिना कर, एक स्थान पर जोगीका स्वरूप वर्णन कर, एक स्थान पर सिद्धि में और एक स्थान पर चौपड़ के खेल में। फूलों का एक उदाहरण देखिए—

मोहि अस कहां सो मालति बेली।
कदम सवेती चंप चमेली॥
हौं सिंगार हार जस तागा।
बकुचन विनवौं रोसन मोही॥
होइ सद बरग लीन्ह मैं सरना।
आगे करु जो कंत तोहि करना॥ (१६६)

इस उदाहरण में रेखांकित पद फूलों के नाम भी हैं। पृष्ठ १४४ तथा १५२ पर भी फूलों के नामों के लिए मुद्रा का प्रयोग हुआ है।

जोगी स्वरूप और तत्सम्बन्धी सामग्री भी इसी अलंकार द्वारा इस प्रकार दिखाई गई है—

जंहवा कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भइ झूरि वियोगी॥
वै सिंगी पूरी गुरु भेंटा। हौं भइ भसम न आइ समेटा॥
ओहि के गुन संवरत भइ माला। अबहु न बहुरा उडिगा छाला॥ (१२६)

इसी प्रकार रत्नसेन ने चौपड़ विषयक अपना ज्ञान भी पद्मावती को इन शब्दों में चोखा जनाया है—

यह मन लाएउ तोहि अस नारी। दिन तुइ पासा औ निसि सारी॥
पौ परि बारहि बार मनाएउ। सिर सौं खेलि पैंत जिउ लाएउ॥
हौं अब चौक पंच तैं बाची। तुम्ह बिच गोट न आवहिं कांची॥ (१३७)

पृष्ठ १३६ पर भी पूरी सात अर्द्धालियों तथा एक दोहे में 'काया-पीतर' को कनक बनाने की विधि का वर्णन है। यह तो निर्विवाद है कि जायसी का वस्तु वर्णन प्रायः नाम परिगणन प्रणाली पर है इसलिए वे घोड़ों की अनेक जाति, भोजन के अनेक पदार्थ, फुलवारी की असंख्य सम्पत्ति बात की बात में गिना जाते हैं। अस्तु यदि उनका मुद्रा-अलंकार से प्रेम है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हाँ, यदि यह अलंकार कुछ ही स्थलों पर और केवल अल्प मात्रा ही में आता तो शायद अलंकार पद के अधिक योग्य होता, अब तो यह भार सा प्रतीत होता है।

अत्युक्ति

जायसी के सादृश्य मूलक अलंकारों पर आने से पहले हम उनके एक और प्रिय अलंकार—अत्युक्ति—पर ध्यान देना चाहते हैं। कुछ आचार्यों ने मुद्रा के समान अत्युक्ति को भी पृथक अलंकार नहीं माना है किन्तु हमने यहाँ अपनी सुविधा के लिये इसको अलग ही रखा है। पहले उस अत्युक्ति को लीजिए जो यश, वैभव, आदि के अतिशय वर्णन के कारण उदात्त अलंकार के अधिक समीप है। ऐसे स्थलों पर कवि को दो विशेषतायें दिखलाई पड़ती हैं—

प्रथम—कवि को ठीक ठीक संख्या बतलाने की आदत है—वह यह न कहेगा कि आँगन में इतने रत्न जड़े हैं कि अंगुली रखने को भी स्थान नहीं, प्रत्युत वह यह बतलावेगा कि प्रतिवर्ग फुट में दो सहस्र नग जड़े हैं। वैभव-वर्णन में यह प्रवृत्ति सदैव मिलेगी—

छप्पन कोटि कटक दल साजा।
सोरह सहस घोड़ घोड़ सारा। (१०)
सात सहस हस्ती सिंहली।
बिलसहु नौलख लच्छि पियारी। (२४)

तथा,

सखी सहस दस सेवा पाई। (१२७)
रतन जड़ाऊ खोरा खोरी।
जन जन आगे दस दस जोड़ी॥ (१२४)

और,

रतन लागि तेहि बत्तीस कारी। (२१७)

रत्नसेन के जोगी बनकर निकल जाते समय भी—

टूटै मन नो मोती, फूटे मन दस कांच। (५६)

और फिर,

चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेसु।
कोस बीस चारिहु दिसि, जानौ फूला टेसु॥

द्वितीय—उस अतिशयता को दिखाने के लिये प्रचलित कहावतों का प्रयोग करके उसे रमणीय बनाया गया है। यह गुण वस्तुओं के वर्णन में कम दिखाई पड़ता है और सुकुमारता आदि के वर्णन में अधिक। रत्नसेन के विलाप का यह वर्णन देखिए—

रोवै रतन माल जनु चूरा। जहँ होइ ठाढ़ होइ तहँ कूरा॥ (८७)

आँसू ऐसे गिरते हैं मानो टूट टूट कर रतन गिर रहे हों और जहाँ भी वह खड़ा होता है वहीं कूड़ा (रत्नों के टूटने से) इकट्ठा हो जाता है। यह प्रयोग रोने की अधिकता प्रकट करने में सफल नहीं होता, किन्तु क्योंकि उत्प्रेक्षा द्वारा आँसुओं को रत्न-चूरा माना गया है इस लिए उस चूर्ण के ढेर की भी कल्पना करली गई है।

परन्तु जैसा हमने अभी कहा है कोमलता, शीतलता, सुन्दरता आदि की कैसी सफल व्यंजना लोकोक्तियों के प्रयोग से हुई है—

अति सुरूप औ अति सुकुमारी। पान फूल के रहहि अधारी। (५८)
मलय समीर सोहावन छाँहा। जेठ जाड़ लागै तेहि माँहा ॥ (११)

शैया की सुकुमारता भी दर्शनीय है—

अति सुकुमार सेज सो डासी, छुवै न पावै कोई।
देखत नवहि खिनहि खिन, पाव धरत कस होई ॥ (१२८)

पद्मावती के शरीर की सुकुमारता "पान फूल के रहहि अधारी" वाली से भी अधिक राघव चेतत के शब्दों में देखिए—

नस पानन्ह के काढहि हेरी। अधर न गड़ै फांस ओहि केरी ॥ (२१६)

इस पंक्ति में 'हेरी' शब्द को देखिए हेरी (ध्यान पूर्वक देख देखकर) पान की नस-नस को बीन दिया जाता है जिससे नस नहीं कोई फांस भी न रह जाय, नहीं तो अधर में गढ़ जायगी।

अब विरह की अत्युक्तियों पर भी थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिये। फारसी साहित्य में ऊहात्मक पद्धति सुन्दर और चमत्कार पूर्ण मानी जाती है। वहां की मसनवियों में इस पद्धति का प्रायः आश्रय लिया जाता है। जायसी के समय में फारसी से आने वाली इस ऊहात्मक पद्धति जिसका वर्णन सुकुमारता में हो चुका है, हिन्दी में प्रारम्भ हो रही थी। अतएव विहारी के समान जायसी का विरह-वर्णन यदि मजाक की हद तक नहीं पहुँचा तो कोई आश्चर्य नहीं, किन्तु उसके बीज जायसी में अवश्य ही प्रचुर परिणाम में प्राप्त होते हैं:—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाय जरि तरवरि होहि निपात ॥१८॥ (१५८)

इसी प्रकार रोने का वर्णन,

नैनन चली रकत कै धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा ॥
सूरज बूढ़ि उठा होइ ताता। औ मजीठ टेसू बन राता ॥

भा बसंत, राती बन सपती। औ राते सब जोगी जती॥ (६८)

आलोचकों ने इसमें उत्प्रेक्षा मानकर या आध्यात्मिकता की छाया में आश्रय देकर ऊहा को ढकने का प्रयत्न किया है। किन्तु कितने स्थलों पर हम इस प्रकार काम चलावेंगे। ऊहा का अंश जायसी में वस्तुतः है और वह उत्प्रेक्षा के सहारे भी आया है और वैसे भी। पद्मावती कहती है—

जा सहुँ हौं चख हेरौं, सोइ ठाँव जिउ देइ।
एहि दुख कतहुँ न निसरौं, को हत्या असि लेइ॥ (८४)

सादृश्य मूलक अलंकार

अब सादृश्य मूलक अलंकारों को देखिये। जायसी को सादृश्य मूलक अलंकारों के मूल उपमा से उतना प्रेम नहीं है जितना उत्प्रेक्षा से, और उत्प्रेक्षा में भी वह जहाँ किसी हेतु की कल्पना की जाती है। सारे नख-शिख-वर्णन में उन्हीं पुराने उपमानों को खोज-खोज कर रखा गया है। प्रायः ऐसे ही उपमान रक्खे गये हैं जो भावोत्तेजक होने के साथ-साथ रस के सहायक भी हों, केवल नाम या आकृति सादृश्य को यथाशक्ति छोड़ने का प्रयत्न है। फिर भी परम्परागत कुछ ऐसे उपनाम आ ही गये हैं जिनसे रस में कोई सहायता नहीं मिलती—

बसा लंक बरनै जग झीनी। तेहि तें अधिक लंक वह छीनी॥
(४७)

तथा,

बरनौं नितंब लंक कै सोभा। औ गज गवन देखि मन लोभा॥
जुरे जंघ सोभा अति पाये। केरा खंभ फेरि जनु लाए॥ (४८)

सादृश्य के लिये इनके कुछ उपमान भी खींचतान के कारण ठीक नहीं लगते। बरूनी के वर्णन में नेत्रों को समुद्र तथा दोनों ओर की बरूनियों को सेना कहना हास्यास्पद है—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी॥
जुरी राम रावण कै सेना। बीच समुद्र भए दुइ नैना॥ (४१)

इसी भांति मांग का वर्णन करते समय कवि ने केवल रंग के सादृश्य पर अनेक नवीन उपमान लाकर रख दिये हैं:—

बरनौं मांग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहि चढा जेहि नाहीं॥

बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैन मँह कीआ॥
कंचन रेख कसौटी कसी। जानहु घन मँह दामिनि परगसी॥
सुरुज किरिन जनु गगन बिसेखी जमुना माँह सरसुती देखी॥
(४१)

केशों की अत्यधिक कालिमा तथा माँग का श्वेत रूप दिखाने के लिये इतने मौलिक अप्रस्तुत प्रस्तुत किए हैं।

जायसी के मौलिक अप्रस्तुतों का दूसरा दोष है फारसी के प्रभाव के कारण उनमें जुगुप्सा का आजाना। विरह में तो फारसी वाले रक्त, मांस, मज्जा आदि का वर्णन करते ही हैं, संयोग में भी ये घृणित बातें आगई हैं—

जानो रकत हथोरीं बूढ़ी। रवि परभात तात वै जूड़ी॥
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अंगुरी तेहि साथा॥
(४६)

लाल-लाल हथेलियों को हृदय निकालकर अपने अधिकार में कर लेने से रक्त में डूबा हुई कहना एक दूर की सूझ अवश्य है, किन्तु वीभत्सता आ जाती है और उन हथेलियों को हम अधिक देर देखना नहीं चाहते।

इसी प्रकार बादल की वधू का पति के हृदय में गड़े हुये कटाक्षों को पीठ में होकर निकालने का वह 'सिंगी वालों' का सा घृणात्मक ढंग हमको अच्छा नहीं लगता। अप्रस्तुत मौलिक है, अतएव सारा दोष जायसी के पल्ले बाँधा जावेगा

मकु पीउ दिस्टि समानेउ सालू। हुलसा पीठि कढ़ावौं सालू॥
कुच तूंबी अब पीठि गड़ोवौं। गहे जो हूक गाढ़ रस धोवौं॥
(२८२)

जायसी ने सांग रूपक द्वारा तोपों का जो वर्णन स्त्रियों के रूप में किया है वह भी—यद्यपि वीर रस तथा रसराज का विरोध नहीं है—छूँछा सा जान पड़ता है। प्राकृतिक वस्तुओं में नर-नारी की कल्पना तो ठीक भी है किन्तु यदि मोटर के कटाक्ष किसी के हृदय में विष बगरावें' तो हम उस हवाई जहाज को मनुष्य न कहेंगे—

सेंदुर-आग सीस उपराही। पहिया-तरिवन चमकत जाही॥
कुच-गोला दुइ हिरदय लाए। अंचल-धुजा रहहिं छिटकाए॥

रसना-लूक रहहि मुख खोले। × × ×
अलक-जंजीर बहुत गिउ बाँधे। × × ×
तिलक-पलीता माथे, दसन-बज्र के बान।
जेहि हेरहि तेहि मारहि, चुरकुस करहि निदान ॥ (२२५)

इसी प्रकार परिणाम अलंकार द्वारा बादल की बधू ने शृंगार में जो वीर रस का आरोप किया है वह भी खटकता है—

जौ तुम चहहु जूझि पिय बाजा। कीन्ह सिंगार जूझ मैं साजा ॥
जोवन आइ सौंह होय रोपा। पिघला बिरह काम दल कोपा ॥
भौंहैं धनुष नयन सर साधे। बरुनि बीच काजर विष बांधे ॥
अलक फांस गिउ मेलि असूझा। अधर-अधर सौं चाहहि जूझा ॥
कुंभस्थल कुच दोउ मैमंता। मैलों सौंह समारहु कंता ॥ (२८४)

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सादृश्य मूलक अलंकारों के लिए जायसी ने अधिकतर अप्रस्तुत परम्परागत ही लिए हैं जिनमें ऐसे भी आगए हैं जो केवल रूप-सादृश्य के ही कारण—भावोत्तेजक किंवा रस-व्यंजक न होते हुए भी, प्रयुक्त हुए हैं। इनके मौलिक अप्रस्तुतों पर फारसी का प्रभाव है या ऊहा की छटा, वे रस के सहायक प्रायः कम हो पाते हैं। अब प्रमुख सादृश्य मूलक अलंकारों के कुछ उदाहरण देख लेने चाहिए। हमने पहले उत्प्रेक्षा को उठाया था और यह भी बतलाया था कि मुद्रा तथा अत्युक्ति के समान यह भी जायसी का अपना अलंकार है। अतः पहिले उसी का विवेचन करते हैं।

उत्प्रेक्षा

जायसी ने वर्णन में उत्प्रेक्षा के तीनों भेदों--वस्तूत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा तथा हेतूत्प्रेक्षा--का सफल प्रयोग किया है। किन्तु उनकी मौलिकता हेतूत्प्रेक्षा में दृष्टिगोचर होती है। एक तो पद्मावतीमें आध्यात्मिक आभास और दूसरे अत्युक्ति की प्रवृत्ति--इन्हीं दोनों ने जायसी की हेतूत्प्रेक्षाओं में मौलिकता और अधिकता का गुण भर दिया है।

वस्तूत्प्रेक्षा

वस्तूत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

चला कटक जोगिन्ह कर, कै गेरुआ सब भेसु।
कोस बीस चारिहु दिसि, जानो फूला टेसु ॥६॥ (५६)

योगियों का गेरुआ वस्त्र पहन कर नगर से बाहर निकलना ऐसा प्रतीत होता है मानों टेसू फूल रहे हों। यद्यपि टेसू का वर्णन वसंत में ही पाया जाता है फिर भी बनवासी ढाक में योगियों के वेश की समता योगियों की विरक्ति की भी सूचना देती है। इस प्रस्तुत को हम पूर्णतः रस का अविरोधी समझते हैं। एक अन्य उदाहरण देखिए—

छोरे केस मोतिलर छूटी। जानहु रैनि नखत सब टूटी। (२६६)

यह पद्मावती सती के होने के समय का वर्णन है। जिस प्रकार तारों का टूटना अमंगल जनक होता है उसी प्रकार विधवा पद्मावती का यह वेश अमंगल उत्पन्न करता है। अतः इस समानता को भी रस में बाधक ही कहा जावेगा।

फलोत्प्रेक्षा

पद्मावती के रूप-वर्णन में फलोत्प्रेक्षा के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं—

पुहुप सुगंध करहि एहि आसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा॥ (४३)

तथा,

कनक दुवादस बानि होइ, चह सोहाग ओहि माँग। (४२)

हेतूत्प्रेक्षा

अब हेतूत्प्रेक्षा को देखना चाहिए। प्रकृति के नाना प्रकार के दृश्यों को गुण और रूप के आधार पर किसी न किसी प्रकार पद्मावती के रूप के कारण तादृश होने की कल्पना जायसी की मौलिकता है। संभवतः जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इसका कारण पद्मावती की आध्यात्मिकता हो।—

चंदन आंक दाग हिय परे। बुझहि न ते आखर पर जरे॥
जनु सर आगि होइ हिय लागे। सब तन दागि सिंध बन दागे॥
जरहि मिरिग बन खंड तेहि ज्वाला। औ ते जरहि बैठि तेहि छाला
(८६)

पद्मावती ने रत्नसेन के शरीर पर जो चन्दन के अक्षर लिखे थे वे अग्नि बन कर जलने लगे, सिंह के शरीर पर वे दाग (धब्बों) के रूप में दिखलाई पड़ते हैं. बन में उनसे आग लग जाती है तथा मृगछाला पर बैठे हुए तपस्वी भी उन्हीं से जलते रहते हैं।

पद्मावती के विरह में रत्नसेन का विलाप भी रक्त बहा-बहा कर संसार को रक्त वर्ण बनाए देता है—

नैनन चली रकत के धारा। कंथा भीजि भएउ रतनारा ॥
× × ×
भा बसन्त राती बनसपती। औ राते सब जोगी जती ॥
× × ×
ईंगुर भा पहार जौ भीजा। पै तुम्हार नहिं रौंव पसीजा ॥ (६८)

इसी प्रकार की अनेक सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ यह बतलाती हैं कि लंगूर का मुख काला क्यों होता है, तोते की चोंच लाल क्यों होती है, मोर और मुर्गे प्रातः तथा सायंकाल में क्यों बोलते हैं—

जरा लंगूर सुराता उहाँ। निकसि सो भागि भएउ कर मुहाँ ॥ (८८)
ओहि रकत लिखि दीन्ही पाती। सुआ जो लीन्हीं चोंच भइ राती ॥
(६६)
गए मयूर तमचूर जो हारे। उहै पुकारहिं सांझ सकारे ॥ (४५)

आकाश में सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्रों का घूमना तथा चन्द्र का इसलिए छिप जाना कि किसी के मनोहर मुख की समता वह प्रयत्न-शील होने पर भी न कर पाया, दूसरे कवियों ने भी कहा है, किन्तु जायसी ने उसे और दूर तक खींचा है—

ससि औ सूर सो निरमल, तेहि ललाट के ओप।
निसि दिन दौर न पूजहि, पुनि पुनि होहि अलोप ॥ (१११)

तथा,

इतै रूप मूरति परगटी। पूनो ससी छीन होइ घटी ॥
घटत हि घटत अमावस भई। दिन दुइ लाज गाडि भुइ गई ॥
पुनि जो उठी दुइजा होइ नई। निहकलंक ससि बिधि निरमई ॥ (१६)

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि सभी स्थलों पर इस हेतूत्प्रेक्षा के गर्भ में कोई न कोई अन्य सुन्दर अलंकार भी निहित रहता है। इन उदाहरणों में से प्रथम में अतिशयोक्ति (असम्बन्धे सम्बन्धः) का कितना रमणीय प्रयोग है—उसी ललाट की ओप से ही तो ससि और सूर्य भी निर्मल हैं! इसी भाँति "सूआ जो लीन्ह चोंच भइ राती" में तद्गुण अलंकार भी आ ही गया है।

दो और सुन्दर उदाहरण देखिए। कवि कहता है कि तोता दाड़िम, दाख और आम सभी के रस को चखता है और इसीलिए सभी ऋतुओं में उसका जीवन आनन्द पूर्ण रहता है और इसीलिए उसका शरीर हरे रंग का है। यहाँ तक तो सीधा साधा हेतूत्प्रेक्षा का चमत्कार है शरीर के हरे होने का कारण कल्पित होने से और दूसरा चमत्कार है अन्योक्ति में—जिस प्रकार तोता सभी ऋतुओं में रसपान करता हुआ सर्वदा सुखी रहता है उसी भाँति बारहो महीने विलास-पूर्ण जीवन बिताने वाला सदा 'हरा-हरा' रहता है—

दाड़िम, दाख लेह रस, आम सदा फल डार।
हरियर तन सुअटा कर, जो अस चाखन हार ॥६॥ (१४६)

दूसरा स्थल देखिये। वृद्धावस्था में मनुष्य का सिर हिलने लगता है कवि कहता है कि इसका कारण यह है कि वृद्ध अपना सिर धुनता हुआ उस व्यक्ति को गाली दे रहा है जिसने उसे बड़े-बूढ़े होने का आशीर्वाद दिया था, क्योंकि वृद्धावस्था में जीवन का कोई आनंद नहीं—

बिरिध जो सीस डोलावे, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आउ होहु तुम्ह, केहि यह दीन्ह असीस ॥ (३०२)

उपमा

उत्प्रेक्षा का ओर अधिक झुकाव होने के कारण जायसी उपमा के साथ न्याय नहीं कर पाये हैं। उन्होंने उपमाएँ बहुत थोड़ी लिखी हैं। जो हैं भी वे अधिकतर परम्परा प्राप्त ही हैं। कुछ तो इतने प्रसिद्ध उपमान हैं जो कहावत के रूप में प्रयुक्त होते हैं:—

पानि मोति अस निरमल तासू। (१०)

तथा,

चारिउ खण्ड तपै जस भानू (५)

लुप्तोपमा का एक उदाहरण देखिए:—

दरसन ओहि कर दिया जस, हौं तो भिखारि पतंग। (१०५)

अपना वर्णन भी कवि ने पूर्णोपमा द्वारा किया है:—

चाँद जैस जग विधि औतारा। दीन्ह कलंक कीन्ह उजियारा ॥
जग सूझा एकै नयनाहां। उआ सूक जस नखतन मांहा ॥ (८)

चढ़ती हुई युवावस्था का उपमान कवि ने गंगा को रखा है जो ठीक नहीं है, क्योंकि गंगा के साथ जो पवित्रता की भावना

है वह यौवन के साथ नहीं है। कदाचित् गंगा शब्द का प्रयोग यहाँ सामान्य नदी के अर्थ में किया गया है—

जोबन मोर भएउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा ॥ (२१)

किन्तु जायसी ने अपने उपमानों का सबसे अच्छा चुनाव उन स्थलों पर किया है जहाँ वे ऋतु के अनुसार पाई जाने वाली वस्तुओं से समानता दिखलाते हैं। प्रस्तुत भी सामने है और अप्रस्तुत भी। नागमती के विरह में ऐसे उदाहरणों की प्रचुरता है। वर्षा ऋतु है, एक ओर हिंडोले पर सब झूल रहे हैं। दूसरी ओर विरहिणी का हृदय व्याकुलता से काँप रहा है, एक ओर छप्पर चू रहा है और दूसरी ओर आँखें, एक ओर रक्त के आँसू बह रहे हैं और दूसरी ओर वीरबधूटियाँ रेंग रही हैं, एक ओर अर्क-जवास झुलस गये और दूसरी ओर विरहिणी का शरीर झुलस गया। कैसा अपूर्व समन्वय है और कितना प्रभावोत्पादक—

हिय हिंडोल अस डोलै मोरा।

बरसे मघा झकोरि झकोरी। मोर दुइ नैन चुवैं जस ओरी ॥
रकत कै आंसु परइ भुइ टूटी। रेंगि चलीं जस बीर बहूटी ॥
पुरवा लागि भूमि जल पूरी। आक जवास भई तस झूरी ॥ (१५३)

केवल वियोग में ही नहीं संयोग तथा अन्य वर्णनों में भी प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत का यह चमत्कारोत्पादक समन्वय जायसी की मौलिकता का द्योतक है। छः समुद्रों का पार करके जब रत्नसेन तथा उसके साथी मानसर पर आते हैं, तो—

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा ॥

तथा,

कँवल विगस तस विहँसी देही। भौंर दसन होइ कै रस लेही ॥ (६७)

यहाँ 'हिय-हुलास' अमूर्त्त प्रस्तुत की समानता सामने रखे हुए मूर्त्त 'पुरइनि' अप्रस्तुत से और 'देही' प्रस्तुत की समानता 'विगस कमल' से दिखलाई गई है। वस्तुतः जायसी का यह स्वभाव है कि वर्णन में जो वस्तु उनके समीप होती है और काम की होती है उसकी ओर उनका ध्यान तत्काल ही चला जाता है और किसी अलंकार के लिए वे उस शब्द का प्रयोग कर देते हैं—

फागु बसन्त खेलि गई गोरी। मोहि तन लाइ विरह की होरी ॥

यहाँ अग्नि के लिए 'होरी' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है और 'फागु' तथा 'बसन्त' के प्रसंग के कारण प्रयुक्त हुआ है।

अस्तु जायसी को उपमाओं से अधिक सहानुभूति नहीं है। अतः उन्होंने इनका प्रयोग कम किया है। हाँ, इनके उपमान अधिकतर मौलिक हैं और यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं, वे अपूर्व चमत्कार वाले हैं। जायसी की उपमाओं में उपमेय तथा उपमानों का सुन्दर समन्वय है। उन्होंने ऐसे अप्रस्तुत प्रस्तुत किये हैं जो प्रस्तुत प्रसंग में प्रस्तुत हैं और प्रस्तुत वर्णन में अप्रस्तुत।

रूपक

जिस प्रकार जायसी ने उपमाओं को अधिक नहीं अपनाया है उसी प्रकार रूपकों में भी उनकी रुचि अधिक नहीं जान पड़ती हाँ, उपमा अलंकार के प्रयोग में उनकी अपनी विशेषता भी है, रूपक में वह भी नहीं। सभी या तो परम्परा प्राप्त हैं या किसी अन्य अलंकार के लिए लाए गए। 'बारी' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग करने के लिए निम्न स्थलों पर रूपक का प्रयोग है—

प्रीति बेलि उरनी हिय बारी। (१०८)

अब जोबन बारी को राखा। कुंजर विरह बिधांसै साखा॥ (७४)

सेज को नागिनी कहना एक पुरानी बात है, जायसी ने भी इस उक्ति को अपनाया है—"सेज नागिनी फिर फिर डसा" ।(१५३)

जायसी ने नागमती को अनेक स्थलों पर नागिनी (नाग+मती) कहा है, इसी लिए निम्नांकित चौपाई में विरह को मयूर और रत्नसेन को मजार बना दिया है। कितना विपरीत रूपक है। हमारी जो भावना मयूर तथा मजार के प्रति है वही भावना क्रमशः विरह तथा नायक के प्रति नहीं, प्रत्युत इसके विपरीत सी भावना है, क्योंकि मयूर नायक के समान मनोहर और विरह बिल्ली के समान मनहूस होता है, फिर क्या जो सम्बन्ध नायक और नायिका का है, वही सम्बन्ध क्रमशः मजार और नागिनी का है—

विरह-मयूर नाग वह नारी। तू मजार करु वेगि गुहारी॥ (१६३)

अब जायसी के सांग रूपक के उदाहरण देखिए—

सेंदुर-आग सीस उपराही। पहिया तरिवन चमकत जाही॥
कुच-गोला दुइ हिरदय लाए। अचल धुजा रहहि छिटकाए॥ (२२५)

वीररस और शृंगार के इस मिश्रण के विषय में हम ऊपर कह चुके हैं, यहाँ केवल यह बतलाना है कि यदि किसी को प्रसंग न ज्ञात हो तो वह यह न समझ पायेगा कि विषय शृंगार का है अथवा वीर रसका। सेंदुर-आग, कुच-गोला, अंचल-धुजा, आदि में यह जान पड़ता है कि प्रस्तुत रस शृंगार ही है क्योंकि शृंगार के सूचक शब्द पहिले रखे हैं और वीर रस के सूचक पीछे।

सांग रूपक में कुछ छोटे और सुन्दर उदाहरण भी हैं, जहाँ अप्रस्तुत न तो परम्परा प्राप्त हैं न रूप साम्य पर निर्भर—

नैन कौड़िया, हिय समुद, गुरु सो तेहि मह ज्योति।
मन मरजिया न होइ परै, हाथ न आवै मीति॥ (१२६)

एक सांग रूपक ऐसा भी है जिसके गर्भ में एक सुन्दर रूपकातिशयोक्ति का चमत्कार है। तोता राजा से कहता है—

गगन सरोवर ससि कँवल, कुमुद तराइन्ह पास।
तू रवि ऊबा भौंर होइ, पौन मिला लेइ बास॥ (६८)

गगन, ससि, तराइन्ह और रवि क्रमशः सिंहल, पद्मावती, सखियाँ, तथा रत्नसेन के लिए आए हैं, जिसकी समानता रूपक द्वारा क्रमशः सरोवर, कँवल, कुमुद और भौंर से दिखाई है। तिल-तंदुल-न्याय से शब्दालंकारों के मिलने से अलंकार संसृष्टि की बड़ी मनोरम सृष्टि हुई है।

रूपकातिशयोक्ति

अब हम सादृश्यमूलक अलंकारों के उस भेद पर आते हैं जिसमें उपमान से उपमेय का अध्यवसान होता है। अतिशयोक्ति के इस भेद को रूपकातिशयोक्ति कहते हैं। प्रसिद्ध उपमान के कथन द्वारा उपमेय का ज्ञान तभी होता है जब उपमान परम्परा प्राप्त हो। प्रायः नायिका के अंगों के जो उपमान पूर्व काल से प्रचलित हैं उन्हीं को मान कर कवि वर्णन किया करते हैं। जायसी ने नायिका को चन्द्र या कमल, सखियों को तारागण या कुमुद तथा रत्नसेन को क्रमशः सूर्य या भ्रमर माना है। सूर्य, चन्द्र तथा ताराओं की यह उक्ति तो कई स्थलों पर है—

चांद रहा, उपनी जो तराई। (११६)

तथा,

आजु चंद घर आवा सूरू। (११३)

और,

चांद सुरुज सत भांवरि लेही। नखत मोति नेवछावरि देही ॥ (१२७)

कभी पद्मावती के दुःख के लिए ग्रहण का लगना माना गया है और कभी रत्नसेन के दुःख के लिए। अतः इन अवसरों पर ग्रहण के साथ-साथ चन्द्र तथा सूर्य का भी कथन है—

गहन छूट दिनकर कर, ससि सो भएउ मेराव। (२६६)

तथा,

कसेहु न विरह न छांडै, भा ससि गहन गरास।
नखत चहूँ दिसि रोवहिं, अंधर भरति अकास ॥ (१०७)

एक स्थल पर नागमती के मुख को—पूरे शरीर को नहीं—चन्द्र मान कर केशों को निशा और आभूषणों को तारागण मान कर परम्परा का पालन किया है, क्योंकि पुराने कवियों ने भी मुख को चन्द्रमा माना है, पूरे शरीर को नहीं—

छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चांद परगसा ॥ (२४)

कुछ स्थलों पर राजा को सूर्य, रानी को कमल या रानी को शशि और सखियों को कुमुद माना गया है—

जबहिं सुरुज कँह लागा राहू। तबहिं कमल मन भएउ ऊगाहू ॥ (१०६)

तथा,

जानहिं मरम कँवल कर कोई। (१०६)

और,

ततखन हार वेगि उतराना। पावा सखिन्ह चंद विगसाना।
विगसा कुमुद देखि ससि रेखा। (२५)

नायक तथा नायिका के अन्य अंगों के उपमानों का प्रयोग एक-दो स्थलों पर ही किया गया है—

पन्नग पंकज मुख गहे, खंजन तहाँ बईठ।
छत्र सिंहासन राजधन, ता कह होइ जो डीठ ॥ (४७)

साज भुअंगिनि रोमावली। नाभिहि निकरि कँवल कँह चली ॥
आइ दुवौ नारंग बिच भई। देखि मयूर ठमुकि रहि गई ॥
पाँय परी धनि पीउ के, नैनन सो रज मेट।
अचरज भएउ सबन्ह कँह, भइ ससि कँवलहि भेट ॥ (१८४)

प्रथम उदाहरण में पन्नग, पंकज तथा खंजन शब्द क्रमशः चोटी, मुख तथा नेत्रों के लिए आये हैं। दूसरे में कँवल नारंग तथा मयूर शब्द क्रमशः मुख, कुच और ग्रीवा के लिए आए हैं। तथा तीसरे उदाहरण में ससि तथा कँवल पद्मावती के मुख और रत्नसेन के चरणों के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

कवि-परम्परा में नायिका के मुख का उपमान कमल माना गया है और नायक के मुख का सूर्य। किन्तु ऐसा नहीं हुआ कि नायक के मुख का उपमान सूर्य और नायिका के मुख का चन्द्र माना हो। क्योंकि सूर्य तथा चन्द्र का पारस्परिक सम्बन्ध और किसी भी प्रकार का हो नायक-नायिका के शृङ्गारी प्रणय जैसा नहीं है। अतः जायसी ने जहाँ केवल तेज की मात्रा के कारण नायक तथा नायिका को सूर्य तथा चन्द्र माना है वहाँ परम्परा का पालन नहीं किया है फिर भी अर्थ के समझने में कोई कठिनाई नहीं होती, अतएव यह स्वतन्त्रता दोष नहीं कहा जा सकता।

प्रसंग वश जायसी की चमत्कारात्मक प्रवृत्ति की एक विशेषता को भी प्रदर्शित कर देना चाहिए। जिस प्रकार रूपकातिशयोक्ति में उपमान से उपमेय का अध्यवसान होता है उसी प्रकार सामान्य से विशेष, विशेष से सामान्य या विशेष से विशेष का भी अध्यवसान हो सकता है। अपने यहाँ जिस स्थल पर एक शब्द कहने से दूसरे का बोध होता है वहाँ लक्षणा की सहायता ली जाती है परन्तु अङ्गरेजी में ऐसे स्थल पर एक निश्चित अलंकार (Metonymy) माना जाता है। जायसी ने रामायण की कथा को लेकर राम, सीता, अयोध्या आदि शब्दों का प्रयोग रत्नसेन, पद्मिनी, चित्तौड़, आदि के लिए किया है—

तौलगि सो अवसर होइ बीता। भए अलोप राम औ सीता॥ (३००)

तथा—

गढ़ सौंपा बादल कहँ, गए टिकिठि बसि देव।
छोड़ी राम अयोध्या, जो भावे सो लेव॥ (२६८)

एक स्थल पर सिंहल के लिए अयोध्या शब्द और पद्मावती के लिए राम शब्द आया है, क्योंकि कवि मुद्रा अलंकार की ओर खिंच गया है—

राम अजुध्या ऊपने, लछन बतीसो संग।
रावन रूप सौ भूलहि, दीपक जैस पतंग ॥ (२८)

यह प्रयोग कुछ खटकता है क्योंकि लिंग-विपर्यय के द्वारा ही हम आवश्यक भाव तक आ सकते हैं। इस विषय को हम ऊपर कह चुके हैं।

अस्तु जायसी की यह लक्षणा की प्रवृत्ति प्रशंसनीय है। जिस प्रान्त की यह कहानी है वहाँ आज भी ऐसे लाक्षणिक प्रयोग कम पढ़ी जनता में प्रचलित हैं। कबीर की उलटबाँसियों के मूल में भी यही प्रवृत्ति थी। हाँ, जायसी केवल ऐतिहासिक नामों का ही प्रयोग करते हैं अपने आप गढ़े हुए नामों या शब्दों का नहीं।

व्यतिरेक

अब कुछ उन अलंकारों के उदाहरण भी देखने चाहिये जिनका प्रयोग जायसी ने कम ही स्थलों पर किया है। व्यतिरेक तथा प्रतीप अलंकारों में थोड़ा सा अन्तर है—व्यतिरेक उपमेय की उपमान से अधिक विशेषता बतलाता है और प्रतीप उपमान की उपमेय से कमी। बात एक ही है, केवल कथन-प्रणाली का भेद है। निम्नलिखित व्यतिरेक कितने सरल तथा सुन्दर हैं—

सुरुज किरन जस निरमल, तेहि ते अधिक सरीर। (२०६)
अस भा सूर पुरुष निरमरा। सूर चाहि दस आगर करा ॥ (६)
ससि चौदस जो दई संवारा। ताहू चाहि रूप उजियारा ॥ (६)
लंका बुझी आगि जो लागी। यह न बुझाइ आगि बजागी॥(१०८)
गेंद चाहि धनि कोमल भई। (१०४)

प्रतीप

प्रतीप अलंकार के प्रयोग में जायसी ने इतनी मौलिकता अवश्य दिखाई है कि कई उपमान ऐतिहासिक व्यक्ति रक्खे हैं—

बलि विक्रम दानी बड़ कहे। हातिम करन तियागी अहे ॥
सेरसाहि सरि पूजन कोऊ। समुद सुमेरु भंडारी दोऊ ॥ (७)

तथा,

नौसेरवाँ जो आदिल कहा। साहि अदल सरि सोउ न अहा ॥(६)

कुछ प्रयोग अवश्य पुराने तथा परम्परा प्राप्त हैं—

वदन देखि घटि चन्द छपाना । दसन देखि कै बीजु लजाना ॥ (१२३)
ससि सकलंक रहै नहि पूजा । तू निकलंक न सरि कोइ दूजा ॥ (१४७)
जानौ सूर किरन हुति काढ़ी । सूरुज कला घाटि वह बाढ़ी ॥ (१६)

अन्य अलंकार

कुछ अन्य अलंकारों में से अतिशयोक्ति, पर्यायोक्ति, अन्योक्ति, भ्रम, विभावना, विरोध, उत्तर, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, दीपक, कारक दीपक, असंगति, परिकर, प्रत्यनीक, अर्थापत्ति, अनन्वय, आदि के उदाहरण भी जायसी की कविता में मिलते हैं।

अतिशयोक्ति, भ्रम, प्रत्यनीक तथा असंगति के उदाहरण परिमित होने पर भी बड़े रमणीय हैं—

१—अतिशयोक्ति—

सुनतहि राजा गा मुरझाई । (४६)

तथा,

उहै धनुक किरसुन पंह अहा । उहै धनुक राघो कर अहा ॥
ओहि धनुक रावन संहारा । ओहि धनुक कंसासुर मारा ॥
उहै धनुक मैं तापंह चीन्हा । धानुक आप बेझ जग कीन्हा ॥ (४२)

२—भ्रम—

भूलि चकोर दीठि मुख लावा । मेघ घटा मंह चंद देखावा ॥ (२४)

तथा,

चकई बिछुरि पुकारै, कहाँ मिलो हो नाह ।
एक चांद निसि सरग मंह, दिन दूसर जल मांह ॥ (२३)

३—प्रत्यनीक—

बसा लंक बरनै जग झीनी । तेहि ते अधिक लंक वह छीनी ॥
परिहँस पियर भए तेहि बसा । लिए डंक लोगन्ह कंह उसा ॥ (४७)

तथा,

सिंह न जीता लंक सरि, हारि लीन्ह बनवासु ।
तेहि रिस मानुष रकत पिय, खाइ भारि कै मांसु ॥ १८ ॥ (४७)

४—असंगति—

तुम मुख चमकै बीजुरी, मोहि मुख बरसै मेंह । (१८६)

५—अर्थापत्ति—

दिस्टि दीन्ह ठग लाडू, अलक फांस परे गीउ ।
जहां भिखारि न बाचे, तहा बांच को जीउ ॥ ८ ॥ (२८२)

६—पर्यायोक्ति—

गई बिनु मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तंह रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागे। ऐसिहि बिथा रैनि सब जागे॥ (७२)

७—अर्थान्तरन्यास—

मिलिहहिं बिछुरैं साजन, अंकिम भेंटि महंत।
तपनि मृगसिरा जे सहहिं, ते अद्रा पलुहंत॥ ३॥ (१४२)

तथा,

राती पिउ के नेह गइ, सरग भइउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार॥ २॥ (३००)

८—उत्तर—

मुहम्मद विरिध जो नइ चलै, काह चलै भुंइ टोइ।
जोवन रतन हिरान है, मकु धरती मंह होइ॥ ३॥ (२६८)

६—विरोध—

धनि सूखै भरे भांदों माहा।

तथा,

कातिक सरद चन्द उजियारी। जग सीतल हौं विरहै जारी॥ (१५३)

१०—दृष्टान्त—

का भा जोग कथिनि के कथे। निकसै घिउ न बिना दधि मथे॥ (५१)

तथा,

भौंर जो मनसा मानसर, लीन्ह कंवल रस आइ।
घुन जो हियाव न कै सका, भूर काठ तस खाइ॥ (६७)

११—विनोक्ति—

कहां छिपाए चन्द हमारा। जेहि बिनु रैनि जगत अंधियारा॥ (१२६)

१२—विभावना—

जीभ नाइ पै सब किछु बोला। तन नाही, सब ठाहर डोला॥
सुवन नाहि पै सब किछु सुना। हिया नाहि, पै सब किछु गुना॥(३)

१३—विशेषोक्ति—

घट मंह निकट, विकट होइ मेरू। मिलहि न मिले परा तस फेरू॥ १०८

१४—परिणाम—

नैन नीर सौं पोता किया। तस मद चुवा बरा जस दिया॥ (६५)

१५—परिकुराँकर—

रतन चला, भा घर अँधियारा। (५५)

तथा,

पद्‌मिनि ठगिनी भइ कित साथा। जेहि ते रतन परा पर हाथा॥ (२६६)

१६—कारक दीपक—

चित्त जो चिन्ता कीन्ह धनि, रोवै रोव समेत।
सहस सालसांह, आहि भरि, मुरछि परी, गा चेत॥ (१०६)

१७—दीपक—

परिमल प्रेम न आछे छपा। (६१)

तथा,

सिद्ध गिद्ध जिन्ह दिस्टि गगन पर, बिनु छुर कछु न बसाइ। (१०३)

१८—अनन्वय—

आहिक सिंगार ओही पै छाजा। (४०)

१९—अन्योक्ति—

भंवर जो पावा कंवल कहं, मन चीता बहु केलि।
आइ परा कोइ हस्ती, चूर कीन्ह सो बेलि॥ (१७९)

२०—लोकोक्ति—

उलू न जान दिवस कर भाऊ। (३६)

तथा,

जोगिया की को चालै, वेदहिं जहाँ उपास। (८८)

और,

कान टुटै जेहिं पहिरै, का लेइ करब सो सोन। (३६)

वर्णन

वर्णन की कतिपय प्रणालियाँ हिन्दी-जगत में प्रचलित हैं। एक वर्णन तो वह होता है जिसमें केवल वस्तुओं के नामों की लम्बी-लम्बी सूचियाँ दी जाती हैं। इस प्रकार की वर्णन-प्रणाली से कवि की बहुज्ञता भले ही प्रकट हो, परन्तु इससे कवि-कर्म की सफलता कदापि नहीं कही जा सकती। इन लम्बी सूचियों के पाठ से पाठक के हृदय में आनन्द की कोई उमंग नहीं उठती, प्रत्युत् इस वर्णन से उसे विरक्ति ही होती है। सत्य तो यह है कि सहृदय पाठक इन सूचियों को बिना पढ़े ही आगे बढ़ जाता है। अतएव इस प्रकार का वर्णन निम्नकोटि का माना जाता है। हिन्दी के शैशव-काल में इस प्रकार के वर्णन प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं, किन्तु इस भद्दी परम्परा का चलन उत्तर रीति-काल में अधिक रहा।

दूसरे प्रकार का वर्णन वह है जिसमें किसी वस्तु का वर्णन कर उससे शिक्षा ग्रहण की जाती है या उपदेश दिया जाता है, किंवा अन्य प्रकार की कोई कल्पना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने प्रकृति-वर्णन में प्रायः इसी प्रणाली को अपनाया है—

बूँद अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥

तथा,

दामिन दमकि रही घन माही। खल की प्रीति यथा थिर नाही॥

यहाँ पर उपदेश मूलक प्रवृत्ति वर्णन के पीछे कार्य कर रही है।

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई। वेद पढ़ें जनु बटु समुदाई॥

मेंढकों की टर्र-टर्र में गोस्वामी जी को वेदोच्चारण की सी मधुर-ध्वनि प्रतीत हो रही है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के वर्णन में भी पाठक का मन पूर्णतया नहीं रमता। यह उपदेश वाक्य कान्ता-सम्मित न कहे जाकर गुरु-सम्मित ही माने जाने के अधिक योग्य हैं, यद्यपि ये वाक्य कोरे तार्किक वाक्यों की अपेक्षा अधिक रमणीय प्रतीत होते हैं।

सबसे सुन्दर वर्णन वह कहा जाता है जिसके पढ़ने से पाठक के हृदय पर उसकी छाप पड़ती हो—पाठक को उस दृश्य के साक्षात्कार

का अनुभव हो; कल्पना-चक्षु के समक्ष वह दृश्य उपस्थित हो जाय। पाठक उस दृश्य की रमणीयता, शीतलता, सुखदता किंवा भयंकरता आदि का वैसा ही अनुभव कर सके जैसा कवि ने किया था। अङ्गरेजी कवि वर्डसवर्थ उन दृश्यों के शाश्वत-प्रभाव का कायल था—

For oft when on my couch I lie,
In thoughtful or in pensive mood,
They flesh upon my inward eye,
That is the bliss of Solitude,

जिस प्रकार वर्डसवर्थ उन असंख्य विकसित पुष्पों का ध्यान करते हीं प्रसन्नता से नाच उठता था, वैसे ही यदि पाठक उससे प्रभावित हो जावे, तो समझना चाहिए कि कवि अपने वर्णन में पूर्ण सफल हो गया। यह तो निस्संकोच स्वीकार करना पड़ेगा कि इस प्रकार के उत्तम वर्णन हिन्दी में कम हैं।

अब हम जायसी के वर्णनों का विवेचन कर देखेंगे कि उनके वर्णन किस कोटि में आते हैं:—

प्राकृतिक वस्तुओं का वर्णन

प्रकृति के वृक्ष, फल, फूल मनुष्य के चिर सहचर हैं। उनसे मनुष्य तदात्म्य भाव अनुभव करता है। उन पर बैठे पक्षियों से उसे प्रीति होती है। उनको वह अपने दुःख-सुख का सहचर समझता है और रखता है उनसे सहानुभूति की आशा। जायसी ने किसी जंगल के वृक्षों का वर्णन तो नहीं किया है, किन्तु सिंहल की वाटिका में, प्रथम सिंहल-दीप-वर्णन-खण्ड में और फिर बसन्त-खण्ड में, वृक्षों का उल्लेख किया है। इस वर्णन में नाम गिनाने की प्रवृत्ति तो प्रधानतः है ही—

लवंग सुपारी जायफर, सब फर भरे अपूर।
आस पास घन इमिली, औ घन तार खजूर ॥४॥ (११)

तथा,

नारंग नीबू सुरंग जंभीरा। औ बादाम बहु भेद अंजीरा ॥ (१२)

बसन्त-खण्ड में भी पद्मावती की सहेलियों ने जिन-जिन वृक्षों की डालियाँ पकड़ी थीं उनकी सूची भी उपस्थित है—

कोइ नारंग, कोइ झाड़ चिरौंजी। कोइ कटहर बड़हर कोइ न्योजी ॥
कोइ दारिउँ कोइ दाख-औ खीरी। कोइ सदाफर तुरंग गभीरी ॥ (८१)

फल और फूलों के वर्णन में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है—

फरै तूत, कमरख औ न्योजी। राय करौंदा बेर चिरौंजी ॥
संगतरा व छुहारा दीठे। और खजहजा खाटे मीठे ॥

तथा,

जाही, जूही बगुचन लावा। पुहुप सुदरसन लाग सुहावा ॥
नागेसर सद बरग निवारी। औ सिंगारहार फुलवारी ॥ (१३)

पुष्प चुनने के वर्णन में भी वही प्रवृत्ति है—

कोइ सदबरग कुन्द कोइ करना। कोइ चमेलि, नागेसर बरना ॥
कोइ केवड़ा, कोइ चंप नेवारी। कोइ केतकि, मालति फुलवारी ॥ (८२)

परन्तु इस प्रवृत्ति के साथ ही साथ कवि ने अपनी स्वतन्त्र और मार्मिक प्रवृत्ति की भी झलक दिखाई है—

पुनि महुआ चुअ अधिक मिठासू। मधु जस मीठ पुहुप जस वासू ॥(११)

महुओं के टपकते समय उनकी महक और मिठास की अतिशयता की ही ओर संकेत नहीं है, अपितु 'चुअ' शब्द के प्रयोग ने बड़ी स्वाभाविकता प्रदान करदी है, और,

लाग सबै जस अमृत साखा। रहै लोभाइ सोइ जो चाखा ॥ (१०)

आदि पंक्तियों ने बड़ी आकर्षक सामग्री प्रस्तुत कर दी है। इसी प्रकार वृक्षों की डालियाँ पकड़ने तथा फूल चुनने के नीरस प्रसंग के पश्चात्

(कोइ) फूल पाव, कोइ पाती, जेहि के हाथ जो आँट।
(कोइ) हार चीर अरुझाना, जहाँ छुवै तहँ काँट ॥६॥ (८२)

के पाठ से पाठक भाग्य-विधान के अटल नियंत्रण पर गम्भीरता से विचार करने लगता है।

नागमती-पद्मावती-विवाद-खण्ड में तो कवि ने वृक्षों, पुष्पों एवम् फलों के आश्रय में दोनों सपत्नियों के विदग्धता पूर्ण सरस विवाद का वर्णन किया है।

कविने पक्षियों को विशेषता प्रदान की है। उसकी सृष्टि के पक्षी साधारण नहीं है। हीरामन सूआ तो पंडित ही है, जिसने पद्मावती के साथ वेद-शास्त्राध्ययन किया था—

रहहि एक संग दोऊ, पढ़हि सासतर बेद।
बरम्हा सीस डोलावहीं, सुनत लाग तस भेद ॥५॥ (२०)

और जो शायद वैराग्य-च्युत हो जाने से पक्षि-योनि में आया—

यह पंडित खंडित वैरागू। दोष ताहि जेहि सूझ न आगू॥ (३५)

पति-वियुक्ता नागमती के करुण-क्रन्दन को संसार की प्रत्यक्ष घटना समझ कर नर-नारी द्रवित न हुए। नागमती सहानुभूति की तीव्र लालसा में बन में गई। वहाँ उसके हृदय विदारक विलाप को एक सहृदय पक्षी न सह सका—

तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी॥ (१५६)

उसकी करुणा-जनक परिस्थिति से वह पक्षी द्रवित होगया। नींद और आराम को त्याग कर उस बेचारी अबला का संदेश लेकर वह पक्षी चल दिया और रत्नसेन तक उसके संदेशे को पहुँचाकर ही उसने दम लिया।

जायसी का ऐसा विचार प्रतीत होता है कि पक्षी प्रकृतावस्था में होने के कारण अधिक पवित्र और निस्वार्थ हैं। वे ईश्वर के अधिक समीप हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों ज्ञान प्राप्त करता जाता है वह ईश्वर से दूर हटता चला जाता है।[१] अस्तु वाटिका के पक्षी अपनी-अपनी बोली में ईश्वर-स्मरण में संलग्न हो जाते हैं—

भोर होत बोलहि चुह चुही। बोलहि पांडुक एकै तुही॥
जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमरांउ।
आपनि आपनि भाषा, लेहि दई कर नांउ ॥५॥ (११)

समुद्र-वर्णन

जायसी हिन्दी के प्रथम कवि हैं जिन्होंने समुद्र का वर्णन किया है। यों तो उन्होंने सातों समुद्रों का वर्णन किया है, परन्तु

१—तुलना कीजिये—

But trailing clouds of glory do we come
From God, Who is our home;
Heaven lies about us in our infancy
Shades of prison-house begin to close
Upon a growing Boy.

—William Wordsworth

उनमें कोई विशेषता नहीं है। नाम के अनुकरण पर उनमें उन गुणों की कल्पना कर तादृश्य वर्णन कर दिया है। यथा—

खीर समुद्र का बरनौं नीरू। सेत सरूप, पियत जस खीरू॥
दधि एक बूँद जाम सब खीरू। कांजी बूँद बिनसि होइ नीरू॥ (५४)

उदधि को अग्नि समझ कर उदधि-समुद्र का वर्णन वैसा ही कर दिया है—

आप उदधि समुद्र अपारा। धरती सरग जरै तेहि झारा॥

इसी भांति सुरा समुद्र में मादकता एवम् किलकिला सागर में किलकिल शब्द का आरोप कर दिया है।[1]

परन्तु सागर की अनन्तता का परिचय कवि ने बड़े कौशल के साथ एक ही पद में दे दिया है—

समुद अपार सरग जनु लागा। (६२)

इसके अतिरिक्त सागर की भयानकता, बड़ी-बड़ी गम्भीर लहरों (Currents), हिलोरों (Waves) आदि का भी सजीव चित्र प्रस्तुत करने में जायसी सफल हुए हैं—

उठै लहरि परबत के नाईं। फिर आवै जोजन सौ ताईं॥
धरती लेइ सरग लहि बाढ़ा। सकल समुद जानहु भा ठाढ़ा॥
नीर होइ तर ऊपर सोई। माथे रंभ समुद जस होई॥ (६५)

समुद्र में रहने वाले विशाल काय जीवों को भी जायसी भूले नहीं हैं—

ततखन चाल्हा एक दिखावा। जनु धौलागिरि परबत आवा॥
उठी हिलोर जो चाल्ह न राजी। लहरि अकास लाग भुइ बाजी॥(६२)

जायसी का समुद्र-वर्णन अधूरा ही रह जाता यदि उसमें भँवर की चर्चा न होती। कवि ने दो स्थलों पर भँवर का वर्णन किया है। प्रथम सात-समुद्र-खण्ड में—

नीर होइ तर ऊपर सोई। माथै रंभ समुद्र जस होई॥
फिरत समुद्र जोजन सौ ताका। जैसे भंवै कोहार का चाका॥(६६)

तथा देश-यात्रा खण्ड में। इस स्थल पर कवि ने थोड़े से शब्दों में ही भँवर की भीषणता प्रकट कर दी है—

बोहित भँवहि, भँवै सब साथी। (१७५)

प्राकृतिक व्यापारों का वर्णन

प्राकृतिक दृश्यों में रमणीयता है, उसके व्यापारों में आकषण

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ६५ व ६६।

है। किन्तु उनमें भीषणता और भयानकता की भी कमी नहीं है। भूचाल एक ऐसा ही भयावह व्यापार है। कवि ने अपने जन्म कालीन भूचाल की भयंकरता का रोमांचकारी वर्णन किया है। साधारण पाठक को उसमें अत्युक्ति भले ही प्रतीत होती हो, परन्तु जिस व्यक्ति ने भूचाल की भीषणता को देखा है वह कवि-वर्णन की सचाई का साक्ष्य अवश्य देगा—

धरती दीन्ह चक्र विधि भाई। फिरै अकास रहट कै नाई॥
गिरि पहार मेदिन तस हाला। जस चाला चलनी भरि चाला॥
मिरित लोक ज्यों रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खट डोला॥
(३४०)

कवि ने जल, अग्नि तथा उपल वर्षण का भी वर्णन आखिरी-कलाम में किया है। अग्नि-वर्षण से कवि केवल चारों ओर प्रकाश की ही कल्पना कर सका है, उसके प्रलयंकर रूप का न कोई चित्र ही है और न वर्णन—

पहिले लागै परै अंगारा। धरती सरग होइ उजियारा॥ (३४४)

परन्तु उपल-वर्षण के दृश्य को अंकित करने में कवि अधिक सफल हो सका है—

सौ सौ मन कै एक एक सिला। × ×
बजर गोट तस छूटै भारी। टूटै रूख बिरख सब झारी॥
परत धमक धरती सब हालै। उधिरत उठै सरग लौं सालै। (३४५)

वृक्षों का टूटना, धमाके के साथ गिरना, पृथ्वी का हिल जाना और फिर इन शिला-खण्डों का आकाश तक उछल जाना—सब कुछ उस अन्तिम दुर्घटना के वास्तविक दृश्य को उपस्थित करता है।

जल-वर्षण की चर्चा कवि ने बड़े साधारण ढंग से कर दी है—

उनै मेघ भरि उठि है पानी। गरजि गरजि बरसहि अतवानी॥ (३४५)

हिन्दू विचारानुसार प्रलय-सूर्य के तापाधिक्य से सृष्टि का संहार होता है, किन्तु मुसलमानों का विश्वास है कि अन्तिम न्याय के समय सूर्य तेजी से चमकेगा, जिसकी गर्मी केवल पापियों को सतावेगी, धर्मात्माओं को छाँह और पानी मिल ही जावेगा[१]। उस समय के सूर्यातप की अतिशयता का वर्णन तो—

१—देखिए—आखिरी कलाम, जा० ग्र०, पृ० ३५०।

सूरज आइ तपहिं होइ पासू। (३४९)

से ही चल जाता है। किन्तु कवि को इतने ही वर्णन से संतोष नहीं हो जाता। वह उस जलती हुई धूप का प्रभाव और लोगों की व्याकुलता को भी अंकित करता है--

कै सउहैं नियरे रथ हाँके। तेहि के आँच गूद सिर पाके॥
बजरागिन अस लागे तैसे। बिलखे लोग पियासन वैसे॥
उनै अगिन अस बरसै घामू। भूंज देह, जरि जावै मासू॥ (३५०)

दृश्य-वर्णन

कवि ने सिंहल द्वीप की सघन अमराइयों का वर्णन करते हुए, उनकी ऊँचाई की ओर बड़ा स्पष्ट किन्तु साधारण संकेत किया है—

घन अमराइ लाग चहुँ पासा। उठा भूमि हुत लागि अकासा॥ (१०)

तथा उनकी सघनता, शीतलता आदि के विषय में कवि ने—

मलय समीर सोहावन छांहा। जेठ जाड़ लाग तेहि माहा॥ (११)

कह कर किसी प्रकार की शंका के लिये स्थान नहीं रहने दिया है।

फलों से लदी आम की डालियों को झुके हुये सभी ने देखा होगा। कवि इसी बात को कितने मनोरम ढंग से कहता है—

फरे आम अति सघन सुहाए। औ जस फरै अधिक सिर नाए॥(११)

ज्यों ज्यों अधिक फलता जाता है, वह विनम्रतर होता जाता है। इस उक्ति से संसारी जीवों के लिये कितना सुन्दर उपदेश मिलता है। इस प्रकार की उक्तियां उपदेश के अभिप्राय से कही हुई कदापि नहीं कही जातीं।

सरोवर-वर्णन

सरोवर का वर्णन करते समय कवि उसके विस्तार, गहराई तथा स्वच्छ जल की ओर संकेत चुने हुए शब्दों में कितने मनोरम ढंग से करता है :

मान सरोदक बरनौं काहा। भरा समुद अस अति अवगाहा॥
पानि मोति अस निरमल तासू। अमृत आनि कपूर सुबासू॥ (१२)

कवि उस सरोवर के चारों ओर बने सीढीदार घाट को भी नहीं भूला है :—

खंड-खंड सीढ़ी भई गरेरी। उतरहिं चढहिं लोग चहुँ फेरी॥ (१२)

तथा उसमें विकसित सरोजों, मोतियों और हंसों का वर्णन कर कवि ने वस्तुतः एक मनोरम सरोवर का आकर्षक चित्र अंकित कर दिया है, जो कवि के शब्दों में भूख-प्यास को भुला देता है :—

ऊपर पास चहुँ दिसि, अमृत फल सब रूख।
देखि रूप सरवर कै, गै पियास औ भूख ॥ ७ ॥ (१२)

पनघट-दृश्य

पनघट का दृश्य भारत का अपना दृश्य है। अन्य देशों में वह कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। विदेशियों के लिए वह एक कौतूहल की सामग्री है और रसिकों के लिए आकर्षक। कहानी तो कदाचित ही कोई हो जिसमें प्यासे यात्री (प्रायः नायक) ने किसी सुन्दरी पनिहारी से पानी की याचना न की हो। प्यासे अमीर खुसरो को—

खीर पकाई जतन से, चरखा दिया चलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय ॥

कविता से चारों पनिहारियों को काव्य-लालसा तृप्त करने के उपरांत ही शीतल, मधुर जल पीने को मिला था। 'कवि-शिक्षा' में तो काव्याभिलाषी युवकों को पनघट के चक्कर काटने का आदेश दिया गया है।[1] जायसी ने एक ही पंक्ति में पनघट के समस्त सौन्दर्य और आकर्षण को व्यक्त कर दिया है :—

कनक कलस मुख चंद दिपाही। रहस केलि सन आवहि जाही ॥(१२)

यहां पर 'कनक' से प्रजा की सम्पन्नता, 'मुखचंद' से पनिहारियों की सुन्दरता, 'रहस्य-केलि' से उनका नव यौवना होना तथा 'आवहि जाही' से पनघट के दृश्य का सारे दिन इसी प्रकार का बना रहना बड़े कौशल से अंकित कर दिया है।

जल-क्रीड़ा एवम् हिंडोल-क्रीड़ा

पाश्चात्य साहित्य में पुरुषों की जल-क्रीड़ा (नौका-विहार) का वर्णन अवश्य मिलता है, किन्तु स्त्रियों की जल-क्रीड़ा भी भारतवर्ष की अपनी चीज है। तीर्थों का सारा महत्त्व स्नान पर ही आश्रित हो गया है। भारतेन्दु जी ने भी गंगा-छवि में स्त्रियों के स्नान

१—म० म० डा० गंगानाथ झा। कवि-रहस्य, पृ० ६३।

(उनकी जल-क्रीड़ा) का बड़ा मनोरम चित्र अंकित किया है।[1] जायसी ने भी इस दृश्य का बड़ा मार्मिक वर्णन किया है तथा आध्यात्मिक संकेत के द्वारा उसकी मनोरमता को और अधिक बढ़ा दिया है:—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥

तथा,

धरी तीर सब कंचुकि सारी। सरवर महँ पैठी सब बारी॥ (२४)

कितना सत्य वर्णन है! और—

पाइ नीर जानो सब बेली। हुलसहि करहि काम कै केली। (२४)

कितने अधिक मार्मिक ढंग से उनके उल्लास की अतिशयता को अङ्कित किया है। हार का खेल खेलना, एक सखी के हार का खोजाना, उसकी खोज होना और अन्त में उसका मिल जाना सभी कुछ सत्य है, मनोरम है।

इसी के साथ कवि ने हिंडोल-क्रीड़ा का भी वर्णन किया है। यद्यपि झूलने का कोई चित्र कवि ने प्रस्तुत नहीं किया है, तदपि झूलने का पूरा आनन्द नैहर में ही होता है। इसकी ओर कवि ने संकेत अवश्य किया है—

झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहि झूलन देइहि साईं॥ (२३)

जो आज भी सत्य है। उसी झूलने की अभिलाषा से—अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही तो वधुएँ श्रावण मास में अपने अपने नैहर को चली जाती हैं।

वास्तव में जायसी के वर्णनों में बड़ी पूर्णता है। उनकी पैनी दृष्टि से कोई चीज छिप नहीं सकी है। उनके नगर-वर्णन में मकान, चौपार, हाट, शृङ्गार-हाट, फूलवाली, पंडित, साधु, नाटक, कठपुतली वाला, ठग आदि सभी की चर्चा है।[2] उनमें चित्रपट, रेडियो, क्लब आदि में विचरण करने वाले आधुनिक सभ्य नागरिक को कोई

१—कहुँ सुन्दरी नहात वारि कर युगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु स्वच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि बदन करन अति ही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत॥

२—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १४-१५।

आकर्षण भले ही अनुभव न हो परन्तु मध्यकालीन व्यक्ति के लिए यही तो मनोरंजक सामग्री थी और इसी से थी उनके नगर की श्री-सम्पन्नता।

वैभव-वर्णन

कवि ने वैभव-वर्णन में अत्युक्ति से काम लिया है, किन्तु अपने अनुभव और सुन्दर ढँग के आश्रय में स्वाभाविकता को आंच नहीं आने दी है। सिंहलगढ़ की ऊँचाई का अनुमान कवि ने कितने कवित्त्व पूर्ण ढँग से किया है :—

तरहि करिन्ह वासुकि के पीठी। ऊपर चंद्र लोक पर दीठी॥ (१५)

चित्तौढ़ गढ़ की ऊँचाई का परिचय एक मुहाविरे के द्वारा दूसरे ही अनुपम ढँग से दिया है :—

बादसाह चढ़ि चितउर देखा। सब संसार पांव तर लेखा॥ (२४१)

कोट के चारों ओर की खाई की गहराई का कैसा अनुभूत और सत्य प्रमाण दिया है :—

परा खोह चहुँ दिसि अस बाँका। काँप जांघ, जाइ नहिं झांका॥ (१५)

यह तो हुई खाई की गहराई और कोट की ऊँचाई की वास्तविकता, अब तनिक इस विषय में कवि की अत्युक्ति पर विचार कीजिए :—

निति गढ़ बांचि चले ससि सूरू। नाहित होइ बाजि रथ चूरू॥ (१५)

यह अत्युक्ति भी सहेतुक होने से सत्य है। स्मरण रखना चाहिए कि जायस में कभी सूर्य ठीक सर के ऊपर नहीं आता, गर्मियों में भी थोड़ा सा कतराकर निकल जाता है।

कोट के मुख्य द्वार को सिंह-द्वार भी कहते हैं। अतएव कवि ने सिंहल और चित्तौड़ दोनों कोटों के द्वार पर सिंह-मूर्तियों की कल्पना की है। सिंहलगढ़ के सिंह तो वास्तव में सजीव बन गए हैं :—

बहु विधान वै नाहर गढ़े। जनु गाजहिं चाहहि सिर चढ़े॥
टारहिं पूंछ पसारहिं जीहा। कुंजरि डरहिं कि गुंजरि लीहा॥ (१५)

राजा गंधर्वसेन के अतुल वैभव का वर्णन भी कवि ने बड़े कौशल से किया है :—

मुकुट बांधि सब बैठे राजा। दर निसान नित जिन्ह के बाजा॥ (१८)

वास्तव में जिसके दरबार में मुकुट धारी राजा उपस्थित हों, उसके वैभव का क्या ठिकाना ?

राज-मंदिर के वर्णन में कवि ने प्रचिलित अत्युक्ति का ही आश्रय लिया है। उसमें कोई नवीनता नहीं है :—

हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै आवा ॥ (१८)

रत्नसेन-पद्मावती के लिए जो धौराहर निर्माण किया गया था उसमें भी हीरा, कपूर और मोतियों का ही प्रयोग हुआ था :—

हीरा ईंट कपूर गिलावा। मलयागिरि चंदन सब लावा ॥
चूना कीन्ह औटि गज मोती। मोतिहु चाहि अधिक तेहि जोती ॥
(१२७)

उस समय तक बिजली का आविष्कार तो हुआ ही नहीं था। अतएव राज-मंदिर मणियों के प्रकाश से जगमगाते रहते थे—

रतन पदारथ होइ उजियारा। भूलै दीपक औ मसियारा ॥ (१२७)

तथा,

मानिक दिया जरावा मोती। होइ उजियार रहा तेहि जोती ॥ (१२८)

उनके शयन के लिये जो सेज तैयार की गई थी उसकी कोमलता आदि की भी कवि ने उत्तम कल्पना की है—

तेहि मँह पालक सेज जो डासी। कीन्ह बिछावन फूलन्ह बासी ॥
चहुँ दिसि गेंडवा औ गल सूई। कांची पाट भरी धुनि रूई ॥ (१२८)

राजा गंधर्वसेन के वैभव का वर्णन कवि ने राजा के मुख से भी कराया है—

इन्दु डरै निति नावै माथा। जानत कृस्न सेस जेइ नाथा ॥
बरम्हा डरै चतुर मुख जासू। औ पतार डरै बलि बासू ॥
मही चलै औ चलै सुमेरू। चांद सूर औ गगन कुबेरू ॥
मेघ डरै बिजुरी जेहि दीठी। कूरुम डरै धरति जेहि पीठी ॥
चहौ आज मागौ धरि केसा। और को कटि पतंग नरेसा ॥ (१४४)

वहाँ भांट द्वारा रावण के वैभव का वर्णन कराया है—

सुरुज जेहि कै तपै रसोई। नितहि बसंधर धोती धोई ॥
सूक सुमन्ता, ससि मसिआरा। पौन करै नित बार बुहारा ॥
जमहि लाइ कै पाटी बाँधा। रहा न दूसर सपने काँधा ॥ (११४)

इन वर्णनों में केशव की सी विदग्धता तो नहीं है।[1] परन्तु राजा की गर्वोक्ति की अन्तिम पंक्ति बड़ी स्वाभाविक और सरस है।

राजा रत्नसेन की प्रजा की सम्पन्नता की ओर भी कवि ने अत्युक्ति पूर्ण संकेत किया है—

रतन पदारथ नग जो बखाने। घूरन्ह माँह देख छहराने॥ (२५०)

सेना, युद्ध, यात्रादि का वर्णन

अब राजसी अन्य ठाट-बाट सेनादि के वर्णन पर भी विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। राजा गन्धर्वसेन की सेना की तो कवि ने संख्या ही दी है—

छप्पन कोटि कटक दल साजा। सबै छत्रपति औ गढ़ राजा॥
सोरह सहस घोड़ घोड़सारा। श्याम बरन अरु बाँक तुखारा॥
सात सहस हस्ती सिंहली। जनु कविलास एरावत बली॥ (१०)

अन्तिम पंक्ति में उत्प्रेक्षा के सहारे सिंहली हाथियों की विशालकायता का आभास भी मनोरम ढंग से दे दिया है।

परन्तु इतने परिचय से कवि की पूर्ण विवरण देने की प्रवृत्ति तृप्त नहीं हो सकी। अतएव थोड़े से पृष्ठों के पश्चात् वह फिर उन्हीं हाथियों और घोड़ों का वर्णन करने लगता है। हाथियों के आकार का वर्णन कितना स्पष्ट है—

हस्ति सिंघली बांधे बारा। जनु समीप सब ठाड़ पहारा॥
कौनो सेत पीत रतनारे। कोनौ हरे धूम औ कारे॥
बरनहिं बरन गगन जस मेघा। औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेगा॥
सिंघल के बरनौ सिंघली। एक एक चाहि एक एक बली॥
गिरि पहार वै पैगहि मेलहि। बिरिछ उपारि डारि मुख मेलहि॥
माते तेइ सब गरजहिं बाँधे। निसि दिन रहहिं महाउत काँधे॥
धरती भार न अंगवै, पाँव धरत उठि हाल।
कुरुम टुटै भुँइ फाटै, तिन्ह हस्तिन्ह के चाल॥२१॥ (१७)

१—तुलना कीजिए—

पढ़ौ बिरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संग ही।
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इन्द्र की सभा नहीं॥

—रामचन्द्रिका।

इस वर्णन में हरे, लाल, पीले (कदाचित काले और श्याम के श्वेत हाथियों की चर्चा सुन कर) हाथियों को बाल-कल्पना के अतिरिक्त उनकी ऊँचाई, बल, चाल आदि का बड़ा ही काव्यात्मक सुन्दर वर्णन है।

घोड़ों के वर्णन में—

लील, समंद, चाल जग जाने। हांसुल, मौंर, सियाह बखाने॥
हरे, सुरंग, महुअ बहु भाँती। गरर कोकाह बुलाह सुपांती॥
तीख तुखार चांड औ बाँके। संचरहि पौरि बाज बिनु हाँके॥
पौन समान समुद पर धावहि। बूढ़ न पांव पार होइ आवहिं॥
थिर न रहहिं रिस लोह चवाहीं। माँजहिं पूँछ सीस उपराहीं॥(१७)

उनकी जातियों के नाम गिनाना उस समय की साधारण प्रवृत्ति के अनुकूल था, किन्तु रंगों की कल्पना से सारा वर्णन खिलवाड़ सा हो गया है, जिसके कारण उनकी चाल, चंचलता आदि विषयक कल्पना भी विशेष सरस नहीं प्रतीत होती।

बादशाह-चढ़ाई-खण्ड में कवि को फिर सेना के वर्णन का अवसर प्राप्त हो गया है। उसने घोड़ों की अनेक जातियाँ गिना दी हैं जिसमें काव्यात्मकता का अभाव है ही।[1] परन्तुः—

सिर औ पूँछ उठाए चहुँ दिसि सांस ओनाहि।
रोष भरे जस बाउर, पवन-तुरास उड़ाहिं ॥८॥ (२२१)

में घोड़ों की चपलता ज्यों की त्यों चित्रित कर दो है। यहाँ पर कवि हस्ति-सेना एवम् उसकी चाल का विशेष मनोरम वर्णन प्रस्तुत कर सका है।

लोहसार हस्ती पहिराए। मेघ साम जनु गरजत आए॥ (२२१)

से उनके रंग, ऊँचाई और गर्जन का आभास मिलता है। तथा,

ऊपर जाइ गगन सिर धँसा। औ धरती तर कँह धसमसा॥
भा भुँइचाल चलत जग जानी। जहँ पग धरहिं उठै तहँ पानी॥
चलत हस्ति जग काँपा, चाँपा सेस पतार।
कमठ जो धरती लेइ रहा, बैठि गएउ गजभार ॥९॥ (२२१)

इन पंक्तियों में उनकी ऊँचाई, स्थूलता, चाल, आदि का

१—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २२१।

अच्छा वर्णन है। वास्तव में कवि को हस्ति-वर्णन का मोह सा था। उसने चित्तौड़-गढ़ में बंधे हाथियों का वर्णन भी किया है—

औ बाँधे गढ़ गज मतवारे। फाटै भूमि होइ जो ठारे॥ (२२४)

तथा उनकी चाल, वृक्षों का उखाड़ लेना और उनसे मस्तक का झाड़ना आदि का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है—

सहस पांति गज मत्त चलावा। धँसत अकास, धँसत भुइ आवा॥
बिरिछ उपारि पेडि सों लेहीं। मस्तक झारि डारि मुख देहीं॥
(२२४)

जायसी को इतने वर्णन से तृप्ति न हुई। अतएव उसने रत्नसेन के घोड़े और हाथियों के शृंगार का फिर वर्णन किया है। घोड़े-हाथियों का सजाना मध्य-युग की विशेषता थी, जिसका आभास विजया दशमी के अवसर पर रजवाड़ों में सम्प्रति भी दृष्टिगोचर होता है। घोड़ों की सजावट देखिए—

बरन बरन पाखर अति लोने। जानहु चित्र संवारे सोने॥
मानिक जड़े सीस औ काँधे। चंवर लाग चौरासी बाँधे॥
लागे रतन पदारथ हीरा। × × (२२८)

हाथियों के रंगों को छोड़ कर उनकी सजावट पर भी विचार करिए:—

चमकहिं दरपन लोहे सारी। जनु परवत पर परी अँबारी॥
सिरी मेलि पहिराई सूँडे। देखत कटक पाँय तर रूँदे॥
सोना मेलि कै दंत सँवारे। गिरवर टरहिं सो उन्ह के टारे॥
परवत उलटि भूमि महँ मारहि। परै जो भीर पत्र अस झारहिं॥
अस गयंद साजे सिंघली। मोटी कुरुम पीठि कलमली॥

ऊपर कनक-मंजूसा, लाग चँवर औ ढार।
भलपति बैठे भाल लेइ, औ बैठे धनुकार॥२६॥ (२२८)

कवि ने इन हाथियों की सजावट का वर्णन कर उनको केवल दर्शनीय ही नहीं रहने दिया है, वरन् उनकी युद्धोपयोगिता पर भी पूरा जोर दिया है। सोने से मढ़े दान्त देखने में ही सुन्दर नहीं लगते, अपितु हाथी उनसे पहाड़ों को उलट देते हैं। वस्तुतः हिन्दी के शैशव-काल में जायसी का हस्ति-वर्णन बड़ा ही मनोरम और काव्योचित है।

अलाउद्दीन के सहायक तुर्कों की जातियाँ (कबीलों) उनके स्थान, सरदार तथा शस्त्रास्त्र का भी वर्णन कवि ने किया है, किन्तु इसमें कोई विशेषता नहीं है। इस असंख्य सेना के दिल्ली से प्रस्थान करते ही मध्य और दक्षिण भारत के राज्यों में खलबली मच जाने की बड़ी मनोरम तथा समयोचित कल्पना कवि कर सका है। इस खलबली का कारण था।—

जावत गढ़ औ गढ़पति, सब काँपै जस पात।
का कँह बोल सौंह भा, बादसाह कर छात ॥२॥ (२२३)

राजा रत्नसेन ने बचाव का प्रबन्ध किया। उसके सहायक भी आए। यहाँ पर कवि ने कुछ राजपूत कुल भी गिनाये हैं। किन्तु इसमें कुछ विशेषता नहीं है। गढ़-रक्षा-प्रबंध का वर्णन कवि ने एक सुयोग्य अनुभवी सैनिक दृष्टि से किया है जो कवि की कुशलता का परिचायक है:—

गढ़ तस सजा जो चाहै कोई। बरसि बीस लगि खांग न होई॥
खंड खंड चौखंड संवारा। धरी विषम गोलन्ह कै मारा॥
ठावहिं ठाव लीन्ह तिन्ह बाँटी। रहा न बीचु जो संचरै चाटी॥
बैठे धानुक कँगुरन कँगुरा। भूमि न आंटी अँगुरन अँगुरा॥
(२२५)

तोपों के वर्णन में कवि का मन खूब रमा है। उसमें उसने पर्याप्त कला-प्रदर्शन भी किया है। इसके वर्णन में सांग-रूपक की अनुपमता का विवेचन अलंकार प्रकरण में पहिले ही किया जा चुका है।

युद्ध-वर्णन

जायसी प्रेम का संदेश-वाहक कवि है। परन्तु आवश्यकतानुसार उसको पाँच युद्धों का वर्णन इस प्रेम-गाथा में करना पड़ा है। गन्धर्वसेन के विरुद्ध रत्नसेन, उसके साथियों और उसके सहायक देवता, राक्षस आदि का युद्ध अधिक भयंकर रूप न धारण कर सका था। अंगद ने पाँच हाथियों को, जिन्होंने आगे बढ़कर आक्रमण किया था, सूँड़ पकड़कर और चक्कर खिलाकर ऐसा फैंका कि आज-तक वे न लौटे:—

हस्ति पाँच जो अगमन धाए। तिन्ह अंगद धरि सूँड़ फिराए॥
दीन्ह उड़ाय सरग कहँ गए। लौटि न फिरै, तहँहि कै भए॥
(११६)

इसके उपरान्त जैसे ही हस्ति-सेना आगे बढ़ी, हनूमान ने अपनी पूँछ पसार कर सबको उसमें लपेटकर और फैंककर उनकी दुर्गति कर डाली:—

जैसे सेन बीच रन आई। सबै लपेटि लंगूर चलाई॥
बहुतक टूट भए नौ खंडा। बहुतक जाइ परे बरम्हंडा॥
बहुतक भँवत सोह अँतरीखा। रहे जो लाख भए ते लीखा॥
बहुतक परे समुद मँह, परत न पावा खोज॥
जहाँ गरव तहँ पीरा, जहाँ हँसी तहँ रोज॥१६॥ (११६)

हस्ति-सेना की यह दुर्दशा देखकर तथा शिव, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, बलि, बासुकि आदि सबको अपने विरुद्ध देखकर राजा गन्धर्वसेन शिवजी के पैरों पर आ पड़ा। इस प्रकार इस युद्ध का अन्त हुआ। शेष चार युद्ध कहानी के उत्तरार्द्ध में वर्णित हैं। उनमें से प्रथम युद्ध रत्नसेन और अलाउद्दीन का है। इस युद्ध की दोनों पक्षों की तैयारियों का दिग्दर्शन ऊपर हो चुका है। इस रण में हाथियों की लड़ाई के वर्णन में कवि ने बड़ी तत्परता दिखलाई है:—

हस्ती सहुँ हस्ती हठि गाजहिं। जनु परबत परबत सौं बाजहिं॥
× × × ×
परबत आइ जे परहिं तराहीं। दर मँह चापि खेह मिलि जाहीं॥
कोइ हस्ती असवारहि लेही। सूँड़ समेटि पायँतर देही॥
गगन रुधिर जस बरसे, धरती बहै मिलाइ।
सिर धर टूटि बिलाहिं, तस पानी पंक बिलाइ॥२॥ (२२०)

कवि ने इस युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों के चलने का भी थोड़ा सा वर्णन किया है जो साधारण और रूढ़ि-बद्ध है:—

बरसहिं सेल बान होइ कांदो। जस बरसै सावन औ भादों॥
झपटहिं कोपि, परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस मारी॥
(२२१)

युद्ध की भयानकता के वर्णन के पश्चात् रणभूमि की बीभत्सता का उल्लेख करना भी कवि भूला नहीं है:—

सीस कंध कटि कटि भुइ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे॥
अनंद बधाव करहि मस खावा। अब भख जनम जनम कँह पावा॥
चौंसठ जोगिनि खप्पर पूरा। बिग जंबुक घर बाजहिं तूरा॥
गिद्ध चील सब मांड़ो छावहिं। काग कलोल करहिं औ गावहिं॥
(२२२)

यह वर्णन वास्तव में काव्योचित हुआ है।

अंत में वीरों की प्रशंसा और कायरों की निन्दा भी है—

स्वामि काज जो जूझै, सोइ गए मुख रात।
जो भागे सत छाँड़ि कै, मसि मुख चढ़ी परात॥३॥ (२३१)

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युद्ध का वर्णन कवि ने बड़ी तत्परता और सहृदयता से किया है। वस्तुतः कवि के समस्त युद्ध-वर्णनों में यही पूर्ण है।

दूसरा युद्ध रत्नसेन के छूटने पर गोरा और उसके एक सहस्र वीर साथियों की बादशाह की असंख्य वाहिनी से टक्कर है। इन मुट्ठी भर वीर राजपूतों को शाही सेना घेर लेती है। कवि ने इस सेना की भयंकरता का चुने हुए शब्दों में अंकित कर दिया है—

ओनवत आइ सेन सुलतानी। जानहु परलय आवतु लानी॥
लोहे सेन सूझ सब कारी। तिल एक कहुँ न सूझ उघारी॥
पीलवान गज पेले बाँके। जानहु काल करहिं दुइ फांके॥
जनु जम कात करहिं सब भवाँ। जिउ लेइ चहहिं सरग अपसवाँ॥
सेल सरप जनु चाहहिं डसा। लेंहि काढ़ि जिउ मुख विष-बसा॥
(६०)

इस युद्ध के प्रारम्भ के पूर्व गोरा के उत्साह की अभिव्यक्ति बड़े ही स्वाभाविक शब्दों में की गई है—

हौं कहिए धौलागिरि गोरा। टरौं न टारे, अंग न मोरा॥

× × × ×

हौं होइ भीम आजु रन गाजा। पाछे घाल डुंगवै राजा॥
होइ हनुवंत जम कातर ढाहौं। आजु स्वामि साँकरे निबाहौं॥
होइ नल नील आजु हौं, देहुँ समुद महँ मेंड़।
कटक साह कर टेकौं, होइ सुमेरु रन बेंड़॥६॥ (२८६)

कवि ने इन राजपूतों की वीरता का सराहनीय वर्णन किया है-

सहस कुँवर सहसौ सत बाँधा। भार-पहार जूझ कर काँधा॥
लगै मरै गोरा के आगे। बाँग न मोर घाव मुख लागे॥
जैस पतंग आगि धँस लेई। एक मुवै, दूसर जिउ देई॥ (२६०)

परन्तु वास्तव में यह युद्ध गोरा के वीरत्व-प्रदर्शन का एक उज्ज्वल दृश्य था। जायसी ने उसकी वीरता का गान बड़े मनोयोग और सहृदयता के साथ गाया है—

कोपि सिंघ सामुहँ रन मेला। लाखन्ह सौं नहिं मरै अकेला ॥
लेइ हाँकि हिस्तन्ह कै ठटा। जैसे पवन बिदारै घटा ॥
जेहि सिर देइ कोपि करबारू। स्यों घोड़े टूटै असबारू ॥
लोटहिं सीस कबन्ध निनरे। माठ मजीठ जनहुँ रन ढारे ॥
खेलि फागु सेंदुर छिरकावा। चांचरि खेलि आगि जनु लावा ॥
हस्ती घोड़ धाइ जो धूका। ताहि कीन्ह सो रुहिर भभूका ॥ (२६१)

उसके इस इस प्रकार रुधिर से होली खेलने का हेतु भी कवि बड़ी विदग्धता से वर्णन करता है—

रतनसेन जो बांधा, मसि गोरा के गात।
जो लगि रुहिर न धोवों, तो लगि होइ न रात ॥१४॥ (२६१)

गोरा का अन्तिम वीरता पूर्ण कृत्य था निकली हुई आँतों को अन्दर रख और बांध कर लड़ना, जिसकी सराहना भाँट द्वारा कवि ने कराई है—

भाँट कहा, धनि गोरा, तू भा रावन राव।
आँति समेटि बाँधि कै, तुरय देत है पाव ॥१५॥ (२६२)

इस प्रकार वीरता-प्रदर्शन करते हुए गोरा ने वीर-गति पाई—

गोरा परा खेत महँ, सुर पहुँचावा पान। (२६३)

वास्तव में यह युद्ध गोरा का युद्ध था और कवि ने इसके वर्णन में पूर्ण सहृदयता प्रकट की है तथा अपने काव्य के साथ-साथ गोरा की वीरता को भी अमर बना दिया है।

तीसरा युद्ध रत्नसेन-देवपाल का है। इसका कारण था प्रतिशोध। देवपाल के नीचता पूर्ण कृत्य (दूती भेज कर पद्मिनी को फुसलाने का प्रयत्न करना) के लिए उसे दण्ड देने के हेतु रत्नसेन उस पर आक्रमण कर देता है। कवि ने दोनों दलों के भिड़ने की चर्चा तो की है—

दुवौ अनी सनमुख भई, लोहा भएउ असूझ।
सत्रु जूझि तब निबरे, एक दुवौ महँ जूझ ॥१॥ (२६७)

परन्तु युद्ध का कोई विशेष वर्णन न देकर कवि ने देवपाल की विष बुझी सांग से रत्नसेन का आहत होना तत्पश्चात् रत्नसेन

के असि-प्रहार से देवपाल का शिर धड़ से अलग हो जाने की कथा-मात्र वर्णन कर दी है—

मेलेसि सांग आइ विष भरी। मेटि न जाइ काल के धरी ॥
आइ नाभि पर सांग बईठी। नाभि बेधि निकसी सो पीठी ॥
चला मारि, तब राजै मारा। टूट कंध, धड़ भएउ निनारा ॥
सीस काटि कै बैरी बाँधा। पावा दाँव वैर जस साधा ॥ (२६७)

अन्तिम युद्ध बादल के नेतृत्व में राजपूतों और अलाउद्दीन का युद्ध है। उसमें कवि ने न तो राजपूतों की निराशा, जौहर की तैयारी और हताश राजपूतों के विकराल युद्ध एवम् धधकती चिता में राजपूत वीर-बालाओं के सहर्ष आत्मसात होने के वर्णन का प्रयत्न किया है, न इससे उसका प्रयोजन शेष रह गया था। इस समस्त भीषण दृश्य का एक अर्द्धाली और एक दोहे में वर्णन कर कवि ने अपनी प्रेमकथा को समाप्त कर दिया है:—

भा धावा, भइ जूझ असूझा। बादल आइ पवँरि पर जूझा ॥
जौहर भईं सब इस्तरी, पुरुष भए संग्राम।
बादशाह गढ़ चूरा, चित उर भा इसलाम ॥४॥ (३००)

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि ने किसी वर्णन को निष्प्रयोजन विस्तार नहीं दिया है। जिस युद्ध में जितने विस्तार की आवश्यकता थी, जितना वर्णन कवि को अभीष्ट था उतने ही में उसने तत्परता दिखलाई। सब युद्धों में बादशाह-राजा-युद्ध पूर्ण है और उसमें सभी पक्षों का पूर्ण विवेचन है। अस्तु जायसी का युद्ध-वर्णन बड़ा सफल हुआ है और कवि ने युद्ध-वीरों का जी खोलकर सराहा है।

संधि-वर्णन

युद्ध के पश्चात् संधि का अवसर दो स्थलों पर कवि को मिला है। प्रथम अवसर पर वस्तुतः संधि नहीं कही जा सकती है। राजा गन्धर्वसेन समस्त देवताओं को, जिन पर उसे गर्व था, अपने विरुद्ध देखकर महादेव के चरणों में गिर पड़ता है। बस, युद्ध समाप्त हो जाता है और महादेव जी पुनः बसीठी करने लगते हैं:—

पुनि महेस अब कीन्ह बसीठी। पहिले करुइ, सोइ अब मीठी ॥
(११७)

और पद्मावती का विवाह रत्नसेन के साथ कर देने के लिये राजा

को तैयार कर लेते हैं। इस प्रकार इस संधि में न कोई शर्त है और न दूतों की चालें। राजनैतिक दृष्टिकोण से यह संधि नहीं हुई।

वास्तविक संधि रत्नसेन-अलाउद्दीन के मध्य हुई। युद्ध के पश्चात् संधि के लिये दोनों पक्षों की उत्सुकता—अपनी अपनी दुर्बलताओं के कारण—कवि ने बड़े कौशल से इंगित की है। राजा को अपनी रक्षा का कोई उपाय न सूझता था—यह बला किसी प्रकार भी टाले न टल रही थी। अतएव हताश होकर राजपूत जौहर की तैयारियाँ करने लगे:—

पुरुषन्ह खड़ग सभांरे, चंदन खेवरे देह।
मेहरिन्ह सेंदुर मेला, चहहिं भई जरि खेह ॥१७॥ (२३७)

उधर बादशाह आठ वर्ष के घेरे के पश्चात् भी अभीष्ट (पद्मावती) को प्राप्त न कर सका। पद्मिनी कहीं जौहर न हो जाय इस कारण विशेष आतंककारी आक्रमण भी न कर सका। अब दिल्ली की खबरें भी अच्छी न थीं। हरेवों के आक्रमण होने लगे थे और आशंका थी कि चित्तौड़ के पीछे कहीं दिल्ली भी न हाथ से निकल जावे:—

पछिउँ हरेव दीन्हि जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंह के दीठी ॥
जिन्ह भुँइ माथ, गगन तेइ लागा। थाने उठे, आव सब भागा ॥
उहाँ साह चितउर गढ़ छावा। इहाँ देस अब होइ परावा ॥ (२३७)

परन्तु बिना गढ़ लिये लौट जाना अपमानजनक था। अस्तु—

गढ़ सौं अरुझि जाइ तब छूटै। होइ मिराव, कि सो गढ़ टूटै ॥
(२३८)

अतः लाचार होकर बादशाह ने संधि-प्रस्ताव भेजा। उसमें अलाउद्दीन ने अपनी उदारता प्रकट करते हुए शर्त रक्खीः—

कहु तोहि सों पद्मिनि नहि लेऊँ। चूरा कीन्ह छांड़ि गढ़ देऊ ॥
आपन देश खाहु सब, औ चंदेरी लेहु।
समुद जो समदन दीन्ह तोहि, ते पाँचो नग देहु ॥१॥ (२३८)

बादशाह का कूटनीति-कुशल दूत सरजा रत्नसेन के पास पहुँच कर पहिले तो राजा को धौंसाता है:—

× × । पै तोहि सूझ न आपन नासू ॥
आजु कालिह चाहै गढ़ टूटा। अबहूँ मान जौ चाहसि छूटा ॥ (२३९)

तदुपरांत सुझाता है कि समुद्र से प्राप्त पाँचों रत्न शाह को भेंट कर दो,

शायद वह प्रसन्न हो जावे और तुम्हारे अपराधों को क्षमा कर दे:—

हैं जो पांच नग तो पँह, लेइ पाँचौ कइ भेंट।
मनु सो एक गुन मानै, सब ऐगुन धरि मेंट ॥४॥ (२३६)

यह सुनकर राजा के जी में जी आ जाता है। किन्तु कहीं छल न हो इस कारण दूत से शपथ ली गई। उस धूर्त ने शपथ ली और राजा को—

सरजै सपथ कीन्ह छल, बैनहिं मीठे मीठ।
राजा कर मन माना, माना तुरत बसीठ ॥५॥

अस्तु, समुद्र से प्राप्त पांचों नग दे दिये गए और संधि हो गई। इसके उपलक्ष्य में बादशाह को भोज भी दिया गया।

छल-वर्णन

बादशाह ने बाहर से बड़ी मित्रता प्रकट की। राजा का सरल और सच्चा हृदय इस दिखावटी प्रेम में भूल गया—

बहुत मया सुनि राजा फूला। चला साथ पहुँचावै भूला॥
साह हेतु राजा सौं बाँधा। बातन्ह लाइ लीन्ह गहि काँधा॥ (२६०)

पहिली पौरि पर बादशाह ने राजा को खिलअत पहिनाई, सौ घोड़े, तेईस हाथी, दुंदभी और चोघड़ा दिए; दूसरी पर असवार दिए; तीसरी पर असंख्य नग दिये; चौथी पर करोड़ द्रव्य दिए; पाँचवीं पर चार हीरे दिए; छठी पर माढौ और सातवीं पर चँदेरी के किले बख्श दिए।[1] परन्तु सातवीं पौरी के पार होते ही राजा रत्नसेन बाँधकर कैद कर लिया गया। इस प्रकार कवि ने अलाउद्दीन के कपट-जाल की पूर्ण मनोवैज्ञानिक पीठिका प्रस्तुत कर दी है। जिसमें तनिक भी अस्वाभाविकता की गंध नहीं है।

दूसरा छल राजपूतों द्वारा रचा गया। अलाउद्दीन से लड़कर जीतना और रत्नसेन को छुड़ाना उनके लिए नितान्त असम्भव था। अतएव "शठे शाठ्यं समाचरेत" वाली नीति बरती गई—

जस तुरकन्ह राजा कर साजा। तस हम साजि छोड़ावहिं राजा॥
(२८६)

सोलह सौ पालकी सजाई गईं जिनमें सशस्त्र राजपूत बैठे। पद्मावती के स्थान पर एक लोहार बैठा। कहारों के वेष में

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २६०।

भी वीर राजपूत थे और साथ में तीस सहस्र घुड़सवार भी चले। और यह प्रसिद्ध करा दिया गया कि रानी पद्मावती अलाउद्दीन के यहाँ राजा को छुड़ाने जा रही है—

राजहि चली छोड़ावै, तँह रानी होइ ओल।
तीस सहस तुरि खिची संग, सोरह सै चंडोल ॥२॥ (२८७)

परन्तु इस छल के खुल जाने की आशंका बराबर बनी हुई थी। अतएव वृद्ध गोरा ने व्यावहारिक अनुभव से कार्य लिया। कुछ आगे बढ़ कर सर्वप्रथम कैदखाने के दारोगा को दस लक्ष टंका[1] उसने भेंट कर दिए और उसके पैरों पर गिरकर विनती की—

टका लाख दस दीन्ह अंकोरा। विनती कीन्ह पाँय गहि गोरा ॥
(२८७)

तदुपरान्त बादशाह से प्रार्थना की

विनवा बादशाह सौं जाई। अब रानी पद्मावती आई ॥
विनती करै आइ हौं दिल्ली। चितउर कै मोहि स्यों है किल्ली ॥
विनती करै जहाँ है पूँजी। सब भंडार कै मोहि स्यों कूँजी ॥
एक घरी जौ आज्ञा पावौं। राजहि सौंपि मंदिर मँह आवौं ॥
(२८७)

घूसखोर दारोगा ने भी साक्ष्य दी। अतएव आज्ञा मिल गई। कपट-जाल सफल हो गया। राजा के बन्धन काट कर घोड़े पर चढ़ा कर उसे चित्तौड़ भेज दिया गया और राजपूत शस्त्र ले युद्ध में जुटगए। अस्तु स्पष्ट है कि कवि ने अपने विवरण की पूर्णता में तनिक भी त्रुटि नहीं छोड़ी है।

उत्सवादि का वर्णन

कवि ने उत्सवादि के वर्णनों में भी विवरण की पूर्णता की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया है। उसने पद्मावती, रत्नसेन तथा उसके दोनों पुत्रों के जन्म का वर्णन किया है। इन में पद्मावती के जन्म का विवरण विस्तार पूर्वक है। पद्मावती-ज्योति आकाश में निर्मित होकर प्रथम गन्धर्वसेन के मस्तिष्क पर मणि रूप में आई, तदुपरान्त चम्पावती के गर्भ में आई। अन्त में दस मास के

१—टंका-अलाउद्दीन के समय में प्रचलित एक सिक्का था।

पश्चात् कन्या रूप में प्रकट हुई।[1] कवि ने उसके जन्म, छठी, एवम् नामकरण की चर्चा की है तथा जन्म-पत्र का विवरण भी पंडितों द्वारा कहलवाया है।[2] इस वर्णन में कवि का मन नहीं रम पाया है। अतएव इसमें सरसता भी नहीं है।

रत्नसेन के जन्म का वर्णन कवि ने और भी सूक्ष्म किया है। परन्तु ज्योतिषियों द्वारा उसके अदृष्ट का विवरण देते हुए कथाभास देना कवि भूला नहीं है।[3]

रत्नसेन के पुत्र-द्वय का जन्म-वर्णन भी उसी ढर्रे का है। जन्म-पत्रियों का लेखा अवश्य प्रस्तुत है।[4] परन्तु इस स्थल पर कवि की एक विशेषता भी है। उसने इस अवसर पर दान-दक्षिणा दिलाकर तथा आनन्द बधाइयों की चर्चा करके पुत्र जन्मोत्सव के आनन्द का एक रेखा-चित्र उपस्थित कर दिया है—

खोलि भंडारहिं दान देवावा। दुखी सुखी कर मान बढ़ावा॥
साधक लोग गुनी जन आए। औ आनन्द के बाज बधाए॥
बहु किछु पावा जोतिसिन्ह, औ देइ चले असीस।
पुत्र कलत्र कुटुम्ब सब, जीवहि कोटि बरीस॥१॥ (१६८)

किन्तु हमारा विचार है कि कवि जन्मोत्सव के उल्लास, उमंग, आदि का विवरण देने में सफल नहीं हो सका है।

पूजा-वर्णन

कवि ने तीन स्थलों पर पूजा का वर्णन किया है। तीनों प्रसंगों में एक ही आराध्य देव की पूजा की गई है। एक बार रत्नसेन द्वारा अपनी अभीष्ट-सिद्धि की याचना है, द्वितीय बार पद्मावती की वैसी ही याचना है और अन्तिम बार पद्मावती का अभीष्ट-प्राप्ति के पश्चात् कृतज्ञता प्रकाशन है।

राजा रत्नसेन अपनी दीनता-हीनता की दुहाई देता हुआ पूर्व द्वार से देव के समक्ष उपस्थित होता है—

१—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १९।
२—वही, पृ० २०।
३—वही, पृ० २१।
४—वही, पृ० १९८।

नमो नमो नारायन देवा। का मैं जोग करौं तोरि सेवा॥
तू दयाल सबके उपराहीं। सेवा केरि आस तोहि नाहीं॥
ना मोहि गुन न जीभ रस बाता। तू दयाल गुन निरगुन दाता॥
पुरवहु मोरि दरस कै आसा। हौं मारग जोवौं धरि साँसा॥
तेहि विधि विनै न जानौं, जेहि विधि अस्तुति तोरि।
करहु सुदिस्टि मोहि पर, हींछा पूजै मोरि॥१॥ (७१)

इन पंक्तियों में हिन्दू-प्रणाली के आभास के साथ-साथ भक्त के हृदय की सच्ची भावना सरल शब्दों में व्यक्त की गई है।

राजकुमारी पद्मावती की पूजा में राजसी ठाट बाट का आयोजन भी है—

फर फूलन्ह सब मंडप भरावा। चंदन अगर देव नहवावा॥ (८३)

तदुपरान्त दैन्य-प्रदर्शन और अभीष्ट-प्राप्ति पर कलस की मनौती सभी कुछ सत्य है, वास्तविक है—

हौं निरगुन जेहि कीन्ह न सेवा। गुनि निरगुनि दाता तुम देवा॥
बर सौं जोग मोहि मेलहु, कलस जाति हौं मानि।
जेहि दिन हींछा पूजै, वेगि चढ़ावहुँ आनि॥६॥ (८३)

अभीष्ट-प्राप्ति पर—रत्नसेन के साथ विवाह हो जाने पर, पद्मावती अपनी "मनौती" का पूर्ण कृतज्ञता के साथ पालन करती है। १००१ कलश चढ़ाती है, देवता को अपने हाथ से स्नान कराती है, आदि—

अपने हाथ देव नहवावा। कलस सहस इक घिरित भरावा॥
पोता मंडप अगर औ चन्दन। देव भरा अरगज औ वंदन॥ (१४७)

विवाह-वर्णन

जायसी की निजी विशेषता-वर्णन की पूर्णता यहाँ भी दृष्टि-गोचर होती है। लग्न-शोधन और न्योते का विवरण भी कवि भूला नहीं है—

लगन धरा औ रचा वियाहू। सिंघल नेवत फिरा सब काहू॥ (१२१)

रत्नसेन के सजने का तथा बरात का वर्णन भी है, किन्तु उसमें कोई विशेषता नहीं है। कवि ने इसका संक्षेप में वर्णन करना ही उचित समझा है—

साजा राजा बाजन बाजे। मदन सहाय दुऔ दर गाजे ॥
औ राता सोने रथ साजा। भए बरात गोहने सब राजा ॥ (१२१)

यद्यपि पद्मावती अपने दूलहा रत्नसेन के दर्शन कर चुकी थी, तथापि प्रचलित रस्म को पूर्णतया चित्रित करने के हेतु कवि ने वधू की दूल्हे के दर्शनों की तीव्र लालसा का बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। (स्मरण रखना चाहिये कि पद्मावती की सखियों को उसके प्रेम-रहस्य का पता नहीं है):—

पद्मावति धौराहरि चढ़ी।········× × ॥
देखि बरात सखिन्ह सौं कहा। इन्ह मँह सो जोगी को अहा ॥

तथा,

को बरिवंड वीर अस, मोहि देखे कर चाव।
पुनि जाइहि जनवासहि, सखि मोहि बेगि देखाव ॥४॥ (१२२)

सखियों का उस भीड़ में पहिले उठे हुए छत्र फिर रथ की ओर इंगित करके उसमें बैठे हुए दूल्हे की ओर इंगित करना वर्णन की स्वाभाविक सुन्दरता एवम् कवि-निरीक्षण के सबल प्रमाण हैं:—

अस रवि देखु उठै परभाता। उठा छत्र तस बीच बराता।
ओही माँझ भा दूलह सोई। और बरात संग सब कोई ॥ (१२२)

तदुपरांत बरात का स्वागत, सोने की चित्रसारी में बरात का ठहराया जाना, भोज और पान का वर्णन करके विवाहाचार का वर्णन किया है। मंडप, बंदनवार, चौक आदि सब वस्तुओं का यथा स्थान वर्णन है—

माड़ौ सोनक गगन सँवारा। बंदन बार लाग सब बारा ॥
राजा पाट छत्र कै छांहा। रतन चौक पूरा तेहि माँहा ॥
कंचन कलस नीर भरि धरा। इन्द्र पास आनी अपछरा ॥ (१२६)

पाश्चात्य रंग में रंगा आज का हिन्दू चाहे गठ-बंधन को ढकोसला ही समझता हो, परन्तु सोलहवीं शताब्दी का विवेकशील सहृदय मुसलमान उस कृत्य की महत्ता स्वीकार करता था—

गांठि दुलह दुलहिन कै जोरी। दुवौ जगत जो जाइ न छोरी ॥
(१२६)

पंडितों का वेद-मंत्रों द्वारा विवाह-संस्कार कराना, वधू का वर को जयमाला पहिनाना, वर का पाणि-ग्रहण करना, मध्ययुग के

प्रचलित भद्दी रिवाज—'स्त्रियों का गाली गाना' भावरें और न्यौछावरि आदि सभी विवरण प्रस्तुत कर कवि ने अपने निरीक्षण के परिचय के साथ-साथ हिन्दू-संस्कारों के प्रति अपनी श्रद्धा का प्रमाण दिया है। दायज-वर्णन में कवि ने अपनी असमर्थता स्वीकार कर पाठकों को एक लम्बी वस्तु-सूची के अरुचिपूर्ण पाठ से छुटकारा दिला दिया है—

भइ भाँवरि, नेवछावरि, राज चार सब कीन्ह।
दायज कहौं कहाँ लग, लिखि न जाइ जत दीन्ह ॥१५॥ (१०६)

कवि ने अपने स्वभावानुसार सोहाग-रात का भी बड़ा विशद विवरण दिया है। इस विवरण में सखियों का परिहास[1] पद्मावती का संकोच,[2] सारि-पासा खेल का प्रस्ताव,[3] आदि प्रसंग बड़े मनोरम एवम् समयोचित हैं। किन्तु राजा रत्नसेन का रसायनी-प्रलाप,[4] बारह आभरण[5] और सोलह शृंगार की[6] व्याख्या इस मनोरम प्रसंग में वस्तुतः विरोध उपस्थित करती है। तथा सम्भोग की विविध चेष्टाओं के चित्रण[7] से जो अश्लीलता आ गई है वह वर्णन की दृष्टि से चाहे जितनी सजीव और सत्य क्यों न हो, उसका वर्णन प्रबंध-काव्य में दोष-पूर्ण ही माना जावेगा।

भोज-वर्णन

जायसी ने तीन भोजों का वर्णन अपने काव्यों में किया है। जिनमें से दो का वर्णन 'पद्मावत' में है। एक भोज राजा गन्धर्वसेन ने रत्नसेन की बरात को दिया था और दूसरा राजा रत्नसेन ने अलाउद्दीन को। एक प्रकार से यह दोनों भोज एक दूसरे के पूरक हैं, क्योंकि द्वितीय भोज में भोज्य पदार्थों की विविध पाक-क्रियाओं का ही वर्णन है,[8] जिनके कारण यह खण्ड पाक-शास्त्र का

१—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १३०।
२—वही, पृ० १३२।
३—वही पृ० १३६।
४—वही पृ० १२९।
५—वही पृ० १३०।
६—वही पृ० १३१।
७—वही पृ०, १४०।
८—वही, पृ० २४१ से २४८ तक।

एक अध्याय सा प्रतीत होता है। परन्तु प्रथम भोज में ज्यौनार का पूरा विवरण है[1]-बरातियों का पंक्तियों में बैठना, पत्तल, थाल, कटोरा आदि का रखा जाना, भात, लुचई, पूड़ी आदि का परोसा जाना, बाजा न बजने पर रत्नसेन का रूठ कर भोजन न करना, (आजकल दक्षिणा के लिये दूल्हे रूठ जाते है, तथा खंडवानी, पान आदि का पूर्ण उल्लेख है। इस भोज की कुछ विशेषताएँ भी हैं। एक विशेषता कवि ने स्वयं अपने शब्दों में प्रकट कर दी है:—

यह कावलास इन्द्र कर बासू। जहाँ न अन्न न माछरि मांसू॥

(१२४)

जिसके कारण पाक-शास्त्रियों के लिये एक उलझन अवश्य उठ खड़ी हुई है—यदि वहाँ पर अन्न सुलभ न था, तो लुचई, मुरंडे आदि किस प्रकार बनाए गए।

दूसरी विशेषता कवि द्वारा वर्णन की है। वह जिन-जिन पदार्थों को सोच सकता है, जिन पदार्थों के नाम उसने सुने किंवा किसी भोज में देखे थे, उन सबको उसने अपने वर्णन में सम्मिलित कर लिया है। फलतः पत्तल और थाल, दोने और कटोरे-कटोरियाँ दोनों प्रकार की वस्तुएँ परोसी गई और कवि भूल गया कि पत्तल तथा दोने तो थाल और कटोरी के अभाव की पूर्ति करते हैं। एक बात और ध्यान देने की है—शायद जायसी गिलास से परिचित न थे। उन्होंने गडुओं (लोटों) का ही उल्लेख किया है:—

गडुवन हीर पदारथ लागे। (१२४)

दूसरे भोज में भी यह प्रवृत्ति लक्षित होती है, जहाँ प्रत्येक जाति के जानवर और चिड़िया तथा मछली के मांस, प्रत्येक प्रकार के चावल, शाक आदि का विवरण है।

तीसरा भोज 'आखिरी-कलाम' में वर्णित स्वर्गीय भोज है, जिसकी विशेषताओं का उल्लेख पूर्व पृष्ठों में हो चुका है।

विदाई-वर्णन

भारतीय वातावरण में लड़की का नैहर से विदा होना एक बड़ा ही करुण दृश्य होता है जिससे महात्मा कण्व जैसे विरक्त भी

1 —देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १२४ से १२६।

विचलित हो उठे थे।' इसमें तो सन्देह नहीं कि जायसी का हृदय करुणा से परिपूर्ण था। अस्तु ऐसे प्रसंग उपस्थित होने पर उनकी लेखनी से करुणा की धारा बह निकलती थी। पद्मावती अभी तक पति के प्रथम समागम से लोकोत्तर आनन्द में रस-मग्न थी, सहसा बिदाई की चर्चा सुनकर—

गमन चार पद्मावति सुना। उठा धसकि जिउ औ सिर धुना॥
(१६६)

सखियाँ आती हैं और वे भी करुण-विलाप करती हैं:—

धनि रोवत रोवहिं सब सखी। हम तुम्ह देखि आपु कँह झँखी॥
(१६७)

बिदाई के अवसर पर माता-पिता भी रोते रह जाते हैं:—

रोवत मात-पिता औ भाई। कोउ न टेक जो कंत चलाई॥
रोवहिं सब नैहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥ (१७०)

सती-वर्णन

अन्तिम विदा का दृश्य भी बड़ा करुण होता है। परन्तु उस समय सती का लक्ष्य सुस्थिर होता है, अतएव उसका हृदय शान्त और गम्भीर होता है। उस समय न रोना होता है, और न उद्विग्नता का अन्य कोई चिह्न लक्षित होता है। उस समय समस्त उपस्थित समाज पर गम्भीरता छा जाती है। सतियों का लक्ष्य उनके सामने होता है—

दुवौ सवति चढ़ि खाट बईठी।
औ सिवलोक परा तिन्ह दीठी॥ (२६६)

इस यात्रा में भी बाजा साथ होता है। उसमें भी गम्भीरता होती है। राजा रत्नसेन की दोनों पत्नियाँ अपने पति के शव के साथ बड़ी शान्ति से भस्म हो जाती हैं—

लेइ सर ऊपर खाट बिछाई। पौढ़ी दुऔ कंत गर लाई॥

१—यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया,
कण्ठः स्तम्भित वाष्पवृत्ति कलुषश्चिन्ता जडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः
पीड्यन्ते गृहिणः कथं नु तनया विश्लेष दुःखैर्नवैः॥६॥
—अभिज्ञान शाकुन्तलम् (चतुर्थोऽङ्कः)।

लागी कंठ आगि देइ हारी। छार भई जरि अंगन मोरी ॥ (३००)

ऐसी सतियों को धन्य है।

अन्य छोटे-छोटे वर्णनों में राजा रत्नसेन का स्वागत, सपत्नियों की लड़ाई, यात्रा, आदि के वर्णन भी बड़े रमणीय हैं।

मानव दशाओं का वर्णन

प्रकृत कवि मनुष्य की दशाओं पर मार्मिक दृष्टिपात करते हैं और उनका चित्रण भी बड़ी सफलता पूर्वक करते हैं। जो कवि जितनी अधिक दशाओं का सफल वर्णन करता है, वह उतना ही बड़ा कवि है। जायसी ने अपने काव्य में मनुष्य की अनेक दशाओं के बड़े मनोरम चित्र उपस्थित किए हैं। उनमें से कतिपय दशाओं का विवेचन हो चुका है। अब हम कुछ विशेष दशाओं का अध्ययन करेंगे—

मनुष्य की तीन अवस्थाओं—बाल्य, यौवन और वृद्ध—में से किसी का भी व्यापक वर्णन जायसी में नहीं मिलता। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि सूर का सा व्यापक वर्णन केवल मुक्तकों का ही विषय हो सकता है, फिर भी तुलसी के बालदशा-चित्रण सर्वथा प्रबन्ध काव्य के अनुकूल ही नहीं, अपितु आवश्यक अंग बन गए हैं। जायसी ने केवल पद्मावती के बाल्य और यौवन की चर्चामात्र की है। बाल्य-क्रीड़ाओं का कुछ भी वर्णन न करके केवल—

पाँच बरिस में भइ सो बारी। दीन्ह पुरान पढ़ै बैसारी ॥ (५२)

की चर्चा की है। तदुपरान्त वयः संधि का थोड़ा सा वर्णन करके साधारण कहानियों की भांति उसी के मुख से उसकी मदनपीड़ित अवस्था का उल्लेख कराया है—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई ॥

तथा,

यौवन मोर भएउ जस गंगा। देह देह हम्ह लाग अनंगा ॥ (२१)

इस प्रकार हम देखते हैं कि यौवनावस्था का भी कोई विशेष सुन्दर चित्र कवि नहीं उपस्थित कर सका है। हाँ, यौवनकाल की जल-क्रीड़ा और हिंडोल-क्रीड़ाओं का विवरण अवश्य सुन्दर है।[१]

१—देखिए जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २३-२४।

वृद्धावस्था का तो विशद चित्र कवि ने उपस्थित किया है --

मुहम्मद विरिध बैस जो भई। योवन हुत सो अवस्था गई ॥
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनहि देइ नीरू ॥
दसन गए कै पचा कपोला। बैन गए अनरुच देइ बोला ॥
सुधि जो गई देइ हिय बौराई। गरब गएउ तरहुत सिर नाई ॥
सरवन गएउ ऊँच जो सुना। स्याही गई, सीस भा धुना ॥
(३०२)

तथा दो सूक्तियों द्वारा इस अवस्था की मार्मिकता की ओर पाठकों का आकृष्ट कर लिया है—

विरिध जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस ॥३॥ (३०२)

तथा,

मुहम्मद विरिध जो नइ चलै, काह चलै भुँइ टोइ।
जोवन रतन हेरान है, मकु धरती महँ होइ ॥२॥ (२६८)

सौन्दर्य-वर्णन

जायसी ने नायिका के सौन्दर्य का वर्णन विस्तार पूर्वक एक बार शुक द्वारा और दूसरी बार राघव चेतन द्वारा कराया है, तथा प्रसंगानुकूल उसके सौन्दर्य की दिव्य झलक से तो सारा काव्य ही ओत-प्रोत है। एक बात और ध्यान देने की है—कवि ने किसी पुरुष अथवा बालक के रूप-सौन्दर्य का कोई वर्णन नहीं किया है। अस्तु, पद्मावती के सौन्दर्य-वर्णन पर भी थोड़ा सा विचार कर लेना असंगत न होगा। सौन्दर्य-वर्णन में किन मौलिक तथा परम्परागत उपमानों का आश्रय लिया गया है और इनके कारण सौन्दर्याभिव्यक्ति में कवि कहाँ तक सफल हुआ है इसका विस्तार-पूर्वक विवेचन अलंकार प्रकरण के अन्तर्गत हो चुका है। यहाँ पर हम दोनों वर्णनों की विशेषताओं पर विचार करेंगे।

नख-शिख-खण्ड में कवि ने केश, माँग, ललाट, भौंह, नयन, बरूनी, नासिका, अधर, दसन, रसना, कपोल, श्रवण, ग्रीवा, कलाई, भुजा, वक्षस्थल, पेट, पीठ, लंक, नाभि, नितम्ब, जंघा एवम् चरणों का पूरा विवरण दिया है और प्रायः एक-एक अंग-प्रत्यंग के वर्णन में सात अर्द्धालियां तथा एक दोहे से कम में काम नहीं चला है। पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड में प्रथम उसके रूप, रंग

कान्ति, मुस्कराहट, और मधुर बोली की चर्चा करके उसकी वेणी, माँग, ललाट, भौंह, नेत्र, नासिका, अधर, दसन, रसना, श्रवण, कपोल, ग्रीवा, कलाई, वक्षस्थल तथा लंक पर्यन्त वर्णन किया गया है। बहुत कुछ सामग्री तो दोनों वर्णनों में प्रायः समान ही है।

अब इन वर्णनों के प्रकार पर भी ध्यान देना चाहिये। कवि ने दोनों स्थलों पर खुले हुए, लहराते हुए केशों का वर्णन किया है और उनकी श्यामता, विशालता तथा लहराने पर विशेष ध्यान दिया है—

बेनी छोरि झारि जौ बारा। सरग पतार होइ अँधियारा ॥ (४२)

तथा,

लुरहि. मुरहिं जनु मानहि केली। नाग चढ़े मालति कै बेली ॥ (२१०)

वास्तव में केशों के घुंघरालेपन का कवि ने बड़ा सजीव चित्र उपस्थित किया है। प्रथम वर्णन में माँग सिंदूर रहित है और दूसरे में सिंदूर सहित। केवल रंग-साम्य के बल पर कवि ने उपमानों की झड़ी लगादी है जिन से वर्णन में तनिक भी सौन्दर्य-वृद्धि नहीं होती। ललाट के संकरेपन तथा उसकी कान्ति का ही वर्णन है। भौंहों की धनुष से समानता वर्णन की है, किन्तु जब कवि उस धनुष के अधिकारियों के नाम गिनाने लगता है[1] तब उस वर्णन से अरुचि उत्पन्न होने लगती है।

कवि ने नेत्रों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उनकी चंचलता देखिए—

चपल बिलोल डोल उन्ह लागे। थिर न रहैं चंचल बैरागे ॥(२१२)

तथा,

राते कँवल करहिं अलि भँवा। घूमहिं मात चहहिं अपसँवा ॥(४२)

उन नेत्रों की विशालता की ओर कवि ने कितना सुन्दर संकेत किया है—

फिरि फिरि स्रवनन लागहिं मते। (२१२)

तथा, उनका बाँकपन भी दर्शनीय है—

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २१२।

अंग सेत, मुख साम सो ओही। तिरछे चलहिं सूध नहिं होही ॥
(२१२)

नासिका और अधर-वर्णन में कवि ने परम्परागत उपमानों का ही आश्रय लिया है और कोई सुन्दर चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न नहीं किया है। कवि ने अपने समय की सुन्दरियों के मिस्सी लगे दाँतों को ही लक्ष्य करके वर्णन किया है और उन दांतों की चमक को विशेष सराहा है—

चमकहिं चौक विहँसि जो नारी। बीजु चमकि जस निसि अँधियारी ॥
सेत साम अस चमकत दीठा। नीलम हीरक पाँत बईठी ॥ (२१३)

श्रवणों के वर्णन में कवि ने उनके कुण्डलों की चमक और चपलता की ओर ही विशेष ध्यान दिया है—

चांद सुरुज दुहु दिसि चमकाहीं। नखतन्ह भरे निरखि नहि जाहीं ॥
कांपत रहहिं बोल जो बैना। × × ॥ (२१३)

ज्ञात नहीं कपोलों की कोमलता के लिये 'कइ रह सुरंग खरौरा बाँधे' (४४) कवि को क्यों उचित जान पड़ा है। हाँ, बाँए कपोल पर तिल की स्थिति कवि को विशेष आकर्षक प्रतीत हुई है और उसकी चर्चा दोनों स्थलों पर लगभग एक से शब्दों में है—

तेहि कपोल बाँए तिल परा। जेइ तिल देख सो तिल-तिल जरा ॥
(४४)

तथा,

पुनि कपोल बाएँ तिल परा। सो तिल विरह चिनग कै करा।
जो तिल देखि जाहि जरि सोई। बाँए दिस्टि काहु जिनि होई ॥
(२१४)

अन्तिम पंक्ति के उत्तरार्द्ध में 'बाम-मार्ग' से बचे रहने का आदेश भी बड़ा मार्मिक है।

ग्रीवा-वर्णन में भी परम्परागत उपमानों का ही कवि ने उल्लेख किया है, किन्तु उसके अन्दर की नसों का प्रत्यक्ष वर्णन कर नायिका की त्वचा की पारदर्शक (transparent) कल्पना कर लेने से वस्तुतः सौन्दर्य की थोड़ी सी क्षति ही पहुँची है—

पुनि तेहि ठांव परोति न वेखा। घूंट जो पीक लीक सब देखा ॥ (४५)

"कनक दण्ड भुज बनी कलाई" (२१४)—कलाइयों की सुकुमारता, सौन्दर्य आदि में व्यंजित करने में कनक-दण्ड कहाँ तक समर्थ है, इसका निर्णय हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं, किन्तु—
हिया काढ़ि जनु लीन्हेसि हाथा। रुहिर भरी अँगुरी तेइ साथा ॥ (४६)
को लाल लाल हथेलियों के लिये कल्पना करना हम एक दम असुन्दर अरुचिकर एवम् हेय समझते हैं, चाहे उसके मूल में कोई भी प्रभाव क्यों न हो। कुचों के लिये भी काव्य परम्परा से उपमान जुटाये गए हैं। किसी सुकुमारी सुन्दरी के पेट पर प्रत्यक्ष रोमावली उसके सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक हो सकती है इसमें हमको तो संदेह ही नहीं वरन् आपत्ति है, किन्तु जायसी उसे निश्चय ही सौन्दर्य का विशेष आकर्षण मानते थे। तभी तो उसका वर्णन दोनों स्थलों पर प्रस्तुत है—

साम भुअंगिनि रोमावली। नाभी निकस कँवल कहँ चली ॥
आइ दुवौ नारंग बिच भई। देखि मयूर ठमकि रह गई ॥ (४६)

तथा,

रोमावलि ऊपर लट्टु घूमा। (२१५)

कटि की क्षीणता प्रकट करने के लिये केहरि और बसा का आश्रय रूढ़ सा हो गया है, यद्यपि न तो इससे सौन्दर्याभिव्यक्ति होती है और न रसोत्कर्ष। जायसी ने इन उपमानों का आश्रय तो लिया ही है, फारसी-साहित्य के कटि बहिष्कार की ओर भी कल्पना को दौड़ाया है—

मानहु नाल खंड दुइ भए। दुहु बिच लंक तार रहि गए ॥ (४७)

तथा,

भृंग लंक जनु माँझ न लागा। दुइ खंड नलिन माँझ जनु तागा ॥
(२१५)

कवि द्वारा वर्णित नाभि के पाठ से पाठक का ध्यान उस परम सत्ता की ओर अवश्य चला जाता है—

नाभि कुंड सो मलय समीरू। समुद्र भँवर जस भवैं गम्भीरू ॥
बहुतै भँवर बवंडर भए। पहुँचि न सके, सरग कँह गए ॥ (४७)

जंघाओं के लिए प्रयुक्त उपमान कदली भी परम्परागत ही है। चरणों की सुकुमारता का वर्णन कवि ने बड़ी मार्मिकता से किया है—

कँवल चरन-अति रात बिसेखी। रहै पाट पर पुहुमि न देखी ॥[1]
(४८)

संक्षेप में जायसी ने सौन्दर्य-वर्णन में प्रायः परम्परागत उपमानों का ही आश्रय लिया है, चाहे उनसे सौन्दर्याभिव्यक्ति में सहायता मिलती हो अथवा उसके प्रतिकूल पड़ते हों। मौलिक उपमानों में फारसी प्रभाव परिलक्षित होता है, जिसके कारण कहीं-कहीं सौंदर्य के स्थान पर वीभत्स दृश्य उपस्थित हो जाता है। हाँ, केश-वर्णन में तथा नेत्रों की चपलता, दीर्घता और बंकिमता अंकित करने में वह विशेष सफल हुआ है तथा कुछ मनोरम कल्पनाएं भी कर सका है। वस्तुतः जायसी का यह वर्णन परम्परागत होने पर भी सुन्दर है, किन्तु दोनों स्थलों पर एक बात को दुहराना मात्र अवश्य खटकता है।

प्रेम-वर्णन

जायसी का काव्य प्रेमाख्यान है जिसका मूल प्रणय-भावना है। इसके दोनों पक्षों लौकिक तथा आध्यात्मिक—का कवि ने बड़ा सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। इसके उभय पक्षों पर विचार करने से पूर्व हम अन्य प्रेम-सम्बन्धों पर विचार करेंगे, जिनका इस काव्य में नितान्त अभाव नहीं है। वात्सल्य के दो उदाहरण कवि ने दिए हैं। राजा रत्नसेन राजपाट छोड़ कर जोगी बन कर चल पड़ता है। वृद्धा माता अपने सुकुमार बालक के जोगी-वृत्त की कल्पना से व्यथित हो जाती है—

कैसे धूप सहब बिनु छाँहा। कैसे नींद परिहि भुइ माँहा ॥
कैसे ओढ़ब काथरि कंथा। कैसे पाँव चलब तुम पंथा ॥ (५४)

तथा जिसको ममता से और जिसके लिये द्रव्य, वैभव, आदि का आयोजन किया था उसको उस त्याग से रोकती है—

राजपाट दर परिगह, तुम ही सौं उजियार।
बैठि भोग रस मानहु, कै न चलहु अँधियार ॥ (५४)

१—तुलना कीजिए:—

पलिंग पीठि तजि गोद हिंडोरा। सीय न दीन्ह पगु अवनि कठोरा ॥

—रामचरित मानस।

द्वितीय उदाहरण बादल की माता का है। किशोर बादल युद्ध के लिये तैयार हो रहा है। उसकी माता युद्ध की विकरालता को प्रकट कर तथा उसकी नवागता वधू के आकर्षण की ओर इंगित करके अपने इकलौते पुत्र को युद्ध जाने से रोकती है। उसकी माता की यह चेष्टा वीर-माता के उपयुक्त तो कदापि नहीं कही जा सकती, परन्तु उसके शब्दों में वात्सल्य का स्फुरण अवश्य है—

बादल राय मोर तुइ बारा। का जानसि कस होइ जुझारा॥
बादशाह पुहुमी पति राजा। सनमुख होइ न हमीरहि छाजा॥

तथा,

जहाँ दलपती दलिमरहि, तहाँ तोर का काज।
आजु गवन तोर आवे, बैठि मानु सुख राज॥१॥ (२८७)

सख्य-प्रेम की जो व्यंजना पद्मावती के मुख से अपनी सखियों से विदा होते समय हुई है वह नितान्त सरल, निष्कपट और बड़ी ही स्वाभाविक है—

हम तुम मिलि एकै संग खेला। अन्त बिछोह आनि गिउ मेला॥
तुम अस हित संघती पियारी। जियत जोउ नहि करौं निनारी॥
(१६७)

किन्तु इस सम्पूर्ण कथा का प्राण दाम्पत्य-प्रेम है। इसके आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन अगले पृष्ठों में मिलेगा। इस समय इसके लौकिक पक्ष पर ही विचार कीजिए। इसे हम आदर्श रूप में तो ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि इसका प्रारम्भ ही सती-साध्वी नागमती के प्रेम की अवहेलना से होता है। फिर भी इसे हेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हिन्दुओं में बहु-विवाह प्रथा प्रचलित थी ही और मुसलमानों में तो चार पत्नियाँ तक रख लेना शास्त्रानुमोदित (शरअ के अनुकूल) है। अतएव सूए के मुख से पद्मावती का सौन्दर्य श्रवण कर रत्नसेन का उसके प्रेम में उलझ जाना, मूर्छित हो जाना, पूर्वानुराग की अतिशयता-मात्र है। रही उसके औचित्य की बात सो प्रायः ऐसी बातें बहुत-कुछ पूर्व संस्कारों के फल स्वरूप होती हैं। दूसरी बात यह कि यदि पूर्वानुराग आगे चल कर विवाह में परिणत हो जावे तो उचित, अन्यथा उसको लम्पटता, कामुकता आदि संज्ञाएँ दी जाती हैं। तीसरे, पद्मावती के प्रति रत्नसेन के प्रेम को हम रूप-लोभ भी नहीं कह सकते। उसका प्रेम

सच्चा था और वह दो विभिन्न परीक्षाओं में पूर्णतया सफल सिद्ध हुआ। पार्वती के सुन्दर अप्सरा बनकर राजा को लुभाने के लिये प्रयत्नशील होने पर, रत्नसेन की उक्ति—

भलेहि रंग अछरी तोर राता। मोहि दुसरे सों भाव न बाता॥ (६१)

निर्विवाद शब्दों में उसे रूप-लोभी के आरोप से मुक्त करती है। तथा लक्ष्मी के पद्मावती का रूप धारण करने पर भी वह उसके जाल में नहीं फँसता। अस्तु उसके प्रेम के सच्चे होने में कोई संदेह नहीं है।

पूर्वानुराग में भी वियोग-दशा वर्णन की रीति है और जायसी ने इसको निबाहा भी है—

विरह भौंर होइ भाँवरि देई। खिन खिन जीउ हिलोरा लेई॥ (४९)

किन्तु उसकी उत्कृष्टता का अनुमान पाठक को उस समय होता है, जब वह राज पाट, माता, पत्नी, सुख आदि को छोड़कर जोगी बनकर पद्मावती को प्राप्त करने के हेतु चल देता है। वास्तव में प्रेमी की दशा बड़ी विचित्र होती है—

डर लज्जा तहँ दुवौ गवाँनी। देखे किछु न आगि नहिं पानी॥ (६०)

तथा,

राजै कहा कीन्ह मैं पेमा। जहाँ पेम कह कूसल खेमा॥ (६३)

पद्मावती-पक्ष में पूर्वराग का उदय अधिक से अधिक पद्मावती-सुआ-भेंट-खण्ड से मान सकते हैं, जिसकी ओर कवि ने भी एक सूक्ष्म संकेत किया है—

सुनि कै धनि जारी अस काया। मन भा मयन हिये भै मया॥ (७८)

तथा,

उसकी प्रतिष्ठा बसंत-खण्ड में जोगी-दर्शन के पश्चात्—

पद्मावति जस सुना बखानू। सहस करा देखेसि तस भानू॥ (८४)

से मानी जावेगी। इस प्रकार पद्मावती-वियोग-खण्ड का सारा विवरण कामोन्मत्त नव यौवना नारी की काम-दशा-मात्र ही माना जावेगा, जिसकी ओर कवि बहुत पहिले स्पष्ट इंगित कर चुका है—

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥ (२१)

हमारा विचार है कि इस खण्ड के अनौचित्य की ओर कदाचित कवि का भी ध्यान था और इसके परिहार के हेतु ही योग का आश्रय लिया है—

पदुमावति जेहि जोग संजोगा। परी प्रेम बस गहे वियोगा ॥ (७३)

अस्तु पदुमावती के प्रेम का स्फुरण जोगी-दर्शन से होता है और उसका विकास गंधर्वसेन-मंत्री-खण्ड में। यहाँ पर प्रेम दोनों ओर सम है—राजा पदुमावती के लिये सूली को फूल से भी अधिक कोमल समझ रहा है, तथा पदुमावती—

तुम्ह वहँ पाट हिये महँ साजा। अब तुम मोर दहू जग राजा ॥
जोरे जियहिं मिलि गर रहहिं, मरहिं तौ एकै दोउ।
तुम्ह जिउ कहँ जिनि होइ किछु, मोहि जिउ होइ सो होइ ॥ (११०)

इस दाम्पत्य प्रेम का चरम विकास रत्नसेन पक्ष में उस समय होता है, जब अपनी प्रियतमा की ओर कुदृष्टि करने वाले अनाचारी अलाउद्दीन के अपरमित जन-धन-बल की किंचित भी परवाह न करके राजा उससे युद्ध ठानता है तथा उसी प्रियतमा को कुचक्र में फँसाने का प्रयत्न करने वाले देवपाल को बाँध लाने की प्रतिज्ञा पूर्ण कर लौटता है और पदुमावती पक्ष में उसके दिव्य-दर्शन उस समय होते हैं, जब रानी अपने पति को बन्धन-मुक्त कराने के लिये प्रयत्नशील होती है तथा रत्नसेन के स्वर्गवास पर अन्य कोई चारा न रह जाने पर, परलोक में उसी पति के सानिध्य की आशा म स्थिर, शान्त और प्रसन्नचित्त से उसके साथ सहगमन कर जाती है।

नागमती के प्रथम दर्शन रूप और प्रेम गर्विता पत्नी के रूप में होते हैं। उसके प्रेम की आभा वियोगावस्था में फूट निकलती है—

मोहि भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि के चाहन हारी ॥ (२६०)

और उसका चरम विकास राजा के स्वर्गवास पर होता है। अब वह ईर्ष्या, उद्विग्नता, आदि को छोड़कर प्रसन्नता पूर्वक पति के साथ सती होकर चरमादर्श उपस्थित करती है।

षट् ऋतु तथा बारहमासा वर्णन

संयोग तथा वियोग का विवेचन तो रस प्रकरण के अधिक अनुकूल होने के कारण उसी स्थान पर करेंगे। यहाँ पर हम केवल जायसी के षट्-ऋतु वर्णन तथा बारहमासा वर्णन की विशेषताओं

की ओर ही ध्यान दिलाना चाहते हैं। सबसे पहिली ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि ने षट् ऋतु का प्रारम्भ बसंत (चैत्र) से ही दिया है, परन्तु बारहमासे का आसाढ़ से। ऐसा करना बड़ा ही समीचीन है और कवि की बुद्धिमत्ता का द्योतक है। पदमावती की रत्नसेन से प्रथम भेंट श्री पंचमी (माघ शुक्ला ५) को हुई थी। तदुपरांत कुछ समय विवाह और युद्ध में बीता। अस्तु उनका विवाह फाल्गुन मास में ही सम्पन्न हुआ होगा। अतएव पदमावती का षट्-ऋतु वर्णन (संयोग-चर्चा का वर्णन) चैत्र (बसंत) से हो प्रारम्भ होना चाहिए था। बारहमासे में नागमती के विरह का वर्णन है। रत्नसेन ने चित्तौड़ को गंगा दशहरा (ज्येष्ठ शुक्ला १०) को छोड़ा था—

दसवँ दाव के गा जो दसहरा। पलटा सोइ नाव लेइ महरा ॥ (१८८)

अतएव नागमती की वियोगावस्था का वर्णन (बारहमासा) आसाढ़ से ही प्रारम्भ होना उपयुक्त है।

दूसरी विशेषता यह है कि कवि ने प्रकृति के जिन पदार्थों को पति-संयोग में आह्लाद कारक बतलाया है, उन्हीं को वियोग में दाहक। सत्य तो यह है कि प्रकृति-व्यापार स्वतः निर्विकार हैं, उनमें सुख-दुख का भावाभाव कुछ भी नहीं है। मनुष्य की मानसिक परिस्थिति उनको तदाकार रूप प्रदान कर देती है। कवि ने इस ओर बड़ा सरस एवम् सुस्पष्ट संकेत किया है—

पवन झकोरे होइ हरष, लागे सीतल बास।
धनि जानै यह पवन है, पवन सो अपने पास ॥८॥ (१४६)

तीसरी विशेषता कवि की यह है कि उसने षट्-ऋतु में पदमावती के हृदयोल्लास का तथा बारह मासे में नागमती की खिन्नावस्था का मनोरम चित्रण किया है। अन्य शृंगारी कवियों की भांति न तो संयोग में विलासोपयोगी उपकरणों की सूचियाँ प्रस्तुत की हैं और न पति-वियुक्ता नारी के विरहाताप के नापजोख का प्रयास किया है। वस्तुतः जायसी के दोनों वर्णन बड़े सरस, मनोरम, और संयत हैं।

अन्तिम विशेषता कवि की निरीक्षण निपुणता है। कभी-कभी बिजली की चमक में वर्षा की बूँदें स्वर्णमयी प्रतीत होती हैं, जिसका कारण प्रकाश का पूर्ण प्रत्यावर्त्तन (Total Reflection) होता है। कवि ने इस दृश्य को कितनी मनोरमता प्रदान की है—

चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना ॥
(१४६)

शरद्-ऋतु में (क्वार में) जल घट जाता है, अगस्त नक्षत्र उदय हो जाता है और काँस फूलने लगता है[1]—

लाग कुवार, नीर जग घटा। × × ॥
उगा अगस्त, हस्ति घन गाजा। तुरग पलानि चढ़े रन राजा ॥
भा परगास, काँस बन फूले। × × ॥ (१५३)

अगहन में दिन घट जाता है और रात्रि बढ़ जाती है—

अगहन दिवस घटा निसि बाढ़ी। (१५४)

माहोट (माघ मास की वर्षा) की चर्चा भी है—

नैन चुवइ जस महवट नीरू। (१५५)

तथा,

बसन्तागमन पर बनस्पति जगत की रमणीयता की ओर भी कैसा मनोरम संकेत है—

करहि बनसपति हिये हुलासू।

तथा,

सहस भाव फूली बनसपती। मधुकर घूमहिं सँवरि मालती ॥ (१५५)

अस्तु, संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि जायसी के वर्णन बड़े पूर्ण हैं, कोई भी दृश्य उनकी पैनी दृष्टि में बचा नहीं है। कवि ने अपने सतर्क निरीक्षण तथा सहृदयता के संयोग से इन वर्णनों को बड़ा सजीव और मनोरम बना दिया है। तथा उनके समस्त विवरण पूर्णतः हिन्दू हैं—उनमें अहिन्दू, आचार, रीति, आदि की तनिक भी गन्ध नहीं है।

———

१—तुलना कीजिए—

उदित अगस्त पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखे संतोखा ॥
फूले काँस सकल महि छाई। जनु वर्षा कर प्रकट बुढ़ाई ॥
—तुलसी : रामचरित मानस।

चरित्र-चित्रण

प्रबन्ध काव्यों की एक बड़ी विशेषता उनमें आए हुए पात्रों का चरित्र-चित्रण है। जिस काव्य में चरित्र-चित्रण का जितना ही सुन्दर आयोजन होगा, वह उतना ही सफल काव्य माना जावेगा। रचयिता अपने पात्रों का चरित्रांकन दो रूपों में करता है—वर्गगत (Class type) और व्यक्तिगत। वर्गगत चरित्र-चित्रण में किसी व्यक्ति विशेष का चरित्र नहीं होता, वरन् कवि उस पात्र को ऐसा चित्रित करता है कि उन परिस्थितियों में उस प्रकार के सभी व्यक्ति लगभग वैसा ही व्यवहार करते। परन्तु व्यक्तिगत चरित्र में कवि को पूर्ण स्वच्छन्दता रहती है वह अपने पात्र को किसी भी रूप में अंकित कर सकता है। किन्तु किसी भी प्रकार के चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता का लोप नहीं होना चाहिये। प्रत्येक उतार-चढ़ाव की मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि होनी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि काव्य का लक्ष्य उच्च होता है। अतः उसके पात्र आदर्शोन्मुख होते हैं। सम्प्रति प्रगति के नाम पर समाज के जो कुत्सित और हेय चित्र खींचे जा रहे हैं, उनमें क्षणिक-आवेश भले ही हो, सामयिक लगाव भले ही हो सके, वे किसी भी साहित्य की स्थायी निधि नहीं हो सकते।

अस्तु जायसी के पात्रों में वर्गगत विशेषताएँ हैं, उनमें समय-समय पर आदर्शोन्मुख विशेषतायें भी झलक उठती है। एक बात और हम स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं। जायसी में प्रबन्ध-काव्य का अक्षुण्ण निबाह लेने की क्षमता विशेष न थी। दूसरे, परिस्थिति विशेष के उपस्थित होने पर वह अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा के प्रवाह का लोभ संवरण न कर पाते थे। अब हम जायसी के प्रमुख पात्रों को लेकर उनके चरित्र-चित्रण के कौशल का अध्ययन करेंगे।

रसूल

जायसी के प्रथम काव्य 'आखिरी-कलाम' में दो पात्र रसूल और खुदा विशेष ध्यान देने योग्य है। रसूल साहब समस्त इस्लामी

जगत के त्राता समझे जाते हैं। उनसे उनके अनुयायियों को बड़ी आशायें हैं। कवि द्वारा मुहम्मद साहब का प्रथम निर्देश ही इस भावना को गहरी ठेस पहुँचाता है—

एक दिसि बैठि मुहम्मद रोइहैं। जिब्रईल दूसर दिसि होइ हैं॥(३४८)

परन्तु रसूल साहब का अपनी उम्मत के दुःख से दुखी होना, छाँह में न बैठना, आदि एक सच्चे नेता का आदर्श प्रस्तुत करते है, जिस आचरण के प्रति अनुयायियों की श्रद्धा बढ़ती है—

एक रसूल न बैठहिं छाँहा। सब की धूप लेइ सिर माँहा॥
घामे दुखी उमति जेहि केरी। सो का मानै सुख अवसेरी॥
दुखी उमत तो पुनि मैं दुखी। तेहि सुख होइ तौ पुनि मैं सुखी॥
(३५०)

अन्तिम न्याय से कुछ पूर्व अपने पूर्ववर्ती पैगम्बरों के पास जाकर सहायता के लिये याचना करना, मुहम्मद साहब के दैन्य तथा शील का द्योतक अवश्य है, किन्तु इस आचरण से पाठक का उस न्याय से विश्वास अवश्य उठ जाता है।

खुदा

खुदा के न्यायाचरण पर विश्वास तो पहले ही उठ सा जाता है, किन्तु बीबी फातिमा के क्रोध पर खुदा का रसूल को धौंसाना—

जौ बीबी छाँड़हि यह दाखू। तौ मैं करौं उमत के माखू॥
नाहित घालि नरक महँ जारौं। लौटि जियाइ मुए पर मारौं॥(३५३)

उस न्याय की पोल खोल देता है। यह सच है कि इस्लाम में ईश्वर एक कठोर शासक के रूप में प्रतिष्ठित है, किन्तु उसके आचरण को इतना गिरा कर जायसी अ-इस्लामी व्यक्तियों पर कुछ अच्छा प्रभाव न डाल सके।

रत्नसेन

चरित्र-चित्रण के दृष्टिकोण से भी 'पद्मावत' जायसी का महत्वपूर्ण काव्य है। इस काव्य के नायक-नायिका रत्नसेन और पद्मावती है। अन्य प्रमुख पात्रों में नागमती गोरा-बादल, बादल की माँ और स्त्री, अलाउद्दीन, दूतियाँ और राघव चेतन हैं। कथा का पूर्वार्द्ध प्रेमाख्यान होने के कारण इस भाग में रत्नसेन, पद्मावती

और नागमती आदर्श प्रेमी हैं तथा उत्तरार्द्ध में वर्गगत विशेषताओं से पूर्ण। शेष पात्र उत्तरार्द्ध के ही हैं। वस्तुतः चरित्र-विकास के उपयुक्त घटनाओं का संघटन उत्तरार्द्ध में ही हुआ है। कवि ने नायक के बाल्य जीवन का कोई चित्र नहीं दिया है। परन्तु हीरामन को इतने मूल्य पर ले लेना इस बात का द्योतक है कि वह कला प्रेमी था और गुण-ग्राहक। सूए से पद्मावती का वर्णन सुनकर राजा रत्नसेन के हृदय में प्रेमांकुर जम जाता है—

तैं सुरंग मूरति वह कही। हिय महँ लागि चित्र होइ रही॥

तथा,

तीन लोक चौदह खंड, सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छाँड़ि नहिं लोन किछु, जो देखा मन बूझि॥५॥ (३६)

उसका विकास राजपाट त्यागकर जोगी बनकर निकलने पर होता है। अब उसकी दशा आदर्श प्रेमी की है। उसे अपने जीवन की किंचित् परवाह नहीं है—

अब एह समुद परेउँ होइ मरा। मुए केर पानी का करा॥ (६०)

तथा,

दीठि समाधि ओही सौं लागी। जेहि दरसन कारन बैरागी॥ (७२)

गौरी जी की परीक्षा में भी वह सफल हुआ और उनका निर्णय—

निहचै यह ओहि कारन तपा। परिमल प्रेम न आछै छपा॥ (६१)

हमको भी सर्वथा मान्य है। प्रेम-पंथ निराला है, उसके करणीय तथा अकरणीय साधारण कर्त्तव्याकर्त्तव्य से विलक्षण होते हैं। अस्तु सेंध लगाकर चोरी से गढ़ पर चढ़ना महादेव जी ने उचित बतलाया और रत्नसेन ने वैसा ही आचरण किया। रत्नसेन घिर जाने पर विचलित नहीं होता, न बचाव का प्रयत्न करता है, बरन् मृत्यु का आयोजन देख—

जस मारै कहँ बाजा तूरू। सूरी देखि हँसा मंसूरू॥ (१११)

और,

आसन लेइ रहा होइ तपा। पदुमावति, पद्मावति जपा॥(११२)

उसे वही धुनि है। उसका प्रेम सच्चा है और अन्त में महादेव की कृपा से सफल हो जाता है। यहाँ तक वह केवल प्रेमी है।

इसके पश्चात् हम रत्नसेन के चरित्र में दो विरोधी तत्त्व का संघठन पाते हैं—वह साधारण व्यक्ति की भाँति समस्यानुकूल आचरण भी करता है और वह हमारे समक्ष आदर्श राजपूत के रूप में भी आता है। एक ओर तो वह नागमती का संदेश पाकर गन्धर्वसेन से बहाना बना देना भी बुरा नहीं समझता—

राज हमार जहाँ चलि आवा। लिखि पठइन अब होइ परावा ॥
(१६५)

साधारण व्यक्ति की भांति वह द्रव्य को ही सब कुछ समझता है।[1] और नागमती को—

नागमती तू पहिलि बियाही। कठिन प्रीति दाहै जस दाही ॥
(१८६)

कहकर अपने प्रेम की दुहाई देता है, तथा पद्मावती से—

तुइ जिमि कँवल बसी हिय माँहा। हौं होइ अलि बेधा तोहि पाँहा ॥
(१६०)

कह कर उसका भी जी भर देता है। तथा सपत्नियों के विवाद में भी आनन्द लेता है।

दूसरी ओर बादशाह का संदेश पाकर—

सुनि-अस लिखा उठा जरि राजा। जानौ देउ तड़पि घन गाजा ॥
(२१८)

उसकी उत्तेजना क्षत्रियोचित है तथा उसका आत्म-विश्वास भी प्रसंशनीय है—

हौं सक बन्धी ओहि अस नाही। हौं सो भोज विक्रम उपराही ॥(२३६)

सांग लग जाने पर भी—

आइ नाभि पर सांग बईठी। नाभि बेधि निकसी सो पीठी ॥
चला मारि तब राजै मारा। टूट कंध धड़ भएउ निनारा ॥
सीस काटि कै बैरी बाँधा। पावा दाँव बैर जस साधा ॥
(२६७)

अपने बैरी देवपाल से प्रतिशोध लेना राजपूतोचित कर्त्तव्य-पालन की पराकाष्ठा है। फिर भी—

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १७२।

जौ पै घरनि जाइ घर केरी। का चितउर का राज चंदेरी ॥ (२१८)

दरब लेइ तो मानौं, सेव करौं गहि पाँउ।
चाहै जौ सो पदुमनी, सिंघल दीपहि जाउ ॥३॥ (२१६)

और,

जौ यह बचन त माथे मोरे। सेवा करौं ठाढ़ कर जोरे ॥ (२४०)

आदि कुछ ऐसे वाक्य हैं, जो मध्य युगीन राजपूत-प्रकृति के अनुकूल नहीं जान पड़ते। वस्तुतः जायसी आदर्श की ओर न जाकर अथवा पात्र की विशिष्टता का ध्यान न रख कर प्रसंगानुकूल विदग्धता की ओर लुढ़क पड़ते थे। अस्तु नायक का चरित्र आरम्भ में आदर्श-प्रेमी का चरित्र होते हुए भी तथा उत्तरार्द्ध में उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए भी, अति साधारण हो गया है जिसके कारण उसके व्यक्तित्व किंवा नायकत्व की पूर्ण रक्षा कठिन कार्य हो गया है।

पद्मावती

पदुमावती का चित्रण कवि ने एक प्रेमिका के रूप में किया है। वियोग-खण्ड में उसकी काम-पीड़ितावस्था की अतिशयता का वर्णन कर तत्कालीन प्रचलित कहानियों की परिपाटी को कवि ने निवाहा है, कुछ पदुमावती के सहज चरित्र-विकास की ओर ध्यान नहीं दिया। तोते के मुख से रत्नसेन की प्रशंसा, उसका त्याग और प्रेम को सुनकर ही उसमें वस्तुतः पूर्व-राग का प्रादुर्भाव होता है। जोगी के दर्शन से उसकी परिपुष्टि और रत्नसेन को शूली दी जाने के अवसर पर उसका प्रेम पूर्ण विकास को प्राप्त हो जाता है। परन्तु वह सहज लज्जा और सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करती।

विवाह-काल में एवम् उसके उपरान्त उसका व्यवहार व्यक्तिगत न होकर नारी जाति के सहज स्वभावानुकूल हुआ है। प्रथम सहवास से पूर्व उसका संकोच बड़ा स्वाभाविक है—

अनचिन्ह पिउ कापौं मन माँहा। का मैं कहब गहब जो बाँहा ॥

हौं बारी औ दुलहिन, पीउ तरुन सह तेज।
ना जानौं कस होइहि, चढ़त कंत कै सेज ॥११॥ (१२३)

और पति-प्रेम को पाकर "कर सिंगार तापँह का जाऊँ" (१४३)

उक्ति भी बड़ी अनूठी है। विदा के अवसर पर भी उसका व्यवहार नारी-प्रकृति के अनुकूल हुआ है। यहाँ तक हो उसका चरित्र एक प्रेमिका का है, जो स्वाभाविक लज्जा, सामाजिक आदर्श और लोक-व्यवहार की अवहेलना नहीं करता।

परन्तु इसके उपरान्त हम उसमें अन्य गुणों का विकास पाते हैं। रत्नसेन के पुनर्मिलन के पश्चात् लक्ष्मी से उसकी उक्त पद्मावती की प्रत्युत्पन्न मति का प्रमाण है—

जौ सब खोइ जाहि हम दोऊ जो देखे भल कहै न कोऊ ॥
जे सब कुँवर आए हम साथी। औ जत हस्ति घोड़ औ आथी ॥
जौ पावैं सुख जीवन भोगू। नाइ त भरन मरन दुख रोगू ॥
(१६५)

तथा जगन्नाथ पहुँचने पर, समस्त द्रव्य की समाप्ति पर, लक्ष्मी द्वारा दिए हुए बीरा के नग को भुनवाना, स्त्री-सुलभ संचय-वृत्ति का उदाहरण है। चित्तौड़ पहुँच कर सपत्नी में स्वाभाविक ईर्ष्या होती है, वाद-विवाद में पूर्ण सन्तोष न होने पर "नागमती नागिनि जिमि गही" (१६६) सपत्नी से भिड़ जाती है।

दो स्थलों पर पद्मावती ने दूरदर्शिता और बुद्धिमत्ता का विशेष परिचय दिया है। राघव चेतन का देश निकाला उसे शुभ न जान पड़ा—

भल न कीन्ह अस गुनी निसारा। (२००)

और उसे प्रचुर द्रव्य देकर सन्तुष्ट भी करना चाहा, परन्तु वह था पल्ले सिरे का कृतघ्न। दूसरा स्थल रत्नसेन के बँध जाने पर गोरा बादल के सहज गुणों को पहचानने में है।

परन्तु ऐसी सच्ची प्रेमिका और बुद्धिमती पतिवियुक्ता रानी का कुमोदिनी दूती से विदग्धता पूर्ण विवाद नितान्त समयोचित नहीं कहा जा सकता। सती होने का दृश्य तो वह पुनीत दृश्य है जिसमें पद्मावती के प्रेम, विवेक, शुद्धाचरण एवम् धर्म-परायणता का पूर्ण एवम् अक्षय प्रमाण है।

संक्षेप में पद्मावती का चरित्र आदर्शोन्मुख है, जिसमें प्रचलित साधारण कहानियों की परिपाटी के ढंग के प्रसंगों का आयोजन

संघटित कर कवि ने उसको विशेष लोक-प्रिय बनाने का प्रयत्न किया है।

नागमती

नागमती प्रारम्भ में रूप गर्विता नारी है—

बोलहु सुआ पियारे नाहा मोरे रूप कोइ जग माहा ॥ (३४)

सूए को हटवा कर चतुराई भी प्रकट करती है। परन्तु—

मेटि न जाइ लिखी जस होनी।

जब राजा जोगी बन कर जाने लगता है तब उसके साथ चलने का आग्रह करती है, अपनी सेवा और सौन्दर्य की दुहाई देती है तथा पुरुषों पर एक तीखा कटाक्ष भी करती है—

की हम्ह लावहु अपने साथा। की अब मारि चलहु एहि हाथा ॥

× × × × ×

जौ लहि जीउ संग छाँड़ न काया। करिहौं सेव पखारिहौं पाया ॥
भलेहि पदुमिनी रूप अनूठा। हमते कोइ न आगरि रूपा ॥
भवैं भलेहि पुरुखन कै दीठी। जिनहिं जान तिन्ह दीन्हीं पीठी ॥
(५५)

किन्तु सब व्यर्थ। नागमती पति-वियुक्ता हो गई। उसके करुण-क्रन्दन से मनुष्य ही नहीं, वन के पक्षी भी द्रवित हो उठे। वस्तुतः कवि ने नागमती के विलाप को रक्त की स्याही से अङ्कित किया है, परन्तु इस विलाप में नागमती के व्यक्तित्व का कोई आभास नहीं मिलता। संदेश में नागमती का प्रेम बड़ा भव्यरूप धारण कर लेता है—

पदमावति सौं कहेउ विहंगम। कंत लुभाइ रही करि संगम।
तोहि चैन सुख मिलै सरीरा। मो कहँ हिय दुन्द दुख पूरा ॥
हमहुँ बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर-जीऊ।

× × × ×

मोहिं भोगसौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी ॥ (१६०)

तथा उस संदेश में रत्नसेन की माता का प्रसंग नागमती की चतुराई का प्रमाण है। इसी प्रकार की उक्तियों का आश्रय राम-वियोग

में कौशिल्या जी ने और कृष्ण-संदेश में यशोदा ने लिया था।[1]

परन्तु रत्नसेन के लौटने पर उसके हृदय में सपत्नी के प्रति ईर्ष्या विशेष स्थान पा लेती है—

सही न जाइ सवति के झारा। दुसरे मन्दिर दीन्ह उतारा॥ (१८८)

और रत्नसेन पर बड़ा तीक्ष्ण कटाक्ष करती है—

काह हँसौ तुम मोसौं, किएउ और सौं नेह।
तुम्ह मुख चमके बीजरी, मोहि मुख बरसै मेंह॥७॥ (१८६)

अन्त में राजा उसे मना लेता है। नागमती सपत्नी विषयक नारी सुलभ जिज्ञासा को भी न छिपा सकी—

कस धनि मिली, भोग कस माने। (१६०)

एक बात और ध्यान देने की है। नागमती के स्वभाव में पद्मावती से कुछ अधिक गम्भीरता है (कदाचित् अवस्था के कारण)—

जो सरवर जल बाढ़ै, रहै सो अपने ठाँव।
तजि कै सर औ कुंडहि, जाइ न पर अवँराव॥३॥

तथा,

रहु आपनि तू बारी, मोसौं जूझ न बाज। (१६३)

राजा रत्नसेन के बँध जाने पर पद्मावती के ऊपर नागमती की खीज तो बड़ी ही स्वाभाविक है—

पद्मिनि ठगिनि भई कित साथा। तेहि तै रतन परा पर हाथा॥
(२६६)

परन्तु रत्नसेन के छुड़ाने में नागमती का प्रयत्नशील न होना दिखलाकर कवि ने उसके चरित्र को अपूर्ण-सा छोड़ दिया है जिसकी अभ्यता की पूर्ण झलक सती-दृश्य में है। अस्तु नागमती का चरित्र

१—राघो ! एक बार फिरि आवौ।
ये बर बाजि बिलोकि आपने बहुरे बनहिं सिधावौ॥—तुलसी।

तथा,

ऊधो, इतनी कहियो जाय।
अति कृस गात भई ए तुम बिनु परम दुखारी गाय॥

—सूरदास।

एक सती-साध्वी हिन्दू नारी का चरित्र है जिसमें प्रेम तथा रूप की चेतना (Consciousness) आवश्यकता से अधिक है।

गोरा-बादल

गोरा वृद्ध और बादल किशोर राजपूत हैं। वे दोनों वीर मध्य युगीन राजपूत चरित्र के प्रतीक हैं। दोनों वीर राजभक्त, आन पर मिटने वाले, मृत्यु के साथ खेलने और हंसने वाले, स्वाभिमानी तथा स्पष्ट वक्ता हैं। एक बात और ध्यान देने की है। कवि ने दोनों वीरों का प्रायः साथ-साथ उल्लेख कर इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि उनके चरित्र वर्गगत हैं।

रत्नसेन-अलाउद्दीन-युद्ध में इनकी चर्चा नहीं है संधि के पश्चात् जब बादशाह चित्तौड़ गढ़ में प्रवेश करता है, तब उसके रंग-ढंग से इन वीरों का माथा ठनका उन्होंने उसकी छल नीति को ताड़ लिया और राजा से अपने विचार निस्संकोच होकर स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिए—

बाचा परखि तुरुक हम बूझा। परगट मेर, गुपुत छल सूझा॥
तुम नहिं करा तुरुक सों मेरू। छल पै करहि अन्त कै फेरू॥
सत्रु कोट जो आइ अगोटी। मीठी खाँड जेवाएहु रोटी॥ (२५१)

भावी-वश राजा को इनकी खरी और सत्य बात पसंद न आई। इस पर स्वाभिमानी वीर रूठ कर अपने घर जा बैठे—

राजै लोन सुनावा, लाग दुहुन जस लोन।
आए कोहाइ मंदिर कहँ सिंध छान अब मौन॥ ८॥ (२५२)

रत्नसेन-बन्धन के पश्चात् जब पद्मावती उनके यहाँ पहुँचती है, तो दोनों वीर दयार्द्र हो जाते हैं—

गोरा बादल दोउ पसीजे। रोवत रुहिर बूँद तन भीजे॥ (२८०)

उन्होंने वर्षा के व्यतीत होने पर तुरुकों पर चढ़ाई कर राजा को छुड़ा लाने की प्रतिज्ञा की—

उए अगस्त हस्ति जब गाजा। नीर घटे घर आइहि राजा॥
बरषा गए अगस्त जौ दीठिहि। परिहि पलानि तुरंगम पीठिहि॥
(२८०)

इन दोनों के चरित्र में एक विशेषता भी अवश्य है। मध्य-कालीन राजपूत की भाँति ये खड्ग पर तो विश्वास रखते ही थे,

किन्तु समयोचित नीति को भी बरतना जानते थे। "शठे शाठ्यम् समाचरेत्" वाली नीति का अनुसरण उनको ठीक लगा, क्योंकि—

पुरुष तहाँ पै करै छर, जहँ बर किए न आँट।
जहाँ फूल तहँ फूल है, जहाँ काँट तहँ काँट ॥ १ ॥ (२८६)

तथा कैदखाने के दारोगा को उत्कोच देने में और अलाउद्दीन के समक्ष विनयशील बनने में भी कोई बुराई न समझी।

माता के युद्ध से रोकने पर बादल की गर्वोक्ति बड़ी स्वाभाविक और पूर्णतः क्षत्रयोचित है—

जुरौं स्वामि-संकरे जस ढारा। पेलौं जस दुरजोधन भारा॥
अंगद कोपि पाँव जस राखा। टेकौं कटक छतीसौ लाखा॥ (२८२)

नवागता वधू के बाधा उपस्थित करने पर भी वीर युवक बादल अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होता, वरन् बड़े स्पष्ट शब्दों में अपनी प्रतिज्ञा-पालन की बात को कह देता है—

पुरुष बोलि कै टरै न पाछू। दसन गयंद गीउ नहिं काछू॥(२८४)

इसी अवसर पर बादल द्वारा कहे गये स्त्री-विषयक विचार तत्कालीन साधारण विचार हैं, बादल किंवा राजपूतों के व्यक्तिगत विचार नहीं—

तिरिया भूमि खड़ग कै चेरी। जीति जो खड़ग होइ तेहि केरी॥

तथा

तुइ अबला धनि कुबुधि बुधि, जाने काह जुझार।
जेहि पुरुषहि हिय बीर रस, भावै तेहि न सिंगार॥६॥ (२८४)

केवल इतना ही बादल का व्यक्तिगत चरित्र कहा जा सकता है। तथा गोरा का व्यक्तित्व रत्नसेन के बन्धन मोक्ष के पश्चात् युद्ध में प्रकट होता है। वह युद्ध की भयंकरता को जानता था। उसने समझा बुझा कर अपने एक मात्र पुत्र बादल को तो राजा के साथ लौटा दिया—

मैं अब आउ भरी औ भूँजी। का पछिताव आउ जौं पूजी॥
बहुतन्ह मारि मरौं जौ जूझी। तुम जिनि रोवहु तौ मन बूझी॥
(२८८)

इस युद्ध में उसका वीरत्व वस्तुतः सराहनीय है—

भाट कहा धनि गोरा तू भा रावन राव।
आँति समेटि बाँधि कै, तुरय देत है पाव॥१५॥ (२६२)

इस प्रकार इन दोनों वीरों के चरित्र में जायसी ने मध्यकालीन राजपूतों की वीरता, युद्ध-प्रियता, स्वामिभक्ति, स्पष्टवादिता, प्रतिज्ञा-पालन, आदि गुणों के साथ गम्भीरता, कूटनीति एवम् बुद्धिमत्ता का संयोग देकर आदर्श राजपूत का प्रशंसनीय चित्रण किया है।

बादल की माता और स्त्री

इन दोनों राजपूत रमणियों के साथ कवि न्याय नहीं कर सका है। इतना तो स्पष्ट है कि इन दोनों का चरित्र भी वर्गगत है। अतएव राजपूत माता का अपने वीर पुत्र को युद्ध से हतोत्साह करना भी उचित नहीं कहा जा सकता। हम बादल की माता से अपने पुत्र को समझाकर युद्ध के लिये उत्साहित करने की आशा रखते थे किन्तु जायसी के हृदय में वात्सल्य की भावना उठी और वे उस ओर ही ढुलक पड़े। राजपूत रमणी का रण-प्रयाण करते हुये पति को रोकना भी उचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु जायसी अपनी सहज प्रकृति को न दबा सके। अस्तु, स्त्री द्वारा बादल को रुकवाने का प्रयत्न ही नहीं किया वरन् प्रसंग के नितान्त प्रतिकूल 'श्रृंगार-जूझ'[1] का खितवाड़ में फँस गये। अन्त में जायसी ने बादल की स्त्री में राजपूत रमणी के चरित्र की सुस्पष्ट रूपरेखा अंकित कर दी है—

जौ तुम कंत जूझ जिउ काँधा। तुम जिय साहस मैं सत बाँधा ॥
रन संग्राम जूझि जिति आवहु। लाज होइ जौ पीठि देखावहु ॥
तुम्ह पिउ साहस बाँधा, मैं दिय माँग सेंदूर।
दोउ संभारे होइ संग, बाजै मादर तूर ॥८॥ (२८५)

अलाउद्दीन

कवि ने अलाउद्दीन को माया के रूप में अंकित किया है:— "माया अलाउद्दीन सुलतानू" (३०१) फिर भी उसके राज्य-प्रबन्धादि की भूरि-भूरि प्रशंसा की है—

राव रंक जावत सब जाती। सब कै चाह लेइ दिन राती ॥ (२०४)

परन्तु उसके विलासमय जीवन की ओर उसी के शब्दों में संकेत मिल जाता है—

1—देखिए जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २८४।

जो पद्मिनि सो मंदिर मोरे। सातौ दीप जहाँ कर जोरे ॥
सात दीप मँह चुनि चुनि आनी। सो मरे सोरह सौ रानी ॥ (२०५)

ऐतिहास साक्ष्य पर उसके चरित्र में छल और विकास की मात्रा पर्याप्त मिलती है— छल से उसने अपने दयालु एवम् अभिभावक चचा को कत्ल कर राज्य पाया था और अनेक युद्ध जीते थे, तथा देवलदेवी और कर्णदेवी के प्रसंग उसकी इन्द्रिय-लोलुपता के सबल प्रमाण हैं। प्रस्तुत कवि ने भी बादशाह की इन विशेषताओं का अंकन किया है। अस्तु उसका पद्मिनी के लिए लालायित होना कोई अचम्भे की बात नहीं है।

जौ राघव धनि बरनि सुनाई। सुना साह गइ मूरछा आई ॥
(२१६)

तथा चित्तौड़ के राजा के पास उसकी रानी की माँग के लिये पत्र भेजना उसकी लम्पटता की पराकाष्ठा है—

राज पत्र बँचावा, लिखा जो करा अनेग।
सिंघल के जो पद्मनी, पठै देहु तेहि बेग ॥२॥ (२१७)

कूटनीतिज्ञ तो वह था ही। उसे राजपूतों की सरलता और सचाई पर पूर्ण विश्वास था और उनके इन्हीं सद्गुणों के आश्रय में उसने छल किया।

हँसि हँसि बोलै टेके काँधा। प्रीति भुलाइ चहै छल बाँधा ॥ (२५५)

जो कार्य युद्ध से, छल से, रत्नसेन को कैद में डालने और उसको दुःख देने से न हो सका, उसको पूरा करने के लिये बादशाह ने अन्य घृणित प्रपंच भी रचे—

पातुरि एक हुति जोगि सवागी। साह अखारे हुत ओहि माँगी ॥
पद्मिनि पह पठई करि जोगिनि। वेगि आनु करि विरह वियोगिन ॥
(२७५)

इस प्रकार कवि ने अलाउद्दीन को विलासी और प्रपंची व्यक्ति के रूप में अंकित किया है। उसमें न क्रम-विकास है और न पूर्णता है, केवल प्रसंगानुकूल उसके चरित्र की झलक है।

दूतियाँ

दूतियाँ उन स्त्रियों की प्रतिनिधि हैं जो सीधी सच्ची स्त्रियों को उनकी भावुकता के सहारे पथ-भ्रष्ट करती हैं। इनका उल्लेख

साधारण जनता में प्रचलित कहानियों में खूब मिलता है। ये प्रेम में वैमनस्य डालती हैं, सती को भ्रष्ट करती हैं, सुख में दुःख के बीज वपन करती हैं। इनके गुण 'बादल फाड़ना' तथा 'बादल फाड़ कर सी देना' होते हैं। ये मनोविज्ञान के नियमों से परिचित होती हैं और वाक्-चातुर्य में दक्ष। निडर और निर्लज्ज होना तो इनके साधारण गुण हैं। जायसी की दूतियों में भी इन्हीं गुणों का आरोप है। देवपाल की दूती आत्म-प्रशंसा में कहती है—

कुमुदिनि कहा देखु हौं सोहौं। मानुष काह, देवता मोहौं ॥
(२६७)

स्त्रियों में नैहर के प्रति विशेष आकर्षण होता है। अतएव कुमुदिनी सिंहल द्वीप की बनी। फिर क्या था, पद्मावती ने अपना सारा दुखड़ा उसके सामने रो दिया। और दूती—

कुमुदिनि कंठ लागि सुठि रोई। पुनि लेइ रूप डार मुख धोई ॥
(२६६)

इस प्रकार पद्मावती के प्रति सहृदयता दिखलाती हुई मिठाई आदि भेंट करती है तथा उसको डिगाने के लिए कभी कभी कुछ विदग्धता पूर्ण वाक्य भी कह देती है—

जिमि तुइ बारि करसि अस जीऊ। जौ लहि जोबन तौ लहि पीऊ ॥
पुरुष संग आपन केहि केरा। एक कोहाइ दूसर सँहु हेरा ॥ (२७०)

तथा,

पद्मावति सो कौन रसोई। जेहि परकार न दूसर होई ॥
रस दूसर जेहि जीभ बईठा। सो जानै रस खाटा मीठा ॥ (२७२)

पद्मावती इस पर खीज उठती है और उसको डाँटती भी है—

कुमुदिनि तुइ बैरिनि, नहि धाई। तुइ मसि बोलि चलावसि आई ॥
(२७३)

परन्तु दूती 'मसि' शब्द पर व्यंग-पूर्ण फबतियाँ कसती है।[1] अन्त में दूती का भेद खुल जाता है और वह अपनी कुचाल का पुरस्कार पाती है—

फेरत नैन चेरि सौ छूटी। भइ कूटन कुटनि तस कूटी ॥
नाक कान काटेन्हि मसि लाई। मूँड़ मूड़ि कै गदह चढ़ाई ॥
(२७४)

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २७१।

बादशाह की दूती को अधिक सफलता प्राप्त हुई। देखा भी जाता है कि हम अपने समान व्यक्तियों से ही विशेष सहानुभूति की आशा करते हैं और करते हैं उन पर विश्वास। अस्तु दूती भी वियोगिनी बनी। पद्मावती उसके रंग ढंग पर मोहित सी होगई—

तरुन बैस तोहि आज न जोगू। केहि कारन अस कीन्ह वियोगू॥

और,

कंत हमार गएउ परदेसा। तेहि कारन हम जोगी भेसा॥ (६७६)

उत्तर पाकर उस पर सहसा विश्वास कर बैठती है अब दूती उसके आवेश को जागृत करती है, अन्य तीर्थों की चर्चा करते हुये कारागार में रत्नसेन के दुःख का वर्णन भी करती है—

रत्नसेन देखिउँ बंदि माँहा। जरै धूप, खन पाव न छाँहा॥
सब राजहि बाँधे औ दागे। × × ॥ (६७७)

इसको सुनकर पद्मावती तिलमिला उठी और अपने पति को देखने के लिए आतुर हो उठती है—

लेइ चलु तहाँ कंत जेहि ठाँई। (६७७)

परन्तु सखियों के इशारे से वह आवेश पर काबू पाकर सम्हल जाती है और दूती का जाल निष्फल हो जाता है।

राघव चेतन

कवि ने इस व्यक्ति को अपनी विद्या और योग्यता का दुरुपयोग करने वाला, हठी, निर्लज्ज और कृतघ्न अंकित किया है। ऊपर से देखने में इसका चरित्र व्यक्तिगत प्रतीत होता है, विशेषतः जब कि यह ऐतिहासिक व्यक्ति जान पड़ता है। यही मलिक नायब काफूर हजार दीनारी तो नहीं है[1] उसी नाम के व्यक्ति की चर्चा छिताई-चरित' तथा "छिताई-वार्ता' में भी है।[2] अलाउद्दीन के समकालीन जिन प्रभु सूरि ने अपने 'तीर्थ-कल्प' में लिखा है कि विक्रम सम्वत १३५६ ईस्वी सन् १२९९ में सुलतान अल्लावदीण (अलाउद्दीन खिलजी) का सबसे छोटा भाई उलूखां (उलुगखाँ) कर्णदेव के प्रधान मंत्री माधव की प्रेरणा से ढिल्ली (दिल्ली) नगर से गुजरात को

१—ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५१ अंक ४ सं० २००३ : छिताई-चरित, पृ० ४६।

२—यह दोनों पुस्तकें कदाचित एक ही हैं।

चला।[1] राघव चेतन नाम के एक और व्यक्ति का वर्णन मिलता है जिसने मुहम्मद तुग़लक को काशी पर आक्रमण करने के लिये प्रेरित किया था।[2] अस्तु राघव-चेतन समाज के देशद्रोही एवम् धर्मद्रोही अंग का प्रतिनिधित्व करता है 'जिस प्रकार शेक्सपियर के 'वेनिस-नगर का व्यापारी' का 'शाइलाक''।[3]

वह वाम-मार्गी है। अतएव विवेक और सत्याचरण से शून्य। जिस रत्नसेन के यहाँ उसने लगभग आयु पर्यन्त सुख भोगा, उसी का सर्वस्व अपहरण कराने के लिये अलाउद्दीन को प्रेरित करता है। उस समय उसकी निर्लज्जता पराकाष्ठा को पहुँच जाती है, जब वह बादशाह के साथ चित्तौड़ में प्रवेश कर अपने पूर्व उपकारियों के समक्ष मुख दिखलाने में तनिक भी संकोच नहीं करता, तथा रत्नसेन को बाँध लेने का इशारा करते समय तो वह साक्षात् कृतघ्नता की प्रतिमूर्ति बन जाता है।

कवि का प्रयोजन पात्रों के शुभाशुभ कर्मों का परिणाम दिखलाना नहीं था अन्यथा राघव-चेतन की विशेष दुर्गति दिखलाई होती। वस्तुतः राघव-चेतन एक नीच और दुष्ट पात्र है जिसको स्वार्थ और अहंकार ने अंधा, बहरा और विवेक शून्य बना दिया था।

अस्तु, जायसी के पात्र अपने अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए भी ऐतिहासिक व्यक्तित्व की रक्षा करते हैं। उनके चरित्र-चित्रण में न तो स्वाभाविक क्रम-विकास है और न मानसिक घात-प्रतिघात, ही दृष्टिगोचर होता है। प्रसंगानुकूल विदग्धता को हाथ से न निकल जाने देने के लोभ को संवरण न कर सकने की अपनी स्वाभाविक दुर्बलता के कारण कवि अपने चरित्रों में स्थायित्व की रक्षा न कर सका। अतएव उसका चरित्र-चित्रण साधारण कोटि ही में गिना जावेगा।

———

१—गौ० ही० ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ० ४७६।

२—जिन प्रभु सूरि का जीवन-चरित्र, प० १२।

३—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० १२२

सूक्तियाँ

प्रकृत काव्य का लक्षण चाहे "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" मानें, अथवा 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' मानें उसमें रस अथवा भाव की रमणीयता होनी चाहिये और यदि उसमें उक्ति चमत्कार भी हो तो अत्युत्तम। किन्तु इस प्रकार के वाक्य जिनमें केवल कहने का ढँग चमत्कारपूर्ण हो, कहने के लिये कोई तथ्य विशेष न हो अथवा उससे मनुष्य की चित्त-वृत्ति पर कोई प्रभाव न पड़ता हो अर्थात् उस उक्ति में केवल बाह्याकर्षण हो, हम उसका नाम सूक्ति देंगे और वह काव्य से निम्नकोटि की मानी जावेगी। प्रकृत कवियों की सूक्तियों में प्रायः उक्ति के चमत्कार के साथ-साथ भाव-व्यंजना भी रहती है। रहीम का एक दोहा देखिए—

कमला थिर न रहीम कहि, जानत यह सब कोइ।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होइ॥

यहाँ पर कवि ने लक्ष्मी के चंचला होने का कारण बड़ी विदग्धता से कल्पित किया है, साथ ही वृद्ध-विवाह पर छींटा कसकर सम्पूर्ण उक्ति को बड़ा सरस बना दिया है। कबीर का एक दोहा है—

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरी खात हैं, तिनको कौन हवाल॥

इसमें कवि ने बकरी की खाल निकाले जाने का कारण उसका अत्याचार—पत्तियाँ खाना—ही कल्पित किया है, परन्तु साथ ही मांस-भक्षण के प्रति अरुचि उत्पन्न करा देने का भी सरस प्रयत्न किया है। अब जायसी का एक दोहा लीजिए—

ठाढ़ होसि जेहि ठाईं, मसि लागै तेहि ठाँव।
तेहि डर राँध न बैठों, मकु साँवरि होइ जाँव॥ (१६४)

इस कथन से न तो नागमती के काले रंग का आधिक्य प्रकट होता है, और न इस कथन में सचाई ही है। यह केवल सपत्नी को चिढ़ाने के लिये पद्मावती की चमत्कारपूर्ण उक्ति है। एक और दोहा देखिए—

पाँय परी धनि पीउ के, नैनन्ह सौं रज मेट।
अचरज भएउ सबन्ह कँह, भइ ससि कँवलहि भेट ॥ (१८४)

नित्य का अनुभव है कि कमल चाँदनी में मुरझा जाता है। परन्तु इस स्थल पर पति के चरण-कमलों पर चन्द्रमुखी का नतमस्तक होने को चमत्कारपूर्ण शब्दों में वर्णन कर एक लोक-सत्य का अपवाद सा प्रस्तुत कर दिया है। अतएव ये केवल सूक्तियाँ हैं। नीतिपरक पद्य प्रायः सूक्तियों के अन्तर्गत आते हैं।

जायसी के वर्णन में सरसता अवश्य है। अतः उनकी सूक्तियाँ भी प्रायः सरस हैं। हम यहाँ पर उनकी कुछ ऐसी सूक्तियों की चर्चा करेंगे जिनमें कथन का ढंग ही विशेष चमत्कारपूर्ण है। उनकी सूक्तियों को हम सहज ही तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं— यथा, प्रेम-विषयक, आचार-विषयक और व्यवहार-विषयक। व्यवहार-विषयक सूक्तियों में कुछ भाग्य-संबंधी हैं, कुछ संसार की अनित्यता की ओर संकेत करती हैं और कुछ स्त्री-विषयक विचार प्रस्तुत करती हैं। अस्तु हम इन सूक्तियों का इसी क्रम से अध्ययन करेंगे।

प्रेम-विषयक सूक्तियाँ

प्रेमी प्रायः बाह्य चेतना शून्य होता है। अतः—

प्रेम पंथ दिन घरी न देखा। तब देखे जब होइ सरेखा ॥ (५३)

प्रेम की पीर को प्रेमी ही जानता है—

प्रेम घाव दुःख जान न कोई। जेहि लागै जानै तै सोई ॥ (५६)

सुगंधि की भाँति प्रेम छिपाए से छिपाया नहीं जा सकता—

परिमल प्रेम न आछै छपा। (१०८)

इससे छुटकारा मरकर भी नहीं हो पाता—

प्रीति बेलि जनि अरुझै कोई। अरुझे मुए न छूटै सोई ॥ (१०८)

जिस व्यक्ति का जिससे सच्चा प्रेम होता है वह उसे अवश्य मिल जाता है—

जाकर जीउ बसै जेहि, तेहि पुनि ताकर टेक (१३७)

तथा,

बसै मीन जल धरती, अँबा बसै अकास।
जौ पिरीत पै दुवौ महँ, अंत होंहि एक पास[1] ॥८॥ (४६)

प्रेमी को अपने प्रियतम के दर्शनों की कितनी तीव्र लालसा होती है! जिस पथ से वह आने को होता है, उसकी ओर एकटक देखते रहना साधारण बात है, उस पथ पर पलक बिछाना अथवा बरौनियों से बुहारना लालसा की तीव्रता का द्योतक है, किन्तु जायसी कुछ और आगे बढ़ जाते हैं—

यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरैं जँह पाव ॥१०॥ (१५५)

इस प्रकार प्रियतम के चरणों के सानिध्य-सुख की संभावना है। प्रियतम से वियुक्त प्रेमी की दशा कितनी दयनीय होती है—

आवा पवन बिछोह कर, पाट परी बेकरार।
तरिवर तजा जो चूरि कै, लागा केहि कै डार ॥ (१७७)

अतएव,

दुःख सौं पीतम भेंटि कै, सुख सौं सोव न कोइ। (१८०)

आचार-विषयक सूक्तियाँ

कुलवन्ती स्त्री धन्य है जो अपने पर पूर्ण अधिकार रखती है; लज्जा और कुलकानि को हाथ से नहीं जाने देती है—

जोवन चंचल ढीठि है, करै निकाजै काज।
धनि कुलवंति जो कुल धरै, कै जोवन मन लाज ॥७॥ (७१)

हृदय का विश्वास मिथ्या है—

जौ भलि होति लच्छमी नारी। तजि महेस कित होत भिखारी ॥
(१८३)

बुरे दिन आने पर बुद्धि भी साथ नहीं देती, वह उल्टा ही सुझाती है—

होइ अचेत घरी जो आई। चेतन कै सब चेत भुलाई ॥ (१६६)

१—तुलना कीजिये—

जाकर जापर सत्य सनेहू।
सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥ —तुलसीदास

स्त्री का भूषण पति की आज्ञा में रहना है—

जो न कंत के आयुस माही। कौन भरोस नारि कै वाही॥ (३५)

भोग करने से संसार नहीं सधता—

भाग किए जौ पावत भोगू। तजि सो भोग कोइ करत न जोगू॥ (५०)

इस संसार में जो दुःख उठाता है, वही स्वर्ग में सुख पाता है—

जो दुख सहै होइ सुख ओका। दुख बिनु सुख न पाइ सिव लोका॥ (६२)

व्यवहार-विषयक सूक्तियाँ

वस्तुतः सूक्तियों का प्रधान क्षेत्र व्यवहार ही है। प्रेमी जिसे चाहे वही सुन्दर है, सुन्दरता कुछ बाह्य रूप पर निर्भर नहीं है—

लोन बिलोन तहाँ को कहै। लोनी सोइ कंत जेहि चहै। (३४)

परन्तु प्रेम में भूल न जाना चाहिये, क्योंकि—

ऐसे गरब न भूलै कोई। जेहि डर बहुत पियारी सोई।[1] (३६)

वियोग में तो रोना होता ही है, किन्तु वियोग के उपरान्त प्रियतम से मिलने पर भी रोना आता है—

कंठ लाइ सूआ सौं रोई अधिक मोह जौ मिलै बिछोई॥ (७६)

किसी को तुच्छ समझकर उसका निरादर नहीं करना चाहिए—

आछु जानि कै काहु हु, जिनि कोइ गरब करेइ।
ओछे पर जो दैउ है, जीति-पत्र तेइ देइ॥१०॥ (११४)

संसार और उसकी प्रत्येक वस्तु अनित्य है—

हँसा समुद होइ उठा अँजोरा। जग बूड़ा सब कहि कहि मोरा॥ (१८१)

तथा,

आवहि रोइ जात पुनि रोना। तबहु न तजहि भोग सुख सोना॥ (२१)

तथा,

जो रे जियत महि रावन, लेत जगत कर भार।
सो मरि हाड़ न लेइगा, अस होइ परा पहार।६॥ (१७५)

१—तुलना कीजिये—

"Where love is great, even littest doubts are great."

—Shakespeare.

बुढ़ापे में कमर झुक जाने तथा शिर हिलने पर तो अत्युत्तम सूक्तियाँ हैं—

मुहम्मद बिरधि जो नइ चलै. काह चलै भुइ टोइ।
जोबन रतन हेरान है, मकु धरती महं होइ॥ (२६८)

तथा,

बिरधि जो सीस डोलावै, सीस धुनै तेहि रीस।
बूढ़ी आऊ होहु तुम्ह, केइ यह दीन्ह असीस॥३॥ (३०२)

स्त्री-विषयक उक्तियाँ तत्कालीन विचारों की द्योतक हैं—

तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी। मूरुख सो जो मतै घर नारी॥ (५५)

तथा,

तिरिया भूमि खड्ग कै चेरी। जीत जो खड्ग होइ तेहि केरी॥ (२८४)

अस्तु हम कह सकते हैं कि जायसी की सूक्तियाँ बड़ी ही उपयोगी एवम् सरस हैं।

सप्तम अध्याय

साहित्यिक-विधान

विधानों का संगठन एवम् महत्व

समस्त लक्षण-ग्रन्थों की भाँति साहित्यिक रीतियों और विधानों का नियमन भी अनेक काव्य ग्रन्थों के प्रणयन के पश्चात् ही हुआ है। प्रचलित काव्य परम्परा में जो जो विधियाँ काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि में सहायक प्रतीत होती हैं, उनका परवर्ती काव्यकार अनुकरण करने लगते हैं और वे ही आगे चलकर विधान-कोटि में आजाती हैं। इस प्रकार के निश्चित विधानों से काव्य-कर्म में पर्याप्त सुगमता उपस्थित हो जाती है। कवि को अपने काव्य की रूपरेखा के लिए विशेष भटकना नहीं पड़ता, किन्तु, एक प्रस्तुत और मान्य ढाँचे में अपनी प्रतिभा तथा कल्पना के संयोग से उपयुक्त एवम् आकर्षक रंगों का संगठन कुछ ऐसे ढंग से करना पड़ता है कि वह छवि—काव्य, परिचित सा प्रतीत होने पर भी नवीन स्फूर्ति और आह्लाद प्रदान कर तन्मय करा सके। इसीलिए काव्य-रचना से पूर्व कवियों को उत्तम काव्यों का पठन तथा श्रवण करना चाहिए। इस प्रकार उसका काव्य साहित्य के नवतम विकास का परिणाम होगा।

यह आवश्यक नहीं है कि ये विधियां सर्व मान्य हों। कभी-कभी उनसे विरोध भी उपस्थित हो जाता है और नवीन विधियों का आयोजन भी प्रकृत कवियों द्वारा समय-समय पर होता रहता है। अस्तु कुशल कलाकार देश और काल की अभिरुचि को पहचान कर उन विधियों को ही अपनाता है जो देश और काल के अनुकूल होकर भी इस परिधि से उन्मुक्त हों। इसी कारण तो उत्तम काव्य समस्त विश्व के होते हैं और उनका महत्त्व सदैव बना रहता है।

प्रारम्भ के काव्यों में इन विधानों की पूर्णता नहीं होती है। किसी काव्य में कोई अंश आकर्षक होता है और किसी का दूसरा

ढंग उत्तम प्रतीत होता है। परवर्ती कवि उनकी उत्तम उत्तम विधियों को अपनाकर अपने काव्य को सज्जित करता है। इस प्रकार कालान्तर में कुछ विशेष विशेष विधियां—काव्य-कथन की प्रणालियां सर्व मान्य होकर प्रख्यात हो जाती हैं। यही प्रणालियाँ काव्य-परम्परा बन जाती हैं जिनके गुण-दोषों का विवेचन कर आचार्य सर्व सुलभ एवम् सर्वोत्तम काव्यादर्श प्रस्तुत करते हैं।

प्रबन्ध-काव्य-प्रणाली का विवेचन

भारतीय काव्य-परम्परा भी यहाँ की सभ्यता की भांति अति प्राचीन है। इस परम्परा के संस्कृत काव्यों में पूर्ण विकसित अवस्था के दर्शन होते हैं। आचार्य दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में इन विधानों का विशद विवेचन किया है। और उसी आदर्श को लेकर लोक-प्रख्यात 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', आदि प्रबन्ध-काव्यों की रचना हुई। पीछे के लक्षण ग्रन्थों में कविराज विश्वनाथ प्रणीत 'साहित्य-दर्पण' में भी प्रबन्ध-काव्यों के विधानों का विस्तार पूर्वक विवेचन है इन संस्कृत काव्यों की परम्परा अपभ्रंश तथा प्राकृत काव्यों द्वारा हिन्दी को उत्तराधिकार में प्राप्त हुई। अस्तु, हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य भी साहित्य के उच्चतम विकसित स्तर की सूचना देते हैं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि जायसी के काव्य ही हिन्दी के प्रथम ग्रन्थ हैं जो सेवक मुक्त हैं तथा जिनका रचनाकाल आदि निश्चित सा है। अस्तु हिन्दी-साहित्य के विकास में जायसी का विशिष्ठ स्थान है। एक बात और हम कह चुके हैं कि जायसी का इस काव्य-परम्परा का ज्ञान ग्रन्थों के अनुशीलन का परिणाम न था, वरन् लोक प्रचलित मौखिक कथाओं के श्रवण से प्राप्त हुआ था। इसका आशय यह कदापि नहीं कि जायसी के समय तक हिन्दी-साहित्य में कोई काव्य थे ही नहीं, अथवा कथा-काव्यों का प्रणयन न हुआ था। कुछ कथा-काव्यों का उल्लेख तो जायसी ने अपने 'पद्मावत' में भी किया है।[1] अस्तु जायसी के काव्यों में प्राप्त साहित्यिक विधानों (Literary Motifs) का अध्ययन केवल

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १०० ।

उचित ही नहीं, वरन् उसके महत्त्व के पूर्ण परिशीलन के लिए परमावश्यक है।

जायसी के मुख्य-मुख्य काव्य-विधान

जायसी के काव्य और उसकी कला के अनुशीलन के पश्चात् उसके काव्य-विधानों का विवेचन कुछ सुगम हो सकेगा। इसी कारण इस विषय को अन्त में उठाया है। प्रबन्धकाव्य के एक स्थूल विधान का विवेचन तो हो चुका है और उसके प्रकाश में 'पद्मावत' की परीक्षा भी हो चुकी है। अब हम उसके प्रमुख काव्य-विधानों तथा उनकी परम्परा का विवेचन करेंगे।

मंगलाचरण (स्तुति) का विधान

भारत के प्राचीन काव्यों में विद्याधिष्ठात्री सरस्वती अथवा बुद्धि संरक्षक गणेश जी की स्तुति प्रायः पाई जाती है। कवि उनसे अपने काव्य की सफल समाप्ति में सहायता की याचना करता था। कुछ काल के उपरान्त अपने इष्ट देवों से यही याचनाएँ की जाने लगीं। फारसी काव्य-पद्धति के आधार पर मुसलमान कवि प्रारम्भ में ईश्वर-स्तुति—उसके स्रष्टा, ऐश्वर्य आदि गुणों की प्रशंसा करते थे। इसी खण्ड में कवि अपना परिचय, अपनी हीनता, तथा दूसरों के काव्यों की प्रशंसा भी करते थे। अपने काव्य के रचना काल का और शाहेवक्त की प्रशंसा का निर्देश भी प्रायः रहा करता था। भारत की किसी भी भाषा में काव्य करने वाले मुसलमान कवियों में अब्दुल रहमान सर्व प्रथम कवि हैं। इन्होंने अपभ्रंश भाषा में 'सन्देश रासक' काव्य विक्रम की १२ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध किंवा १३ वीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रस्तुत किया था।[1] उसके काव्य का प्रारम्भ इन शब्दों में होता है—

रयणायर धर गिरि तरुवराइँ गयणं गणंमि रिक्खाइँ।
जेणऽज्ज सयल सिरियं सो बुहयण वो सिवं देउ॥[2]

तथा कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

१—जिन विजय मुनि: संदेश-रासक, भूमिका, पृ० १५।

२—जिसने समस्त समुद्र, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष तथा आकाशीय पिंड रचे हैं, वह सब विद्वानों की संरक्षा करे।

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अद्दहमाणपसिद्धो संनेहयरासयं रइयं ॥'[1]

आगे चलकर कवि ने दूसरों की तुलना में अपने को हीन कहा है,[2] फिर भी अपने काव्य को किसी अवसर पर पढ़ने की पाठकों से आशा की है।[3] इसी प्रकार जायसी ने अपने 'आखिरी-कलाम' तथा 'पद्मावत' में उस परमात्मा की सृजन और पालक शक्तियों का वर्णन विस्तार से किया है। कवि परिचय है ही; रचना-काल एवम् शाहेवक्त का वर्णन भी है। फिर पंडितों की प्रशंसा और अपनी हीनता का वर्णन भी किया है—

औ विनती पंडितन सन भजा। टूट संवारहु, मेरवहु सजा॥
हौं पंडितन केर पछलगा। किछु कहि चला तबल देइ डगा॥ (६)

इसी प्रकार के आशय की चौपाइयां तुलसीदास जी ने भी अपने रामचरितमानस में लिखी हैं।[4] अस्तु स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रारम्भ एक विशेष साहित्यिक विधान कोटि का परिणाम था, कुछ जायसी का अपना आविष्कार न था।

संख्या के विधान

अध्ययन करने पर विदित होता है कि लोक व्यवहार में तथा तदुपरान्त साहित्य में भी कुछ संख्यायें विशिष्ट हो गई हैं। १३ की संख्या अशुभ मानी जाती है। सिद्धों की कृपा से ८४ का महत्त्व हो गया—८४ सिद्ध हुए: योग के आसन भी ८४ हुए: और ८४ लक्ष योनियां भी मानी गई। जायसी की ४० संख्या के महत्त्व का दिग्दर्शन हो चुका है।

१—उस (मीरसेन जुलाहे) के सुविख्यात पुत्र अब्दुल रहमान ने, जो अपने प्राकृत काव्य तथा पदों के लिये प्रसिद्ध है, इस संदेश-रासक को रचा।

२—देखिए संदेश-रासक, पद्य ७।

३—वही, पद्य ७ से १७ तक।

४—कवि न होउं नहि चतुर प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू॥
आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन विविध प्रकारा॥
कबित बिबेक एक नहिं मोरें। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

वीर संख्या ५६ कोटि मानी जा चुकी थी। यादवों की संख्या ५६ कोटि बतलाई जाती है। जायसी ने सेना की संख्या ५६ कोटि मानी है—

छप्पन कोटि कटक दल साजा। सबै छत्रपति औ गढ़ राजा॥
(१०)

इसी प्रकार की एक संख्या १६ सहस्र है। जरासंध ने १६ सहस्र राजाओं को जीत कर बन्दी बनाया था। श्री कृष्ण के पत्नियों की संख्या भी इतनी ही कही जाती है। अस्तु राजा रत्नसेन के साथी राजकुमार भी १६ सहस्र थे—

राय रान सब भए वियोगी। सोरह सहस कुँवर भए जोगी॥ (५६)

राजा 'भरथरी' की रानियों की संख्या भी इतने सैकड़ा थीं—

राजा भरथरि सुना जो ज्ञानी। तेहि के घर सोरह सौ रानी॥
(५५)

राजा गन्धर्वसेन की अश्व सेना भी १६ सहस्र थी—

सोरह सहस घोड़ घोड़सारा। स्याम करन औ बाँक तुखारा॥
(१०)

अलाउद्दीन की रानियों की संख्या भी कवि ने १६ सौ ही कल्पित की है—

सात दीप महँ चुनि-चुनि आनी। सो मोरे सोरह सै रानी॥
(२८५)

इसी प्रकार की एक संख्या नौ लख है। कहानियों में प्रायः 'नौ लखा हार' की चर्चा रहती है। राजा गोपीचन्द की रानियों की संख्या इतनी ही बतलाई जाती है। राजा रत्नसेन की रानियों की संख्या जायसी ने इतनी ही कल्पित की है—

बिलसहु नौ लाख लच्छि पियारी। राज छाँड़ि जिनि होइ भिखारी॥
(५४)

इसी प्रकार लक्षणों की संख्या ३२ और क्षत्रियों के कुलों की संख्या ३६ माना जाना साहित्य जगत् में रूढ़ सा हो गया था—

कुँवर बतीसौ लच्छन राता। .... ॥ (८३)

तथा,

भै आहा पदुमावति चली। छतीस कुरि भइ गोहन चली॥ (८०)

फेरा तुरय, छतीसौ कुरी ।.............................. ॥ (११६)

तथा,

कुँवर बतीसौ लच्छना, सहस किरन जस भान । (११६)

इसी प्रकार संख्याओं के अन्य विधान भी देखिये—

फनिपति फन पतार सौं काढ़ा । अस्टौ कुरी नाग भए ठाढ़ा ॥
छप्पन कोटि बसंधर बरा । सवा लाख परबत फरहरा ॥
तैतीस कोटि देवता साजा । औ छानवै मेघ दल गाजा ॥
नवौ नाथ चलि आवहि, औ चौरासी सिद्ध । (१००)

वर्णन के विधान

साहित्यिक परम्परा में यह लगभग निश्चित था कि किस अवसर पर किन-किन वस्तुओं का वर्णन कवि को करना चाहिए। प्रबन्ध काव्य में जिन विषयों का वर्णन वांछनीय था उनकी पूरी सूची आचार्य दण्डी और पंडितराज विश्वनाथ ने अपने 'काव्यादर्श' तथा 'साहित्य-दर्पण' में दे दी है। कुछ वस्तुओं का वर्णन ही नहीं वरन् किसी वस्तु के अथवा दृश्य के अन्तर्गत किन किन विषयों का वर्णन होना चाहिए, यह भी रूढ़ हो गई थी। यथा गढ़-वर्णन में उसकी ऊँचाई, उसके चारों ओर की खाई, उस खाई की गहराई, उसके सिंह-द्वार, आदि आवश्यक अंग थे। जायसी ने अपने वर्णन में इन स्थूल रूप-रेखाओं की ओर पूरा ध्यान रखकर साहित्यिक परम्परा के प्रति न केवल अपनी श्रद्धा प्रकट की है वरन् उन साहित्यिक विधानों से जो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश साहित्य में प्रतिष्ठित हो चुके थे, अपनी जानकारी का भी प्रमाण दिया है।

गढ़-वर्णन के विधान

कवि ने सिंहल और चित्तौड़ दो गढ़ों का वर्णन किया है। सिंहल-गढ़ के वर्णन में उसकी ऊँचाई, उसके चारों ओर की गहरी खाई, पौरा, सिंह-द्वार, पहरुआ, कोतवाल, घड़ियाल, जल-कुण्ड की चर्चा की है।[1] तथा चित्तौड़ गढ़ के वर्णन में भी उसकी ऊँचाई, खाई की गहराई, पौरा, पवँरिया (पहरुआ), अमृत-कुण्ड, घड़ियाल, तथा

१—बोबर, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १५ व १६।

अन्य आवश्यक वस्तुयें ज्यों की त्यों प्रस्तुत हैं।[१] कवि के इस वर्णन में पुनरावृत्ति न कही जावेगी (कवि ने तो अपनी उक्तियों द्वारा उनमें नवीनता लाने का सफल उद्योग किया है) क्योंकि साहित्यिक परम्परा में कोट-वर्णन की रूपरेखा यही थी।

राजमन्दिर-वर्णन के विधान

कवि ने राजमन्दिर के वर्णन में उसके सातों खण्डों (Storeys.), निर्माण-उपकरण—ईंट तथा गिलावा[२]—खम्भ, उसके कटाव, चित्रकारी, जड़ाव, प्रकाश आदि की चर्चा करके उसके साहित्यिक विधान की ओर संकेत किया है।

राज-मंदिर के साथ-साथ राज-वाटिका के वर्णन का भी विधान था। इस वाटिका में अनेक वृक्षों, लताओं, पुष्पों, फलों आदि का वर्णन तो रहता ही था, एक सरोवर और उसके समीप एक देवालय का होना—कवि को ऐसा वर्णन करना आवश्यक था। जायसी ने मानसरोदक-खण्ड तथा बसंत-खण्ड में इस ओर ध्यान रखा है। गोस्वामीजी ने भी जनक की वाटिका और उसमें गिरिजा-मन्दिर की कल्पना की है।[३]

कुमारियों की जल-क्रीड़ा और झूला भी इस वर्णन के मुख्य अंग थे।

सेना-वर्णन के विधान

सेना की संख्या के विधानों का उल्लेख हो चुका है। सेना के मुख्य अंग गज तथा अश्व सेना थी—रथ-सेना का आकर्षण और उपयोगिता क्रमशः कम होती जा रही थी तथा पैदल सेना के विशेष वर्णन का कदाचित् कोई विधान न था। गज-सेना में हाथियों की ऊंचाई, उनके रंग, उनके सुदृढ़ तथा लम्बे दाँत, उनके आभूषण, मद-प्रवाह, वृक्षों का उखाड़ना, आदि का विधान जायसी में मिलता है।[४]

१—देखिये जायसी-ग्रन्थावली, पृ० २४९ से २५० तक।

२—हीरा ईंट कपूर गिलावा। (१८)

तथा, चूना कीन्ह औटि गज मोती। (१२७)

३—सर समीप गिरिजा गृह सोभा।—रामचरित मानस।

४—देखिये जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १७ व १२१ व १२७ व १२८।

उनकी चाल से पृथ्वी का फटना तथा कूर्म की पीठ के टूटने का वर्णन करने का भी विधान था।[1]

अश्व सेना में घोड़ों की जातियाँ—देश परक तथा रंग-परक, उनकी चपलता, उद्दंडता, पूँछ, कनोती आदि के वर्णन का विधान था। जायसी ने वर्णन में इस परम्परा की पूर्ण रक्षा की है।[2] बहुत प्राचीन अश्व-वर्णनों में केवल संस्कृत नाम मिलते हैं, किन्तु मुसलमानों के सम्पर्क से विदेशी नाम भी प्रचलित हो गए। अस्तु हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में दोनों प्रकार के नाम हैं। बाद के 'फरस-नामों' में विदेशी नाम ही अधिक हैं। जायसी ने घोड़ों की जितनी जातियों का उल्लेख किया है, वे सब इन 'फरसनामों' में ज्यों की त्यों मिल जाती हैं।

युद्ध-वर्णन के विधान

कवि युद्ध-वर्णन से पूर्व सेना का संगठन, उसकी तैयारियाँ, शस्त्रास्त्र के नाम, उनकी चमक आदि का वर्णन कर युद्ध में हथियारों का चलना, वीरों का कटना, रुधिर की नदी का बहना, उसमें शिर और धड़ों का तैरना, तदुपरान्त भूत, पिशाच, मांसाहारी पशु-पक्षियों का जमघट, उनकी प्रसन्नता आदि के बीभत्स दृश्य का चित्रण किया करते हैं। जायसी का कोमल और करुण हृदय भी इन विधानों की अवहेलना न कर सका।

अस्तु,

बाजहिं खड़ग उठै दर आगी।..............................॥
× × । जेहि सिर परै होइ दुइ फारा॥
× × × × ×
बरसहिं सेल बान होइ काँदों। जस बरसै सावन औ भादों॥
झपटहिं कोपि, परहिं तरवारी। औ गोला ओला जस मारी॥
(२३१)

तथा अन्य वर्णन भी परम्परानुसार प्रस्तुत हैं—

सीस कंध कटि कटि भुइ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे॥
अनंद बधाव करहिं मसखावा। अब भख जनम जनम कँह पावा॥
× × × ×

१—कुरुम टूटै, महि फाटै तिन्ह हस्तिन्ह कै चाल। (१७)

२—देखिए जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १७ व २२१ तथा २२८।

गिद्ध चील सब माडो छावहि। काग कलोल करहि औ गावहि ॥
(२३१)

नगर-वर्णन के विधान

नगर-वर्णन में वहाँ की स्वच्छता तथा समृद्धि का वर्णन तो अति साधारण विधान है ही, परन्तु भारतीय प्राचीन परम्परा के रक्षार्थ पनिहारियों का वर्णन भी आवश्यक है।[1] तालाब, उद्यान आदि का वर्णन भी होता ही है। नागरिकों की सच्चरित्रता, विद्वत्ता आदि का वर्णन भी वांछनीय था—

सबै गुनी औ पंडित ज्ञाता। संसकिरित बसके मुख बाता ॥

जायसी ने जिस प्रकार सिंहल के शृंगार-हाट, देव-मन्दिर, कथा-वार्ता, नट, नाटक आदि का उल्लेख किया है उसी प्रकार अब्दुल रहमान ने अपने 'सन्देश रासक' में यात्री के मुख से सामोर (शाम्बपुर) नगर के विषय में उल्लेख कराया है। यात्री वर्णन करता है—"यदि आप नगर में घूमने जावें, तो प्राकृत भाषा के सुमधुर गानों से कान तृप्त होंगे। स्थान-स्थान पर रामायण और महाभारत की कथाओं को सुनेंगे। कहीं-कहीं वेश्याओं की आकर्षक नृत्य-कला के दिग्दर्शन होंगे तथा कहीं-कहीं पर अद्भुत नाट्य शालाओं में मनोरम नाटकों का प्रदर्शन देखेंगे"।[2] वस्तुतः जायसी और अब्दुल रहमान के वर्णनों में इतने साम्य का कारण इन विधानों की मान्यता है।

पूर्ववर्ती काव्यों के निर्देश का विधान

प्राचीन तथा प्रसिद्ध काव्यों किंवा कवियों का उल्लेख बाद के कवि अपने काव्यों में थोड़ा बहुत कर ही देते हैं। जायसी की 'पद्मावती' वस्तुतः प्रेम-कथा है। अतएव उसने अपने समय की प्रसिद्ध प्रेम-कथाओं का उल्लेख कर दिया है।[3] इन कथाओं में कुछ लिखित रूप में प्राप्त होगई हैं, कुछ लोक-कहानियों के रूप में सुनी जाती हैं और कुछ के विषय में विद्वानों में मतभेद है। "मधूपाछ मुगुधावति लागी" में ग्रियर्सन महोदय "सुदयवच्छ मुगधावति

१—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली पृ० १४ व १५।

२—देखिए, संदेश-रासक, पृ० ४२ से ४७ तक।

३—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १००।

सागी'' पाठ के पक्ष में हैं।[1] यदि 'सुदयवच्छ' नाम ठीक है, तो अब्दुल रहमान के संदेश-रासक से भी संगति बैठ जाती है।[2] जिसकी पुष्टि "सुदयवच्छ-चरित्र'' से भी हो जाती है।[3] तथा लोक प्रसिद्ध कहानी "सदावच्छ-सारंगा'' से भी मेल खा जाती है—

प्रेम-कथा के विधान

प्रेम-पात्रों में प्रेमांकुर जमाने का कार्य किसी पक्षी द्वारा होता है, ऐसा कथा-काव्यों का विधान सा है। नल-दमयन्ती कथा में यह कार्य राजहंस द्वारा सम्पादित हुआ था। किन्तु साधारणतः प्रेम कथाओं में यह कार्य सूए (हीरामन) द्वारा ही होता है। जायसी ने भी इस कार्य के लिए सुग्गे को चुना है। 'पृथ्वीराज रासो' के ५७ वें समय का शुक-वर्णन भी ऐसा ही है।

दूसरा विधान था प्रेमी-प्रेमिका का एकान्त मिलन। ऐसा मिलन संयोगवश भी वर्णन किया जाता है और सकारण भी। नल-दमयन्ती कथा में देवताओं की कृपा से, उन्हीं के स्वार्थ-साधन के हेतु, मिलन दमयन्ती के अन्तःपुर में हुआ था। रामचरित-मानस में गोस्वामी जी ने यह मिलन आकस्मिक घटना के रूप में जनक की वाटिका में कराया है। जायसी ने यह मिलन पूर्व निश्चित कार्य क्रमानुसार दिखलाया है। साधारण कहानियों में ऐसा मिलन वाटिका में ही होता है, जहाँ नायिका झूल रही होती है और नायक संयोगवश वहाँ पहुँच जाता है। प्रचलित कहानियों में नायक का बेहोश हो जाना, तदुपरान्त नायिका का चंदनाक्षरों में उसके वक्ष-स्थल पर अपना संदेश—अपना नाम, मिलने का उपाय आदि—लिख देने की प्रथा सी है।

इन प्रेम-कथाओं में नायक के प्रेम की परीक्षा का भी विधान आवश्यक था। गोस्वामी जी ने भी पार्वती द्वारा रामचन्द्र जी की परीक्षा का उल्लेख किया है—

१—ए० जी० शिरेफ : पद्मावती का अँगरेजी अनुवाद, पृ० १४४ के फुटनोट।

२—"कहइ व ठाइ सुदयवच्छ केरय व नल चरिउ"……॥४४॥

३—अगर चन्द नाहटा : नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, सं० २००४, वर्ष ५२, अंक १, वैशाख-आषाढ़ अंक, पृ० ८ "इसी समय (सं० १५१९) के लगभग हर्षवर्धन ने 'सुदयवच्छ चरित्र' की रचना की है।—लोक कथा सम्बन्धी जैन-साहित्य।

पुनि पुनि हृदय विचारु करि, धरि सीता कर रूप।
आगे होइ चलि पंथ तेहि, जेहि आवत नर भूप॥
—रामचरित मानस, बाल काण्ड॥

जायसी ने इस परीक्षा का विधान दो स्थलों पर, प्रथम पार्वती द्वारा और बाद में लक्ष्मी द्वारा प्रस्तुत किया है।

यद्यपि कामदेव महादेव जी की कोपाग्नि में भस्म हुआ था, फिर भी लोक-कथाओं में महादेव जी प्रायः प्रेमियों के झमेले में पड़ते हैं और उनका संयोग कराते हैं। प्रेमी निराश होकर जल-मरने को तैयार हो जाता है, उस समय 'गौरा-पारवती' के आग्रह अनुरोध पर शिवजी उसकी सफलता-प्राप्ति में प्रयत्नशील होते हैं—ऐसा इन प्रेम-कथाओं का विधान है। जायसी ने 'रत्नसेन-सती-खण्ड' में महादेव जी द्वारा रत्नसेन को सिद्धि गुटिका प्रदान कराई और गढ़-प्रवेश का साधन भी उसको बतलाया। तदुपरान्त 'रत्नसेन-सूली-खण्ड' में राजा रत्नसेन की ओर से बसीठी भी की और आवश्यकता उपस्थित होने पर समस्त देवताओं सहित उसके पक्ष में लड़ने को भी उद्यत हो गए। अन्ततोगत्वा रत्नसेन को सफलता-पद्मावती से विवाह—प्रदान करादी।

इन कथाओं का एक और विशेष विधान था संयोग के उपरान्त प्रेमियों का बिछोह और अन्त में पुनर्मिलन। जायसी ने लौटते समय समुद्र में रत्नसेन-पद्मावती का बिछोह अंकित किया है और फिर लक्ष्मी की कृपा से उन दोनों का पुनर्मिलन वर्णित किया है।

अन्य छोटे-छोटे विधानों में दूतियों का प्रसंग, बनिजारा-प्रसंग, सपत्नियों का विवाद, पुत्र-जन्म आदि भी हैं जिनकी ओर जायसी ने पूरा ध्यान रखा है।

इस प्रकार के काव्यों में तीन और आवश्यक विधान थे—१—स्त्री-भेद वर्णन, २—नख-शिख वर्णन तथा ३—बारह मासा वर्णन। जायसी ने इन विधानों को अपने काव्य में उचित स्थान देने में भी पूरी तत्परता का परिचय दिया है। स्त्री-भेद-वर्णन तो केवल इस विधान की पूर्ति के ही कारण है, अन्यथा 'पद्मावत' की प्रबन्धात्मकता में इस प्रसंग की अनुपस्थिति से कोई क्षति नहीं

पहुँचती। जायसी ने नख-शिख-खण्ड तथा पद्मावती-रूप-चर्चा-खण्ड दोनों में ही पद्मावती के नख-शिख का बड़ा सहृदयता से वर्णन किया है। यह खण्ड नख-शिख विधान की परम्परा की विशेषता का प्रमाण देते हैं।

बारह मासे में प्रायः वियोगिनी की तड़पन का विधान रहता है और सम्भोग-सुख का षट्-ऋतु-वर्णन में। अस्तु जायसी ने भी पद्मावती के सम्भोग-वर्णन का नाम षट्-ऋतु वर्णन और पति वियुक्ता नागमती की वर्ष भर की तड़पन का (उसके बारह मास का) वर्णन नागमती-वियोग-खण्ड में दिया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने प्रचलित साहित्यिक विधानों का कितनी तत्परता, कितनी सचाई तथा कितनी उत्तमता से अपने काव्य में उल्लेख किया है। केवल इन विधानों तक ही कवि ने अपने काव्य को सीमित नहीं रखा है, वरन् कुछ शब्दावली भी ज्यों की त्यों रख दी है।

प्रेम-काव्य की शब्दावली

इन्द्र-सभा सुन्दरी अफसराओं के नाट्य-प्रदर्शन का स्थान होने से 'इन्द्र-अखाड़ा' प्रसिद्ध है—

छुद्र घंटिका मोहहि राजा। इन्द्र अखाड़ आइ जनु बाजा॥ (४७)

महादेव जो जब किसी प्रेमी की विपत्ति से द्रवित होते हैं, तो उनके दयार्द्र, होने को उनका 'आसन-टरना' कहा जाता है—

जागिहिं जबहि गाढ़ अस परा। महादेव कर आसन टरा॥ (११२)

किसी सुन्दरी के हंसने को फूल झड़ना और रोने को मोती-गिरना प्रायः लोक-कथाओं में कहा जाता है—

पद्मावति कमला ससि जोती। हँसै फूल रोवै सब मोती॥ (१०६)

इन प्रेम-कथाओं में प्रायः दूत का प्रतिद्वन्द्वी के दरबार में उपस्थित होकर बाँए हाथ से प्रणाम करने की चर्चा रहती है—

ठाढ़ देख सब राजा राऊ। बाँए हाथ दीन्ह बरम्हाऊ॥ (११३)

समुद्र में वियुक्त प्रेमियों को दो तख्तों के टुकड़ों पर अलग-अलग दिशाओं में बहता हुआ दिखाना भी एक निश्चित प्रणाली है—

भए राजा रानी दुइ पाटा। दूनौ बहे चलं दुइ बाटा॥ (१७५)

नायक को घोर संकट में सबको दुखी बतलाना भी ऐसे काव्यों की एक विशिष्ठता थी। रत्नसेन की आगम विपत्ति से—सूली दी जाने की आशंका से—सब व्यथित हो जाते हैं—

मागहि सब विधिना सौं रोई। कै उपकार छोड़ावै कोई॥[1] (११३)

अन्तिम मुख्य वाक्यांश है कथा की समाप्ति का। कथा समाप्ति पर नायक-नायिका के मिलन, समृद्धि तथा सुख का वर्णन कर श्रोताओं तथा अन्य सब को वैसे ही सुख की शुभ कामना प्रकट करना था। जायसी ने रत्नसेन-पद्मावती पुनर्मिलन पर वैसी ही शुभ कामना प्रगट की है—

जिनि काहू कहँ होइ बिछोहू। जस वै मिले, मिलै सब कोऊ॥ (११४)

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ने प्रचलित प्रबन्ध-काव्यों के विधानों का अपने 'पद्मावत' में कितना उत्तम निर्वाह किया है। गोस्वामी जी के 'रामचरित मानस' और जायसी के 'पद्मावत' के विधानों में इतना अधिक साम्य देखकर सहसा यह धारणा हो जाती है कि जायसी के अनुकरण पर 'मानस' की रचना हुई। परन्तु वस्तुतः यह बात नहीं है। असल बात यह है कि जायसी और तुलसी दोनों ने संस्कृत, अपभ्रंश प्राकृत काव्यों में प्रयुक्त काव्य-विधानों का अनुकरण किया और फलतः उनके काव्यों में इतना अधिक साम्य उपस्थित हो गया।

———

१—तुलना कीजिये—

मन ही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेश भवानी॥
गणनायक वरदायक देवा। आजु लगे कान्ही तव सेवा॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी॥
—राम चरित मानस।

अष्टम अध्याय

अनुभूति-पक्ष

(रस तथा भाव)

अब हम 'पद्मावत' के अनुभूति-पक्ष पर विचार करते हैं। यह एक प्रबंध-काव्य है। अतएव इसमें भारतीय परम्परा के अनुसार शृंगार, वीर तथा शान्त में से एक रस अंगी होना चाहिए, शेष रस तथा प्रकरण अंग हों। रामचरित मानस में करुण रस का पूर्ण परिपाक है, किन्तु उसमें भी कदाचित इसीलिये वीर-रस अंगी माना गया है। 'पद्मावत' में वीर-रस की प्रधानता नहीं है, लौकिक-पक्ष में शृंगार और आध्यात्मिक पक्ष में शान्त रस ही प्रधान है। अस्तु साहित्यिक दृष्टिकोण से हम उसमें शृंगार की ही प्रधानता मानते हैं।

'पद्मावत्' में रति भाव के तीनों भेदों—पुत्र-विषयक, कांता-विषयक, और भगवद्-विषयक रति—में से कांता-विषयक रति ही अधिक पाई जाती है, भगवद्-विषयक कम और पुत्र-विषयक रति का तो एक प्रकार से अभाव ही है। आगे चलकर यह देखा जावेगा कि जायसी में सहृदयता—रस योग्य स्थलों को पहचानने की क्षमता—कितनी थी और उनका झुकाव किस ओर अधिक था। पहिले शृंगार रस को ही लीजिए।

शृंगार-रस

हृदय में काम को उत्पन्न करने वाला उत्तम प्रकृति का रस शृंगार कहलाता है। उसके आलंबन नायक और नायिका हैं। नायिका न तो दूसरे की पत्नी हो और न अननुरागिणी वेश्या हो। चन्द्र, चन्दन, भ्रमर आदि उसके उद्दीपक हैं। भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव हैं और उग्रता, मरण, आलस्य, जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके व्यभिचारी हैं। रति इसका स्थायी भाव है।[1]

१—परोढां वर्जयित्वा च वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥
चन्द्र चन्दन रोलम्बरुताद्युद्दीपकं मतम् ।
भ्रूविक्षेप कटाक्षादि रनुभावः प्रकीर्तितः ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्य जुगुप्सा व्यभिचारिणः ॥

—साहित्य दर्पण।

शृंगार-रस तीन प्रकार का होता है—१ अयोग, २ सम्भोग और ३ वियोग। जब नायक-नायिका श्रवण-दर्शनादि के द्वारा एक दूसरे को प्रेम करने लगें और उनके हृदय में मिलने की लालसा हो, किन्तु मिलन न हो रहा हो, वह अयोग शृंगार है। इसे पूर्वराग भी कहते हैं। भारतीय पद्धति के अनुसार पहिले स्त्री के पूर्वराग का वर्णन होना चाहिये। पीछे उस स्त्री की अनुराग चेष्टाओं से उत्पन्न पुरुष के अनुराग का।[1] जायसी ने पद्मावती की कामदशा का जो वर्णन—

सुनु हीरामन कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई॥

तथा,

जोवन मोर भएउ जस गंगा। देह देह हम लाग अनंगा॥ (२१)

द्वारा किया है उसे पूर्वराग न मानना चाहिए क्योंकि वह किसी व्यक्ति विशेष को लक्ष्य करके नहीं कहा गया है; यहाँ तो अंग-अंग में काम का वास है। इसे अनुराग नहीं कह सकते। काम और प्रेम में यही अंतर होता है कि प्रेम विशेषोन्मुख होता है परन्तु काम नहीं।

रत्नसेन का पूर्वराग

हाँ, तोते के मुख से पद्मावती के रूप-सौन्दर्य की चर्चा सुनकर रत्नसेन का प्रेम-विह्वल हो जाना पूर्वराग है—

तैं सुरंग-मूरति वह कही। चित्त मँह लागि चित्र होइ रही॥

तथा,

अब हौं सुरुज चांद वह छाया। जल बिनु मीन, रक्त बिनु काया॥
(३६)

नख-शिख के वर्णन द्वारा उस प्रेम की पुष्टि हो जाती है। ध्यान रहे कि रत्नसेन पद्मावती का नाम सुनकर ही प्रेम के आवेश में नाचने नहीं लगता। उसके हृदय में जैसा कि स्वाभाविक था, पहिले कौतूहल का उदय होता है और तोते से पूछता है—

को राजा, कस दीप उतंगू। जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू॥
सुनि समुद्र भा चख किलकिला। कँवलहि चहौं भवरि होइ मिला॥
कहु सुगंध धनि कस निरमली। भा अलि संग कि अबहीं कली॥ (३६)

१—आदौ वाच्य: स्त्रिया राग: पुंस: पश्चात्तदिङ्गितै:। —साहित्य-दर्पण।

राजा का यह पूछना कि वह कौन सा द्वीप है, वहाँ कौन राजा है, वह कौन रमणी है, उसका विवाह हुआ है या नहीं, परम स्वाभाविक है। विशेषतः "भा अलि संग क अबही कली" तथा 'जेहि रे सुनत मन भएउ पतंगू' के कहने से रत्नसेन के उच्च और विश्वस्त चरित्र पर कोई भी लांछन नहीं लगाया जा सकता। यह पूर्वराग का सुन्दर उदाहरण है। नल-दमयन्ती का अनुराग भी इसी श्रेणी का है। यदि वहाँ वे एक दूसरे के विषय में सुनते चले आ रहे थे, तो यहाँ भी सुनकर, पूछकर, उचितानुचित पर विचार करके ही जड़ जमती है। कुछ समालोचकों का मत कि "तोते के मुँह से पहिले ही पहल पद्मावती का वर्णन सुनते ही रत्नसेन का मूर्छित हो जाना और पूर्ण वियोगी बन जाना अस्वाभाविक सा लगता है। × × × नल और दमयन्ती बहुत दिनों से एक दूसरे के रूप-गुण की प्रशंसा सुनते आ रहे थे जिससे उनका पूर्वराग मंजिष्ठा राग की अवस्था को पहुँच गया था।[1] परन्तु हम इससे ज्यों के त्यों सहमत नहीं। रत्नसेन का यह प्रेम एक विशेष व्यक्ति की ओर है। जिस पद्मावती के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर नागमती उस तोते को मरवा डालना चाहती है, सारे चित्तौड़ में जिसकी बात फैल जाती है, जिसके कुटुम्ब आदि के विषय में राजा शुक से सब कुछ पूछ चुका है, जिसके विषय में वह यह भी जानता है कि वह अविवाहिता है, 'जेहि सुनत' राजा का मन 'पतंगू' हो जाता है, उससे यदि राजा प्रेम करने लगा तो उसमें लोभ की क्या बात है। यह तो नितान्त स्वाभाविक ही है। तुलसीदास जी ने भी जनकपुर की वाटिका में मर्यादा पुरुषोत्तम राम को सीता के विषय में इस प्रकार की बातें करते हुये दिखलाया है[2]—फिर कहाँ साधारण पुरुष और कहाँ मर्यादा पुरुषोत्तम !

पद्मावती का पूर्व राग

जब रत्नसेन पद्मावती के विरह में व्याकुल होकर चित्तौड़ से चल दिया और सिंहल द्वीप पहुँच गया, तो उसके प्रेम के प्रभाव से

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृ० ३० ।

२—तुलना कीजिए—

> तात जनक तनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई ॥
> जासु विलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥
> रघुबंसिन कर सहज सुभाऊ। मन कुपन्थ पग धरै न काऊ ॥
>
> —रामचरित मानस।

पद्मावती के मानस में भी प्रेम का प्रादुर्भाव हो गया। जायसी ने इस पूर्वराग का वर्णन सांसारिक पक्ष में तो कुछ-कुछ अस्वाभाविक कर दिया है, आध्यात्मिक पक्ष में तो भक्त की साधना से भगवान का 'आसन हिलने लगता है'। किन्तु संसार में ऐसा नहीं होता कि प्रेमी जिस प्रेयसी के लिए जान दे रहा हो, वह प्रेयसी 'हृदयमेव जानाति हृदयस्य वृत्तम'—(उत्तर रामचरित) न्याय से कुछ परिचय प्राप्त किये बिना ही उसको प्रेम करने लगे जैसा कि जायसी ने पद्मावती-पक्ष में दिखलाया है—

पद्मावत तेहि जोग संजोगा। परी प्रेम बस गहे वियोगा ॥
नींद न परै रैनि जो आवा। सेज केवांच जानु कोइ लावा ॥ (७३)

वस्तुत: जायसी ने स्त्रियों के पक्ष में काम और प्रेम का अन्तर ही नहीं समझा है। प्रेम भी काम है किन्तु विशेषोन्मुख, क्योंकि 'जोग संजोगा', प्रेम-विह्वला पद्मावती धाय के समझाने पर भी 'जोबन' का ही दुखड़ा रोती है—

दहै, धाय जोबन एहि जीऊ। जानहु परा अगिनि मँह घीऊ ॥
करबत सहौं होत होइ आधा। सहि न जाइ जोबन कै दाधा ॥ (७४)

जब तोता पद्मावती को रत्नसेन के प्रयत्न की बात सुनाता है, तब तो पूर्वराग की सम्पूर्ण सामग्री तैयार है और जायसी ने न जाने क्यों यह नहीं दिखलाया। पद्मावती केवल गम्भीरता पूर्वक उसके प्रेम को स्वीकार करने की अनुमति भर दे देती है। कितना हृदय-हीन व्यवहार है—

कँवल भँवर तुम बरना, मैं माना पुनि सोइ।
चांद सूर कँह चाहिये, जौ रे सूर वह होइ ॥७॥ (७८)

इस भांति यह स्पष्ट है कि जायसी ने प्रेमी-पक्ष का पूर्वराग जितनी सफलता से चित्रित किया है उतनी सफलता से प्रेयसी-पक्ष का नहीं। वर्णन में तुल्यानुराग के अभाव का एक कारण आध्यात्मिकता का आभास है और दूसरा फारसी का प्रभाव।

सम्भोग-शृंगार

पूर्वराग के अनन्तर नायक-नायिका का मिलन दिखाकर कवि सम्भोग-शृंगार का वर्णन किया करते हैं। पूर्वराग की प्रयत्न-शीलता और व्याकुलता सम्भोग को उतना ही अधिक मधुर बना देती है। पद्मावती-रत्नसेन के संभोग का वर्णन बसन्त-खण्ड,

प्रथम-मिलन, लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड में तथा पद्मावती-मिलन-खण्ड में किया है। बसन्त-खण्ड में रत्नसेन पद्मावती से दृष्टि मिलते ही बेहोश हो जाता है, अतएव वहाँ सम्भोग का वातावरण ही उपस्थित नहीं होता। लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड में रत्नसेन-पद्मावती की बिछुड़ने के पश्चात् मिलते अवश्य हैं, किन्तु कवि ने इस दृश्य को मार्मिक अधिक बना दिया है। अतएव सम्भोग का रमणीय चित्र अंकित नहीं हो पाया है। पद्मावती-मिलन-खण्ड में राजा के लौटने पर पद्मावती—

बिहँसि चाँद देइ माँग सेंदूरू। आरति करै चली जहँ सूरू॥
(२६४)

उसके पास पहुँचती है। मिलन के पश्चात् राजा अपने कष्टों की कथा तथा पद्मावती अपनी व्यथा वर्णन करती है। इसी प्रसंग में देवपाल की दूती की चर्चा आ जाती है। राजा देवपाल पर क्रोधित हो जाता है और समस्त सम्भोग शृंगार फीका पड़ जाता है।

अस्तु रत्नसेन-पद्मावती के प्रथम मिलन के अवसर पर ही वास्तविक सम्भोग का चित्रण हुआ है। यह मिलन घटना कितनी मनोरंजक है। जिसकी प्रशंसा सुनकर राजा ने अपने समृद्ध राज्य को छोड़कर जोगी का वेष धारण कर लिया, तप किया और जान पर खेल कर जिसे प्राप्त कर लिया उससे मिलकर उसके हृदय में कितना हर्ष होगा, कितना उत्साह होगा, वह जायसी ने नहीं दिखलाया। अनुभाव और संचारी भावों की वह रमणीय दुनिया जाने कहाँ छिप गई। व्यर्थ की कुछ योग, रसायन और चौपड़ की बातें और फिर रत्नसेन का सत्य-विषयक एक लेक्चर—

यह मन लाएउँ तोहि अस नारी। दिन तुइ पासा औ निसि सारी॥
पौ परि बारहि बार मनाएउ। सिर सौं खेलि पैंत जिउ लाएउ॥
फिर, (१३७)

सत्य कहौं सुनु पद्मावती। जहँ सत गुरु तहाँ सुरसती॥
पाएउ सुवा कही यह बाता। भा निश्चय देखत मुख राता॥ (१३८)

इस खानापूरी में भी पुरानी बातों की स्मृति बड़ी मधुरता से आकर प्रेम के मिठास को बढ़ा देती है। जब रत्नसेन ने अपबीती सुना दी तो पद्मावती भी अपबीती सुनाने लगी—

जबहुँत कहिगा पंखि संदेशी । सुनिउ कि आवा है परदेशी ॥
त बहुँत तुम बिनु रहै न जीऊ । चातक भएउ कहत पिउ पीऊ ॥
भइउँ चकोरि सो पंथ निहारी । समुद सीप जस नैन पसारी ॥ (१३६)

आगे का वर्णन कवि ने सुन्दर उक्तियों द्वारा किया है जिनमें रस नहीं तो रमणीयता अवश्य है—

तस होइ मिलै पुरुष औ गोरी । जैसी बिछुरी सारस जोरी ॥
पिय धनि गही दीन्हि गल बाँही । धनि बिछुरी लागी उर माँही ॥
जानहु औटि कै मिलि गए, तस दूनौ भए एक ॥ (१४०)

'औटि' करके दो वस्तुएँ जिस प्रकार मिलती हैं वैसे आत्मा-परमात्मा का मिलना तो ठीक-ठीक बैठ जाता है, पति-पत्नी का शायद नहीं।

इस भाँति हम देखते हैं कि जायसी ने संभोग-शृंगार का वर्णन कम किया है और जितना है भी उसमें अनुभाव आदि की योजना नहीं है, इससे रस-परिपाक की अवस्था आ ही नहीं पाती, केवल भाव-मात्र के रूप में वह रतिभाव रह जाता है। पद्मावती और तोते का मिलना तथा पद्मावती-रत्नसेन का मिलना साहित्यिक दृष्टि एवम् कथा की दृष्टि से भिन्न ही है, किन्तु जायसी में समान गम्भीरता है। अतः कोई भी पाठक उनका अन्तर नहीं जान पाता। वस्तुतः विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की योजना ही तो एक भाव को रस का रूप देती है, उसके बिना मित्रता एवम् प्रणय का अन्तर कैसे स्पष्ट हो सकता है। पद्मावती-सूआ-भेंट के अवसर पर—

कंठ लाइ सूआ सों रोई । अधिक मोह जौ मिलै बिछोई ॥
आगि उठै दुख हिए गंभीरू । नैनहि आइ चुवा होइ नीरू ॥ (७६)

इत्यादि के द्वारा भी दो बिछुड़े हुए प्राणियों के मिलने का वर्णन है, जो उपर्युक्त मिलन से अधिक भिन्न नहीं जान पड़ता।

रत्नसेन-नागमती का सम्भोग

रत्नसेन-नागमती के सम्भोग का भी कवि ने एक दृश्य उपस्थित किया है। राजा रत्नसेन बहुत दिनों के उपरान्त सिंहल से लौटा है। दिन भर दरबार में राज्य कर्मचारियों तथा प्रजा से भेंट करता रहा। रात्रि को नागमती के कक्ष में उपस्थित हुआ। जो पति अन्य स्त्री में अनुरक्त हो, अपनी पत्नी को वियोगाग्नि में जलता छोड़ जावे, उसके लौटने पर उस पत्नी का 'मान' मनोवैज्ञानिक अवश्य है, परन्तु उस 'मान' के भंग हो जाने पर उस पत्नी के हर्ष, उत्साह, आदि

का जैसा वर्णन होना चाहिये, वैसा कवि की लेखनी न कर पाई। नागमती के तीखे व्यंग भी परिस्थिति को गम्भीर बनाकर संभोग के अनुकूल नहीं होने देते। राजा रत्नसेन तो—

नागमती तू पहिल बियाही। कठिन बिछोह दहै जनु दाही ॥ (१८६)

भावहीन सफाई पेश करते हुये ऐसा प्रतीत होता है मानो नागमती को फुसला रहा है। वस्तुतः रत्नसेन की ओर से कोई संभोगोपयुक्त चेष्टाओं का प्रदर्शन नहीं होता। अतएव यह सम्भोग वर्णन भी साधारण कोटि में आता है।

वियोग-वर्णन

शायद कहने की आवश्यकता नहीं है कि जायसी का चित्त जितना सम्भोग-वर्णन में रमा है उससे अधिक पूर्वराग में और पूर्वराग से अधिक वियोग में। उसने नागमती के विरह का भी वर्णन किया है और पद्मावती के का भी। नायक-पक्ष में रत्नसेन का विरह है। पद्मावती और रत्नसेन के विरह का बड़ा अंश हम पूर्वराग के अन्तर्गत दिखला चुके हैं। आगे लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड में पद्मावती जब रत्नसेन से अलग हो जाती है तो आशंकाओं से—

खन चेते खन होइ बेकरारा। भा चंदन बंदन सब छारा ॥
बाउरि होइ परी पुनि पाटा। देहु बहाइ कंत जेहि घाटा ॥
को मोहि आगि देइ रचि होरी। जियत न बिछुरै सारस जोरी ॥
(१७७)

पद्मावती विरह-विह्वला हो जाती है। इसी प्रकार रत्नसेन के मानस में भी विरह का संचार होता है—

तपि कै पावा मिलि कै फूला। पुनि तेहि खोइ सोइ पथ भूला ॥
कँह अस नारि जगत उपराही। कँह अस जीवन कै सुख छाही ॥
कँह अस रहस भोग अब करना। ऐसे जिए चाहि भल मरना ॥ (१८२)

किन्तु जायसी के हृदय की पीर तो नागमती के वियोग-वर्णन में झलक उठती है। बहुत दिन बीत जाने पर भी जब रत्नसेन सिंहलद्वीप से न लौटा तो नागमती की धीरता लुप्त होने लगी। उसने मार्ग में आँखें बिछा दीं और राह देखते-देखते उसे अशुभ की आशंका होने लगी—

नागमती चितउर पथ हेरा। पिउ जो गए पुनि कीन्ह न फेरा ॥
नागर काहु नारि बस परा। तेइ मोहि पिय मो सौं हरा ॥ (१५१)

अन्त में उसकी निराशा आषाढ़ मास के लगते ही वियोगाग्नि में उसे जलाने लगती है।[१] विरहिणी एक ओर तो अपनी दशा को देखती है और दूसरी ओर प्रकृति को। कहीं तो दोनों का एकसा स्वरूप है, और कहीं ठीक विरोध है। साधर्म्य द्वारा इस बारह मासे का कितना रम्य वर्णन है—

रक्त कै आँसु परहि भुइ टूटी। रैंगि चली जनु वीर बहूटी॥
बरसे मघा झकोरि झकोरी। मोरि दुइ नैन चुवैं जस ओरी॥ (१५३)

प्रकृति से नितान्त भिन्न अपना स्वरूप देखकर कितनी खीज होती है, यह 'मधुबन! तुम कत रहत हरे" वाले सूर के पद से भली-भाँति व्यंजित होता है! नागमती में भी इस खीज की मात्रा कम नहीं है। सब सुखी हैं, सबके प्रिय लौट रहे हैं, सब की आशायें पूरी हो रही हैं। किन्तु उसके साथ दूसरी ही बात है—

चित्रा मित्र मीन कर आवा। पपीहा पीउ पुकारत पावा॥
कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहै जारी॥
अबहूँ निठुर! आउ एहि बारा। परब देवारी होइ संसारा॥ (१५३)

जायसी के वियोग-वर्णन पर हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं। यहाँ पर केवल रस परिपाक की दृष्टि से विवेचन अभीष्ट है। विरहणी की वेदना का वर्णन अत्युक्ति पूर्ण तो है ही। साथ ही उसमें विरह की सभी दशाओं का विवरण मिल जाता है, फिर भी अपेक्षित गम्भीरता का अभाव है। रीति-कालीन कवियों की भाँति जायसी ने भी ऊहा का सहारा लिया है—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥ (१५८)

अधिकतर दाह और आँसुओं का ही वर्णन है, न मूर्च्छा है, न प्रलाप, न पुरानी स्मृति, न मानसिक बेचैनी। इसका कारण कदाचित् यह हो सकता है कि नागमती को हिन्दू-रमणी के रूप में

१—कालिदास का यक्ष भी ८ मास तो विरह में बिता देता है किन्तु आसाढ़ मास में उसकी ज्वाला असह्य हो उठती है—

तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबला विप्रयुक्तः स कामी।
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्त प्रकोष्ठः।
आसाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श॥

ही रखा गया है और इसीलिए विरह मर्यादा के बाहर नहीं जाता तथा वह केवल अपने पति को अपनी आँखों के सामने ही देखना चाहती है, भोग आदि की कोई लालसा उसे नहीं। उसने जो संदेश पदमावती को भेजा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है—

हमहु बियाही संग ओहि पीऊ। आपुहि पाइ जानु पर जीऊ॥
अबहुं मया करु कस जिउ फेरा। मोहि जियाउ कंत देइ मेरा॥
मोहि भोग सौं काज न बारी। सौंह दीठि कै चाहन हारी॥ (१६०)

इस प्रकार स्पष्ट है कि वियोग वर्णन में जायसी को संयोग और अयोग की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। परम्परा-युक्त होते हुए भी उसमें मानसिक दशाओं, विभाव, विशेषतः उद्दीपन विभाव तथा अनुभावों की सुन्दर योजना है।

करुण-रस—

शृंगार के अनन्तर जायसी का दूसरा प्रिय रस करुण है। निश्चय ही उसका मन इस रस में अधिक रमा है। दो स्थल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो वह वर्णन है जब रत्नसेन जोगी होकर निकल पड़ता है और उसकी माता पत्नी आदि विलाप करती हुई उसे समझाने का व्यर्थ प्रयत्न करती हैं—

रोवत माय, न बहुरत बारा। रतन चला घर भा अँधियारा॥
× × × ×
रोवहि रानी, तजहि पराना। नोचहि बार करहिं खरिहाना॥
× × × ×
जा कँह कहहिं रहीस कै पीऊ। सोइ चला, का कर यह जीऊ॥
मरै चहहि पै मरै न पावहि। उठै आगि सब लोग बुझावहि॥
× × × ×
टूटै मन नौ मोती, फूटै मन दस काँच।
लीन्ह समेटि सब अभरन, होइगा दुख कर नाच॥ (५५-५६)

इस वर्णन में अश्रुपात, हाहाकार, आभूषणों का नोंच-नोंच कर फेंक डालना, मरने के लिए तैयार होना तथा इसी प्रकार की अन्य बातें उनकी खीझ, व्यथा तथा व्याकुलता आदि की व्यंजना करती हैं। कवि ने यदि इनका कथन न किया होता प्रत्युत वर्णन किया होता तो अधिक रमणीयता आ जाती। दोहे में अत्युक्ति भी

गम्भीर नहीं बनी रह सकी। "मरै चहहि पै मरै न पावहि" के द्वारा कवि ने रानियों के हृदय की व्याकुलता और क्षोभ को भली-भाँति व्यंजित कर दिया है। "का कर यह जीऊ" से कितनी निराशा टपकती है। "घर भा अँधियारा" और "होइगा दुख कर नाच" भी महत्वपूर्ण हैं। माता के लिए पुत्र गृह-दीपक होता है, उसके चले जाने पर घर में अंधकार ही दिखाई पड़ता है। पत्नी की व्यथा माता की व्यथा से भिन्न है। उसके लिए घर में दुख का नाच हो रहा है, चारों ओर दुख ही दुख विकराल रूप से दिखलाई पड़ता है। रत्नसेन की माता का दुख तथा अपने सौन्दर्य और आभूषणों के भार से उत्पन्न खेद उस बेचारी नागमती के जीवन को भार बनाए दे रहे हैं, वह मरना भी चाहती है किन्तु मर नहीं सकती।

राजा जब मार्ग में जा रहा था, तब उसके अधीन विषय-पतियों ने उसको इस दशा को देखा और यह सोचा कि जब इतना बड़ा चक्रवर्ती राजा योगी होगया, तो हम जैसे इस माया में रहकर क्या करेंगे। अस्तु वे भी जोगी हो गए। नगर-नगर और ग्राम-ग्राम से आकर लोग उसके शिष्य होगए—

राय रान सब भए वियोगी। सोरह सहस कुँवर भए जोगी॥
छाड़ेन्हि लोग कुटुम्ब सब कोऊ। भए निनार सुख दुख तजि दोऊ॥
× × × ×
नगर नगर और गावहिं गावा। छाँड़ि चलै सब ठावहि ढावा॥
का कर मढ़ का कर घर माया। ताकर सब जाकर जिउ काया॥ (५६)

महात्मा तुलसीदास के समान जायसी ने अपने नायक को राज्य छोड़ कर जाते हुए दिखाकर भी मार्ग के भोले-भाले ग्राम-वासियों द्वारा विभिन्न कल्पनाएँ नहीं कराई है। जो करुणा का विमल प्रवाह इन भोले हृदयों में इस मंजुल 'जोगिन्ह कर कटक' को देखकर होता वह न जाने क्यों जायसी की कल्पना में न आया। उनके नायक की सूचना केवल राजाओं को ही मिलती है और वे भी उसे समझाने और पहुनाई करने के लिए ही आते हैं।[1] ध्यान

1—रत्नसेन भा जोगी जती। सुनि भेंटे अगवा गजपती॥
× × × ×
"आए भलेहि, मया अब कीजै। पहुनाई कहँ आयुस दीजै॥"
× × × ×
"तुम सुखिया अपने घर राजा। जोखिउँ एत सहहु केहि काजा॥
—जा० ग्र०, पृ० ५६।

देने की बात तो यह है कि राम को तो पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए बन जाना पड़ा था और वह भी एक निश्चित अवधि के लिए, परन्तु रत्नसेन तो स्वयं ही राज्य छोड़कर जा रहा है और कब लौटेगा, यह कोई नहीं जानता। इसलिए इसका प्रस्थान अधिक करुणाजनक है, परन्तु जायसी की लेखनी मानो इस दृश्य को अंकित करने में कुंठित सी हो गई है।

करुण का दूसरा दृश्य अंतिम है। इस दृश्य में जिस बात की आशंका भर थी, लगभग वैसे ही घटना चित्तौड़ में हो गई। पदूमावती और नागमती का सती होना गम्भीरता से भरा हुआ है, उनको संतोष है, शांति मिल रही है पति के साथ जलकर मिट जाने में। इस स्थान पर "दुख कर नाच" नहीं होता प्रत्युत 'पूनो ससि' के स्थान पर 'अमावस' हो जाती है; हाहाकार नहीं है, विलाप नहीं है, अभूषणों को नोचना नहीं है, एक निर्वेद जैसी भावना है, सूखी हँसी है, मानसिक शांति है—

सुरुज छपा रैनि होइ गई। पूनो ससि सो अमावस भई॥
छोरै केस मोति लर टूटी। जानहु रैनि नखत सब टूटी॥

× × × ×

सारस पंखि न जियै निनारै। हौं तुम्ह बिनु का जिऔं पियारै॥ (२९९)

पदूमावती के मानस में कितना करुणोत्पादक संतोष है, कितनी गम्भीरता है, वह मानो पूर्ण तपस्विनी है—

आजु सूर दिन अथवा, आजु रैनि ससि बूड़।
आजु नाचि जिउ दीजिउ, आजु आगि हम जूड़॥ (२९९)

इसी प्रकार 'नाचि कर' वे दोनों 'छार भई जरि' और सदा के लिए अस्त हो गईं—उनका आत्मोत्सर्ग प्रशंसनीय है। यही संसार की गति है। जो आता है वह अस्त होता है।[1]

जायसी ने इस वर्णन को यहीं छोड़कर भावुकता को बड़ा धक्का पहुँचाया है। यदि राजपूतों की आत्मोत्सर्ग-भावना और जायसी की आध्यात्मिकता, ये दोनों कारण हमारे सामने न होते तो हम जायसी के इस व्यवहार को काव्य की दृष्टि से सदोष ही कहते। इतने करुण दृश्य की इतनी अवहेलना!

१—राती पिउ के नेह गईं, सरग भएउ रतनार।
जोरे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार॥ (३००)

जायसी में करुण-रस की इतनी व्यापकता नहीं जितनी करुण की भावना की है। दुःखवाद हिन्दी-भक्ति-साहित्य की एक विशेषता है जिसमें संसार की अनित्यता, वस्तुओं की अस्थिरता, माया की मोहकता, आदि पर जोर दिया जाता है। 'प्रेम की पीर' वाले तो सदा ही करुण के आँसू ही बहाते रहते हैं। जायसी ने अनेक स्थलों पर सूक्तियों द्वारा, छोटे-छोटे वर्णनों द्वारा, दुःखवाद के लिए करुण की व्यंजना कराई है। पद्मावती का मायके जाना एक ऐसा ही दृश्य है। पद्मावती ने जब यह सुना कि उसे अब जाना है, तो—

गह बर नैन आए भरि आँसू। छाँडव यह सिंहल कैलासू॥
छाँड़िउ आपनि सखी सहेली। दूरि गवन तजि चलिउ अकेली॥
× × × ×
नैहर आइ काह सुख देखा। जनु होइगा सपने कर लेखा॥
राखत बारि सो पिता निछोहा। कित बिवाह अस दीन्ह बिछोहा॥
(१६७)

विदा के दृश्य को आध्यात्मिक पक्ष में मरण का दृश्य कह कर कवि ने उस समय, कितनी विवशता, कितना मोह और कितनी नश्वरता का अंकन किया है:—

रोवहि मातु पिता औ भाई। कोउ न टेक जौ कंत चलाई॥
रोवहि सब नेहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥
× × × ×
भरी सखी सब भेंटत हेरा। अंत कंत सौं भएउ गुरेरा॥
कोऊ काहू कर नाहिं निआना। मया मोह बाँधा अरुझाना॥
× × × ×
जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन अवगुन दोऊ॥ (१७०)

वस्तुतः समस्त घटना करुण की एक लम्बी कहानी है। जिस पुत्री को माता, पिता, भाई पालते हैं, प्यार करते हैं, वह जब बड़ी हो जाती है और अपने पति की आज्ञा से श्वशुर-गृह जाती है, तो कोई उसे रोक नहीं सकता; स्वयं ही वह अपना सारा नाता तोड़कर चली जाती है, कितनी परवशता है—"कोउ न टेक जो कंत चलाई!" जायसी सुन्दर उक्तियों की योजना से करुण-दृश्य के चित्रण में बड़े सिद्धहस्त हैं। रसोत्पत्ति में सहायक विभाव, अनुभाव, आदि की

कमी को आप वर्णन को रमणीय बनाने वाली उक्तियों से पूरा कर देते हैं और पाठक के हृदय पर उस दृश्य का चित्र अपनी गहराई के कारण जम जाता है।

वीर-रस

'पद्मावत' जिस श्रेणी का काव्य है उसमें वीर-रस का कोई विशेष स्थान नहीं होता, फिर भी वीरगाथा-काल की परम्परा के कारण तथा पद्मावती की कथा के ऐतिहासिक झुकाव के कारण कवि ने युद्ध-वीर का भी पर्याप्त वर्णन कर दिया है। यों तो रत्नसेन का गन्धर्वसेन से भी युद्ध हुआ था, किन्तु वहाँ देवताओं की इतनी अधिक सहायता मिल जाती है कि युद्ध में वास्तविक रोचकता नहीं दिखाई पड़ती :—

हस्ति के जूह आय अगसारी। हनुवंत तबै लंगूर पसारी ॥
जैसे सेन बीच रन आई। सबै लपेटि लंगूर चलाई ॥
बहुतक टूट भए नौ खंडा। बहुतक जाइ परे बरम्हंडा ॥ (११६)

अलाउद्दीन और राजपूतों के युद्ध में कवि ने युद्ध-वीर का थोड़ा सा सफल वर्णन किया है। राजा और बादशाह का युद्ध भी रुचिकर है और जैसा कि स्वाभाविक था बीभत्स वर्णन भी आ जाता है। किन्तु वहाँ बीभत्स केवल संचारी के रूप में आया है:—

भा संग्राम न भा अस काऊ। लोहे दुहुँ दिसि भए अगाऊ ॥
सीस कंध कटि-कटि भुँइ परे। रुहिर सलिल होइ सायर भरे ॥
अनंद बधाव करैं मसखावा। अब भख जनम-जनम कहँ पावा ॥
गिद्ध चील सब माँडा छावहि। काग कलोल करहि औ गावहिं ॥
जेहि जस माँसू भखा परावा। तस तेहि कर लेइ औरन्ह खावा ॥ (५३१)

युद्ध का वर्णन करते-करते कवि रुधिर के बहने और शीशों के कटने का दृश्य देखने लगा। पक्षियों का मडराना भी साधारण वर्णन है और अन्त में माँस न खाने की शिक्षा उस वर्णन में वीर-रस नहीं रहने देती। पहिले वीरत्व, फिर घृणा, फिर निर्वेद—यह अनेक भावों का संचरण है; रस का परिपाक नहीं। न शत्रु पर धावा, न मरते-मरते जान देना, न अतुलनीय साहस—वीर-रस का कोई साधन है ही नहीं।

गोरा के साथ जो युद्ध हुआ था उसमें रस-परिपाक की दृष्टि से कवि को अधिक सफलता मिली है। उसकी वीरता भी

अद्वितीय अंकित की गई है। वह साहसी है, शत्रु से घिरकर भी घबराता नहीं :—

सबै कटक मिलि गोरहि छेका। गूँजत सिंघ जाइ नहिं टेका॥
जेहि दिसि उठै सोइ जनु खावा। पलटि सिंघ तेहि ठाँव न आवा॥
तुरुक बोलावहिं बोलै बाँहा। गोरै मीचु धरी जिउ माहा॥ (२६१)

आगे भाट के द्वारा गोरा के इस अदम्य साहस और पराक्रम का परिचय दिलाया है :-

भाँट कहा—धनि गोरा, तू भा रावन राव।
आँति समेटि बाँधिकै तुरय देत है पाव॥ (२६२)

इस भाँति यद्यपि वीर-रस का वर्णन अधिक नहीं है, फिर भी रस की दृष्टि से हम उसे हेय नहीं कह सकते इसके संचारियों में बीभत्स और भयानक का वर्णन होना चाहिए था, उनमें से प्रथम तो है ही किन्तु दूसरा नहीं। संचारियों में आश्चर्य का भी अभाव है।

भयानक, रौद्र, आदि–

समुद्र-वर्णन में भय और अलाउद्दीन के पत्र को पाने के समय रत्नसेन की दशा-वर्णन में क्रोध भी मिलता है, किन्तु ये रस-दशा तक नहीं पहुँच पाए हैं। केवल भाव-मात्र बने रह गए हैं; इनका संचरण-भर है, परिपाक नहीं। 'पद्मावत' में गम्भीरता की मात्रा अधिक होने से हास्य-रस का नितान्त अभाव है; उसका संयोग इतना भी नहीं है जितना कि अद्भुत-रस का। वात्सल्य के लिए भी प्रस्तुत ग्रन्थ में स्थान न था, केवल रत्नसेन के योगी होने पर, पद्मावती के बिदा के अवसर पर तथा बादल के युद्ध-प्रयाण पर इसका आभास मिलता है। किन्तु कवि उसे करुण-रस की ओर ही ले गया है।

इस भाँति हम देखते हैं कि 'पद्मावत' में केवल शृंगार, करुण और वीर रस का ही परिपाक है, कुछ रस संचारियों के रूप में भाव बनकर ही रह गए हैं तथा हास्य का तो नितांत अभाव ही है। रस परिपाक की कमी का एक कारण तो यह है कि कवि अनुभावादि की योजना में कोई रुचि नहीं रखता, उसका वर्णन अभिधा द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा कम, और दूसरा कारण यह है कि कवि में अनुभूति की मात्रा इतनी अधिक और इतनी सीमित है—

केवल करुण तक व्यापक है कि उसे उसकी अभिव्यक्ति की चिन्ता कम रहती है। सारे वर्णन में मनोमोहकता और चमत्कार दोनों हैं तथा उक्तियाँ भी अधिक भावपूर्ण हैं। कवि ने 'सूर' के समान मानसिक विकारों के अन्त तक पहुँच नहीं दिखलाई और न उसमें सरस भावों की ही व्यंजना है।

किन्तु जायसी के वर्णन में एक चमत्कार अवश्य है। कुछ भावों का उत्कर्ष भी कवि में सर्वत्र पाया जाता है। कौतूहल का उदय स्वाभाविक और सुन्दर है। मानसरोवर में स्नान के लिये जाने वाली सखियों में शिशुता जन्य कौतूहल देखिये—

पदमावति कौतुक कहँ राखी। तुम ससि होहु तराइन्ह साखी॥
बाद मेलि कै खेल पसारा। हार देइ जो खेलत हारा॥
सँवरिहि साँवरि, गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्ह सो जोरी॥
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हार न होइ पराए हाथा॥
—पदमावत, पृ० २४।

इसी प्रकार लक्ष्मी-समुद्र-खण्ड से पहले बोहित के टूटने की घटना की भी योजना कौतूहल-बर्द्धक है—

केवट एक बिभीषन केरा। आव मच्छ कर करत अहेरा॥
लंका कर राकस अति कारा। आवै चला होइ अँधियारा॥
पाँच मूँड़, दस बाहीं ताही। दहि भा सावँ लंक जब दाही॥
पद्मावत, पृ० १७३।

पद्मावती के जन्मोत्सव का वर्णन भी उसी स्वाभाविक आनन्द और कौतूहल से किया गया है—

भै छटि राति छठीं सुखमानी। रहस कूद सौं रैनि बिहानी॥
उत्तिम घरीं जनम भा तासू। चाँद उआ भुइँ, दिपा अकासू॥
कन्या रासि उदय जग कीया। पदमावती नाम अस दीया॥
—पदमावत, पृ० १६।

बसन्त-वर्णन, पदमावती-विदा, आदि अवसरों पर भी इसी सामान्यता को लेकर वर्णन किया गया है। उस वर्णन में कोई नवीनता नहीं, एक यथार्थता, कौतूहल और चमत्कार है।

इस प्रकार रस की दृष्टि से यद्यपि हम जायसी को अधिक सफल नहीं कह सकते फिर भी उसकी भावुकता पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता। उसके वर्णन की स्वाभाविकता उनको मनोहर और मधुर बना देती है।

———

नवम अध्याय

सूफीमत

अंकुर

सूफीमत क्या है ?

प्रथम प्रश्न यह है कि सूफीमत कोई धर्म है अथवा किसी दर्शन विशेष की पद्धति का नाम है ? कुछ विवेचकों की सम्मति में यह दर्शन से परिप्लावित विश्वास पूर्ण धर्म है; यह हृदयान्दोलित धर्म है। वस्तुतः सूफीमत मनुष्य के मस्तिष्क को समझने की गवेषणा है। एक प्रकार से यह दर्शन से उच्च भूमिका पर स्थिति है। सूफी दर्शन की सहायता से भरसक आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है, तदनन्तर विश्वास और प्रेम के पखों पर उड़कर प्रियतम का सानिध्य प्राप्त करता है।[1] वस्तुतः प्रत्येक धर्म में किसी न किसी अंश में रहस्य-भावना निहित है। इस्लाम की इस रहस्य-भावना को अँगरेजी में फारसी मूलक शब्द 'सूफी-इज्म' से संकेत करते हैं। हिन्दी में इसका नाम 'सूफीमत' समीचीन है। तथा अरबी भाषा में तो इसको 'तसव्वुफ' कहते ही हैं।

सूफी का अर्थ

सूफी शब्द वस्तुतः अरबी शब्द 'सूफ' से बना है, जिसका अर्थ ऊन (पश्म, ऊंट की ऊन तथा बालों का कपड़ा) होता है।[2] अतः सूफी का अर्थ हुआ ऊनी अथवा बालों का कपड़ा धारण करने वाला। इसी से फारसी में सूफियों को 'पश्मीना पोश' भी कहते हैं। कुछ विद्वानों के विचार से यह शब्द यूनानी शब्द 'सोफस' (साधु) से संबंधित है।[3] तथा कुछ अन्य विवेचकों की सम्मति है कि यह शब्द 'सुफ्फा' (चबूतरा) से बना है जो मक्का में काबे के सन्निकट

१—मौ० इरशाद अली : सूफी इज्म अथवा मुहम्मडन मस्टीसिज्म, माडर्न रिव्यू, नवम्बर, १६१० ।

२—नूरुल्लुगात, चतुर्थ भाग, पृ० ४९७ ।

३—इंगलिश एन्साइक्लोपीडिया में 'सूफी' पर लेख ।

है। अतः जो फकीर उस स्थान पर बैठकर रात दिन निराहार रहकर ईश्वरोपासना में संलग्न रहा करते थे, सूफी कहलाये। अथवा यह शब्द 'सफा' (हार्दिक विमलता) का द्योतक है जो किसी सच्चे पीर (गुरु) के अनुसरण से प्राप्त होती है। इस प्रकार इस शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ कुछ भी रहा हो, परन्तु सम्प्रति इसका प्रयोग यथार्थतः मुस्लिम साधु के लिए नियत सा हो गया है,[1] जिसका विमल हृदय संसार से विरक्त हो,[2] परन्तु शरीयत (इस्लामी विधि-निषेध) का पाबंद हो।[3]

रहस्य-भावना का मूल—

मनुष्य अपने चारों ओर प्रकृति का आकर्षक सौन्दर्य पाता है और देखता है उनमें परिवर्तन। वह छोटे छोटे बालकों से स्नेह करता है, युवक-युवतियों से प्रेम करता है, गुरुजनों पर श्रद्धा और भक्ति करता है, परन्तु देखता है उनका अवसान। सारांश यह है कि वह जिस वस्तु, प्राणी आदि के सामीप्य से सुख अनुभव करता है, उसके अभाव में उसको दुःख होता है। इस प्रकार उसको संसार की असारता प्रतीत होती है। उसे आकर्षक जगत से विरक्ति हो जाती है। वह असार (फना) से शाश्वत (बक़ा) की ओर अग्रसर होता है। साथ ही वह पाता है विश्व में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति, सन्नियमन की सुन्दर योजना तथा परिवर्तन का रहस्यमय विधान। अतः उसका ध्यान बरबस उस विधायक शक्ति की दया, दाक्षिण्य एवम् प्रीति की ओर आकृष्ट हो जाता है। इस प्रकार समस्त धार्मिक भावनाओं का विकास हुआ है और प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति में थोड़ा बहुत रहस्योद्रेक अवश्य होता है।[4]

१—भारत में कुछ ऐसे हिन्दू साधु भी हैं जो लगभग भारतीय सूफियों की पद्धति पर ईश्वर सानिध्य प्राप्ति का प्रयत्न करते हैं तथा वे सूफी ही कहलाते हैं।

२—'He that is purified by love is pure, and he that is absorbed in the beloved and has abandoned all else is a Sufi'

—कश्फ-अल-महजूब, पृ० ३८।

३—नूरुल्लुगात, चतुर्थ भाग, पृ० ४९७।

४—प्रोफेसर प्राट : रिलीजियस कान्सशनेस—

'All religious people have at least a touch of mysticism.'

अन्य आन्दोलनों की भांति धार्मिक आन्दोलन भी आवश्यक परिमार्जन के साथ अपने से पूर्ववर्ती रीति, व्यवहार, आचार और विश्वासों पर आश्रित होता है। मुहम्मद साहब अपने पूर्ववर्ती पैग़म्बरों—मूसा, दाऊद और मसीह का सम्मान करते थे और उनकी पुस्तकों—तौरेत, जबूर और इंजील को प्रतिष्ठा करते थे।[1] इस प्रकार उनकी उदारता एवम् सदाशयता ने इन सब का आभार स्वीकार किया है। अतः यह निर्विवाद तथ्य है कि इन सब मतों का और इनको प्रभावित करने वाले अन्य मतों का इस्लाम पर कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। तथा एक और सज्जन का कथन कि 'आदम-काल में सूफीमत का बीज-वपन, नूह में अंकुर, इब्राहीम में कली तथा मूसा में फलागम हुआ। ईसा में वे फल परिपक्व हुए तथा मुहम्मद साहब ने उससे आसव मदिरा) तैयार की'[2] भी उसी तथ्य का उद्घाटन करता है। तथा कुछ विद्वानों का विचार है कि सूफ़ीमत को प्रभावित करने वाले बाह्यमतों में सब से प्रमुख भाग सम्भवतया नव-अफलातूनी मत का है।[3]

चाहे सूफ़ीमत पर अधिक प्रभाव ईसाई आदि मतों का हो, नव अफलातूनी मत का हो, किंवा एसीन सम्प्रदाय का हो, विचारणीय प्रश्न यह है—क्या इस मत पर भारतीय विचार धारा का भी कुछ प्रभाव है? इस प्रश्न पर तिलक[4] और बसु[5] महोदय तथा बेल,[6] गाडर्ड,[7] हापकिन्स[8] आदि विद्वानों ने बड़ी गम्भीरता

१—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ६० ।

२—ग्रेसिन दी तासी : अत्तार की मुंत्तकित्तुर के अनुवाद की भूमिका—

"The seed of Sufism were sown in the time of Adam, germed in that of Noah, budded in that of Abrahim, and the fruit commenced to be developed in that of Mosses. They reached their maturity in that of Christ and in that of Mohammad produced pure wine."

३—एवरीमैन्स ऐनसाइक्लोपीडिया, भाग १२, पृ० ५४।

४—बाल गंगाधर तिलक : गीता-रहस्य, पृ० ५६२-६३ ।

५—बसु : दी सोशल हिस्ट्री ऑव कामरूप, प्रथम भाग, अध्याय २ ।

६—बेल : दी ओरीजिन ऑव इस्लाम, पृ० ३०-३१ ।

७—गाडर्ड : वाज जीसस इन्फ़्ल्यूएन्सड बाई बुधिज्म, पृ० ११४ ।

८—हापकिन्स : दी रिलीजन्स ऑव इण्डिया ।

से परिशीलन किया है। गार्डर्ड महोदय का निर्णय है कि "एसीन सम्प्रदाय का यदि तीन चौथाई बौद्धमत का प्रसाद है तो एक चौथाई यहूदियों का"[1] ईसा मसीह ने भारत-यात्रा की अथवा नहीं, इस विवाद को छोड़ देने पर भी ईसा पर आर्यों का प्रभाव भी सब को मान्य है। सिकन्दर के भारत-आक्रमण के समय में ही यूनान भारत के सम्पर्क में आकर यहाँ के दर्शन से प्रभावित हो चुका था। अफ्लातून तथा पायथोगोरस पर यहाँ का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अतः नव-अफ़लातूनी मत भी भारतीय प्रभाव से अछूता नहीं है। अस्तु सूफ़ीमत पर भारतीय विचार-धारा—विशेषतः बौद्धधर्म—का प्रत्यक्ष किंवा अप्रत्यक्ष प्रभाव निर्विवाद है। किन्तु वस्तुतः सूफ़ीमत के वर्तमान रूप का आदि कारण मुहम्मद साहब तथा कुरान ही हैं, और इसकी जन्मभूमि अरब देश है।[2]

अन्य नाम—

सूफ़ी को 'सालिक' भी कहते हैं, जिसका अर्थ होता है—अध्यात्म-पथ की ओर अग्रसर होने वाला। जब सूफ़ी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कर लेता है—मारिफ़त का अभ्यस्त हो जाता है, तब वह 'आरिफ़' कहलाता है। विशेष पहुँचे हुए सूफ़ी पीर को 'वली' (बहुवचन 'औलिया') कह कर सम्बोधित करते हैं। तथा 'फ़कीर'[3] तो समस्त साधुओं के लिए साधारणतया प्रयुक्त किया हो जाता है।

रसूल का सूफ़ीपन—

मुहम्मद साहब रसूल अल्लाह बनने से पूर्व भक्त थे; सूफ़ी थे—भावावेश में रहस्योन्मुख हो जाते थे। आयशा के कथनानुसार 'मुहम्मद

१—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफी मत, पृ० २३६।

२—जे० सी० आर्चर : मिस्टीकल एलीमेंट्स इन मुहम्मद—

"Greek and Percian and the Buddhist waters have joined the stream of the mystic current in Islam, and swelled it, but it rose first of all out of the deserts of Arabia, not a mirage but a bubbling spring, a Mohammadan origin the experience of the Prophet himself."

३—फ़कीर का शब्दार्थ है विरक्त। वह व्यक्ति जो कुरान की ३६-१३ आयत 'अलफ़ख़र फ़क़ीरी'—ग़रीबी पर फ़ख्र करने वाला हो।

साहब हेरा पर्वत की एकान्त गुफा में रात्रि की निस्तब्धता में ईश्वर-सानिध्य का अभ्यास किया करते थे।"[1] यहीं पर उनको प्रकाश प्राप्त हुआ था—ईश्वरीय आदेश (वहियाँ) प्राप्त हुए (नाजिल हुई) और इसी कारण इस पर्वत का नाम 'जबल-उन-नूर' प्रख्यात हुआ।[2]

चंचल चित्त की वृत्तियां को एकाग्र करने के लिये अनेक साधन करने पड़ते हैं जिनमें से आसनों का स्थान भी प्रमुख है। इनसे शरीर स्वस्थ रहता है तथा अभ्यास की क्षमता बढ़ती है। मुहम्मद साहब भी किसी विशेष प्रकार से बैठकर (किसी विशेष आसन अथवा योग मुद्रा से) अपना अभ्यास किया करते थे, यह तो निर्विवाद है। किन्तु वह विशेष मुद्रा क्या थी उसे इस समय कोई नहीं जानता। हाँ. इतना अवश्य निश्चित है कि वह मुद्रा साधारण नमाज की मुद्राओं से भिन्न थी।

इस गुह्य-विद्या को मुहम्मद साहब ने सब पर प्रकट नहीं किया था। प्रवाद है कि इसका रहस्य केवल हजरत-अली को बतलाया था। परन्तु डॉ० ऑब्सन का मत है कि हिजरी सन् की प्रथम शताब्दी ही में मक्के के ४५ व्यक्तियों ने तथा मदीने के ४५ व्यक्तियों ने अपने अपने संघ स्थापित कर इसका अभ्यास प्रारम्भ कर दिया था। एक के नायक अबूबकर थे और दूसरे के अली।[3] अबूबकर

१—जे० सी० आर्चर : मुहम्मद्स प्रेक्टिस ऑव मिस्टीकल।

२—ए० यूसुफ अली : दी होली कुरान। भूमिका, पृ० ६ तथा फुटनोट—

The Mount Hirra, henceforth known.
As the Mountain of light.* (* Jabal-un-noor)
X X X
And behold ! a dazzling.
Vision of beauty and light-over powered his senses
And he heard the word "Iqraa, पृ० ८३।

नोट—परन्तु कुछ विद्वानों का विचार है कि मुहम्मद साहब को ईश्वर-दर्शन एक किशोर के रूप में हुआ था—
Stuies in Islamic Mystricism.

3—These (Abu-Bakar and Ali) called themselves safa-bashis to indicate the purity of their lives—
—Mysticism and Magic in Turkey, पृ० १।

ने सलमन फारसी को तथा अली ने हसन बसरी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था।[१] इस प्रकार इस रहस्य सम्प्रदाय में गुरु-परम्परा विकसित हुई। परन्तु 'नफाहत-उल-उन्स' में जामी ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि ईस्वी सन् की आठवीं शती के उत्तरार्द्ध में कूफा निवासी अलजुराई के पुत्र अबूहाशिम ने सर्व प्रथम अपने लिये सूफ़ी शब्द का प्रयोग किया था।[२]

रूपरेखा—

सफीमत के अंग-प्रत्यंग के पूर्ण विवेचन से पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि सूफ़ीमत की एक स्थूल रूपरेखा पर थोड़ा सा विचार कर लिया जावे। यों तो सूफीमत बहुत कुछ ईरान का ही प्रसाद है और वहीं के साहित्य से उसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट हुये हैं। परन्तु अपने प्रकृत रूप में यह प्रेम-मार्ग है। जीव ईश्वर का ही अंश है। वह उस अनंत से डरता नहीं है सत्कार भी नहीं करता; पूजा भी नहीं करता केवल प्रेम करता है और चाहता है उसका सामीप्य, सान्निध्य, 'दीदार' चाहें तो भारतीय दार्शनिक बोली में इस पद्धति को माधुर्य अथवा मादन भाव की भक्ति कह सकते हैं। सूफ़ी बाह्याचार पसंद नहीं करता। वह किसी धार्मिक ग्रन्थ अथवा रीति का भी कायल नहीं है, वह सबको एक दृष्टि से देखता है, सबसे सहानुभूति रखता है। अब्दुल हसन मुहम्मद-इब्न-अहमद-अल फारसी के अनुसार सूफी के दस व्रत हैं सम्बन्ध-विच्छेद, श्रवण शक्ति की यथार्थता, मैत्री, पूर्व व्यवस्था की सुविधा, स्वेच्छा का परिहार, भावोन्माद की प्रचुरता, विचारों का रहस्योद्घाटन, पर्यटन-प्रियता, भावावेश का प्रस्फुटन तथा परिग्रह वृत्ति का निरोध[३] परन्तु वह स्वभावतः

१—माडर्न रिव्यू—फर्वरी सन् १९४७ ई०, पृ० १३५।

२—ग्रेसिन दी तासी : अत्तार की मुंत्तकितुर के अनुवाद की भूमिका।

3. "The elements of Sufism are ten in number. The first is isolation of unification; the second is the understanding of audition; the third is good fellowship; the fourth is preference of preparing; the fifth is yielding up of personal choice; the sixth is swiftness of ecstasy; the seventh is revelation of the thoughts; the eight is abundant journeying; the ninth is the yielding up of ecstasy; ths tenth is the refusal to hoard."

—Docttine of the Sufism, Page 78.

धार्मिक प्रतिबंधों का बागी होता है। कुछ विद्वानों का तो निष्कर्ष है कि "सूफीमत इस्लामी विधानों की प्रतिक्रिया का परिणाम है।"[1] ईश्वर के वियोग में वह दिन रात तड़पता है, उसको प्रत्येक वस्तु उसी के वियोग में जलती हुई दिखाई देती है। अतएव वह उस समय की बड़ी लालसा से प्रतीक्षा करता है जब 'प्रियतम' का दीदार नसीब होगा—वह मृत्यु के आलिंगन को सदैव उतावला रहता है।

—❀—

विकास

इस्लाम का प्रसार—

मुहम्मद साहब का विश्वास था कि ईश्वर प्रत्येक जाति को उसी की भाषा में अपने आदेश की किताब भेजता है।[2] अतएव अरबी भाषा में उतरी हुई कुरान का उपयोग वस्तुतः अरब देश के लिए ही होना चाहिए था।[3] किन्तु इस्लाम में विजय का उल्लास और उन्माद बढ़ा और अरबेतर देशों में भी इस्लाम शक्ति के बल पर फैलाया गया। इन विजयों का विवरण हमारा लक्ष्य नहीं है। हम केवल इस्लाम के धार्मिक साहित्य के विकास पर संक्षेपतः विचार प्रस्तुत करेंगे।

कुरान—

कुरान की आयतें मुहम्मद साहब पर २३ वर्ष के लम्बे अर्से में धीरे-धीरे 'नाजिल' हुई। मुहम्मद साहब भावावेश में उनका पाठ करते थे और वे लेख बद्ध करली जाती थीं। ये आयतें आवश्य-

१—एवरी मैन्स एन्साइक्लोपीडिया, भाग १२, पृ० ५४।

२—"और जो रसूल जिस कौम में भेजा गया है, वह उसी कौम की जुबान में पैग़ाम देकर भेजा गया है, ताकि उन्हें साफ-साफ समझा सके।—१६ अध्याय की १३ वीं आयत गीता और कुरान, पृ० १९३।

३—"अल्लाह ने तुम्हें (रसूल-अल्लाह को) कुरान अरबी जुबान में इस लिए दिया है ताकि तुम खास शहर मक्का और उसके आस-पास के लोगों को आगाह कर सको।"
—४२ अध्याय की ७ वीं आयत—गीता और कुरान पृ० १६८।

क्रमानुसार अनुभव होती रहीं तथा आवश्यकता न रहने पर कुछ आयतें मंसूख भी करदी जाती थीं। मनुष्य जिन बातों को न समझ पाते थे उनका स्पष्टीकरण रसूल साहब कर दिया करते थे। कुरान की एक विशेषता है। वह यह कि "धार्मिक ग्रन्थों में कुरान क्षेपकों से बहुत सुरक्षित है। तृतीय खलीफ़ा उसमान ने चाहे उसमें कुछ परिवर्तन किया हो, पर उसके उपरान्त कुरान का रूप स्थिर और व्यवस्थित हो गया।"[1]

हदीस—

मुहम्मद साहब की मृत्यूपरान्त लोगों को कुछ परेशानी अनुभव हुई। अब यदि कुरान में कोई विवादग्रस्त पद आता अथवा वह अस्पष्ट प्रतीत होता, तो उसका स्पष्टीकरण कैसे हो ? स्वाभाविक ही था कि वे उन व्यक्तियों के पास जाते जो मुहम्मद साहब के साथ रह चुके थे। उन्होंने जो कुछ रसूल साहब से सुना था उसके सहारे वे उन गुत्थियों को सुलझा देते थे। यह व्यक्ति 'असहाब' कहलाए। इनकी संख्या तो अधिक थी, किन्तु विश्वसनीय केवल दस असहाब समझे गए और उनकी बातों को भी लेखनी बद्ध कर लिया गया।

कुछ समय उपरान्त 'असहाब' भी संसार में न रहे। फिर वही परेशानी सामने आई। इस बार कुछ वृद्ध व्यक्तियों ने, जिन्होंने मुहम्मद साहब का सत्संग तो न किया था, परन्तु 'असहाब' के सम्पर्क में आ चुके थे, उन शंकाओं का समाधान किया। ये व्यक्ति 'ताबईन' कहलाए।

'असहाब' और 'ताबईन' के स्पष्टीकरण का नाम 'हदीस' हुआ। परन्तु कुछ स्वार्थी मनुष्य अनृत हदीस गढ़ने लगे। अतः उनकी संख्या बढ़ने लगी। फलतः 'असहाब' की संख्या दस ही मान्य हुई और 'ताबईन' की क्रम-बद्ध सूची तैयार की गई और इसी सिलसिले के अनुसार 'हदीस' मान्य ठहराई गईं।

तफ़सीर—

अब 'असहाब' और 'ताबईन' के अभाव में आवश्यक हो गया कि कुरान की आयतों का हदीस के अनुसार स्पष्टीकरण सर्व-

१—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ३६।

साधारण को सुलभ होना चाहिए। अतः कुरान की टीकाएँ चलीं जो तफसीर कहलाईं। जैसे-जैसे अरबी भाषा और अरब लोगों के विषय में ज्ञान की वृद्धि होती गई, तफसीर का क्षेत्र भी बढ़ता गया।

ईरान से सम्पर्क—

इस समय तक अरबों ने ईरान विजय कर लिया था। ईरान की संस्कृति अरब की संस्कृति से प्राचीन एवम् अत्यधिक उन्नत थी। तलवार के समक्ष ईरान ने इस्लाम स्वीकार तो अवश्य किया, परन्तु इस्लाम को अपनी सभ्यता एवम् संस्कृति के ढाँचे में ढाल दिया। इस प्रकार "ईरान को जीत कर इस्लाम स्वयम् ईरानी बन गया।[1] तथा "संस्कृति की दृष्टि से अरब ईरान के विजयी भृत्य बन गए"।[2]

यह युग इस्लाम में अब्बासियों का युग था। उनके विद्या-प्रेम के फलस्वरूप बगदाद विद्या का केन्द्र बन गया था। यूनान तथा भारत के अनेक विद्वान् आमंत्रित किए गए और वहाँ के अनेक दार्शनिक और धार्मिक ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद कराया गया। इस प्रकार इस्लाम को अन्य देशों के धर्म, दर्शन तथा काव्य से परिचय हुआ और इस्लाम में चिन्तन का श्री गणेश हुआ।

अब तक कुरान की जो कुछ आज्ञा थी वह बिना बुद्धि-संयोग के मान्य थीं। कभी-कभी स्पष्टीकरण के लिए 'हदीस' का आश्रय ले लिया जाता था। किन्तु अब कुरान की आयतों का स्पष्टी-करण दार्शनिक विवेचन के आधार पर होने लगा जो 'इल्मुल-अकायद' कहलाया। तथा उन आयतों में सहज ज्ञान के आधार पर भावापन्न, आध्यात्मिक रहस्य खोजे जाने लगे जो 'तावील' के नाम से प्रख्यात हुए। परन्तु जब तावील लेखक सीमोल्लंघन कर मनमाने ऊटपटाँग अर्थ लगाने लगे तो धर्म-शास्त्रियों (उलेमा) ने उनका विरोध किया।

सारांश है कि ज्यों-ज्यों इस्लाम में ज्ञान और चिन्तन का क्षेत्र बढ़ता गया, इस्लाम के अनुयायियों में विभेद होते गए। शिया.

१—चन्द्रबली पाण्डेय: तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ३७।
२—वही, पृ० ४५।

सुन्नी, खारिजी, मोतजिला, मुर्जी, कादिरी, सूफी आदि सम्प्रदाय सभी उस स्वतंत्रचिन्तन का प्रसाद हैं। परन्तु सभी अल्लाह, रसूल, कुरान (हदीस तथा सुन्ना[1] सहित) पर विश्वास करते हैं तथा नमाज, जकात, रोजा और हज्ज पर आचरण करते हैं। सूफ़ियों को भी यह सब बातें मान्य हुई—इनके न मानने से उनका जीवन संकट में पड़ता था। परन्तु अपनी मधुकरी वृत्ति के सहारे अपने अनुकूल वाक्य कुरान से खोज कर अपने सिद्धान्तों की साक्ष्य इस्लाम द्वारा प्रस्तुत करते थे।

अस्तु स्वतंत्र-चिन्तन के साथ-साथ इस्लाम में हृदय की उदात्त वृत्तियों को स्फुरण का अवसर प्राप्त हुआ। अनुकूल वातावरण में सूफीमत का अंकुर फैल-फूट निकला। परन्तु इस्लाम का सदैव भय बना रहता था। अतएव इन लोगों ने इस्लाम की चाशनी में लपेटकर तसव्वुफ वटी को प्रथम गिने-चुने व्यक्तियों में और तदुपरान्त सव साधारण में वितरण कर दिया। जिन सूफियों ने परम के प्रेम में अधिक मस्ती दिखलाई, अधिक स्वच्छंदता से कार्य लिया, वे मंसूर की भांति उलेमा की आज्ञा से सूली पर लटका दिए गए। इनके बलिदानों से सूफीमत को पोषक तत्व प्राप्त हुए। इस प्रकार सूफीमत को दिनों-दिन सफलता मिलती गई।

संस्थापक—

सूफीमत के इतिहास में हसन बसरी का बड़ा महत्व है। वह सच्चा जिज्ञासु था। उसका जीवन साधु जीवन था। 'वह प्रेम का पुजारी नहीं, सद्भावों का विधायक था'।[2] प्रेम का स्वच्छ स्रोत बहाने वाली राबिया बसरी (मृ० सं० ८०६) थी। वह अपने को परमात्मा की प्रिय दुलहिन समझती थी। चाहें तो उसे बसरा की 'मीरा' कह सकते हैं। 'प्रेम का पुनीत परिचय, भावना का दिव्य दर्शन, मुहम्मद की मधुर उपेक्षा, कामना का कलित कल्लोल, वेदना का विपुल विलास आदि सभी गुण राबिया के रोम-रोम से प्रेम का आर्त्तनाद कर रहे हैं। उसका जीवन परमेश्वर के प्रेम से

१—सुन्ना वह ग्रन्थ है जिसमें मुहम्मद साहब के क्रिया-कलापों का विस्तार-पूर्वक वर्णन है।

२—चन्द्रवली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ४३।

आप्लावित था"।[1] परन्तु उसे सदा भय बना रहता था कि उसके कार्य-कलाप से रसूल की अवहेलना हो रही है। अतः उसने प्रार्थना की—

'गुफ्तम या रसूल अल्लाह कि बूअद तुरा दोस्त न दारद। लेकिन मुहब्बते हक़ मरा चुनां फरो गिरिफता कस्त कि दुश्मनी व दोस्ती ए ग़ैरे उरा दर दिलम जाय न मांदा मस्त।"[2]—तज़किरा-तुल औलिया, पृ० ४६।

तत्पश्चात् मिश्र का जुलनून (मृ० ८१६) प्रेम-पथ पर अग्रसर हुआ। उसने प्रेम को प्रतीक प्रमाणित कर दिया तथा पीरी-मुरीदी पर भी विशेष जोर दिया। उसकी स्वतन्त्र प्रकृति इस्लाम को सहन न हुई। अस्तु उसको जिन्दीक[3] की उपाधि दी गई और कृष्णागार का आतिथ्य प्राप्त हुआ।

यजीद (मृ० ८३१) एक पारसी संतान था। उसने अपने पूर्व पुरुषाओं की अक्षय विचार-निधि उत्तराधिकार में प्राप्त की थी। उसने तसव्वुफ में अद्वैत भावना स्थापित कर दी और देखा कण-कण में उसी का जल्वा। उसी की कृपा से प्रेम-प्याला चल निकला। उसने यह भी घोषणा की 'जो व्यक्ति गुरु नहीं बनाता, उसका इमाम शैतान होता है'।[4] इस प्रकार गुरु-भक्ति को विशेष समर्थन मिला। इसी समय मुसाहिबी बसरी ने कहने के अतिरिक्त तसव्वुफ पर कुछ लिखा भी जो आगे के सूफी आचार्यों के लिए पथ-प्रदर्शक बना।

परन्तु सूफीमत का शिरोमणि, तसव्वुफ का प्राण, अद्वैत का आधार, शहीदों का आदर्श सचमुच हल्लाज ही था। हल्लाज का

१—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ४४।

२—'ऐ रसूल! ऐसा कौन है जिसे आप प्यारे न हों। लेकिन मेरी दशा दूसरी है। मेरा हृदय परमात्मा के प्रेम से इतना भरा हुआ है कि उसमें अन्य की मित्रता किंवा विद्वेष के लिए स्थान नहीं है।

३—जिन्दीक का शब्दार्थ है अधार्मिक तार्किक। मूलतः यह फारसी शब्द है जो अरबी भाषा में सम्मिलित हो गया है। प्रथमतः इसका अर्थ व्याख्याता था, किन्तु बाद में अवांछनीय अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।
—इस्लामिक सूफीइज्म, पृ० २७०।

४—चंद्रबली पाण्येय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० २१।

प्रचलित नाम मंसूर है। मंसूर का 'अनल्हक़' सूफ़ी-मत की पराकाष्ठा ही नहीं परमगति भी है। यह उद्घोष हल्लाज की स्वानुभूति का प्रसाद है, किसी कोरे उल्लास का उद्भाव नहीं।[1] उसी ने सर्व प्रथम 'अनल्हक' की घोषणा की। उसके सिंहनाद से इस्लाम थर्रा गया और उसको मिटा देने ही में अपनी खैर समझी। हल्लाज हँसते-हँसते प्रीतम के दीदार के लिये सूली पर चढ़ गया। परन्तु उसका गुरु जुनैद सूफी होते हुए भी मुल्लाओं तथा काजियों द्वारा सम्मानित था। कारण यह था कि वह बाहर से कट्टर मुस्लिम बना रहता था और गुप्त रूप से गुह्य-विद्या का प्रचार करता था। वह चतुर था, अवसर देखकर काम करता था। वस्तुतः जुनैद और उसके प्रिय शिष्य के सिद्धान्तों में कोई बिभिन्नता न थी।

अबू सईद (मृ० ११०६) ने सूफीमत को सर्वजनीन बनाने में महत्व पूर्ण योग दिया। उसने स्पष्ट कर दिया कि सूफीमत का मूलाधार पीर है, तथा हज्ज की अवहेलना कर पीरों की समाधि को उसने हज्ज माना। वह भावुक प्रचारक था और कुरान की व्याख्या करते करते आनन्द-विभोर हो उठता था।

इस प्रकार अनेक सूफी फकीरों के प्रयत्न स्वरूप सूफीमत के अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो चले थे। जनता में उसकी प्राण-प्रतिष्ठा स्थापित हो चुकी थी। कारावास की यातनाओं तथा प्राण-दण्ड की कठोरताओं को सूफी हँसते-हँसते सहन कर रहे थे और अपने क्रियात्मक प्रयोगों द्वारा अपने सिद्धान्तों की सत्यता का प्रदर्शन कर रहे थे। जनता भाव की भूखी होती है। उसका हृदय-सागर सूफी-राकेश की शुभ्र ज्योत्सना के विमोहक सौन्दर्य से उमड़ पड़ा। वे जनता द्वारा समादृत हुये। उनकी समाधियों पर भी जाकर उनके संतप्त हृदय को सान्त्वना प्राप्त होती थी।

आचार्य

इसी समय सूफी मनीषियों का ध्यान सूफी विचारधारा और उसके दार्शनिक एवम् तात्त्विक विवेचन की ओर गया। मुसाहिबी ने पथ प्रदर्शन कर ही दिया था। यजीद और जुनैद ने भी कुछ निबंधों में तसव्वुफ के सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला था। हल्लाज ने

१ — चन्द्रवली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ५१।

भी अपनी पुस्तक 'किता बुलतवासी' में सूफीमत का वर्णन किया था। परन्तु सच्चे अर्थों में अभी आचार्य-कम शेष था। फराबी (मृ० १००७) ने कुरान एवम् दर्शन का समन्वय कर सूफीमत का मार्ग स्वच्छ करने की चेष्टा की किन्तु तो भी सूफीमत को इस्लाम की पक्की सनद न मिल सकी।

इस्लाम और तसव्वुफ़ के वैमनस्य को मिटाने का पुण्य कार्य इमाम गज्जाली (मृ० ११६८) ने किया। उसके सद् प्रयत्नों से तसव्वुफ इस्लाम का जीवन और इस्लाम तसव्वुफ का सहायक हो गया। यद्यपि, वस्तुतः वह तर्क-वितर्क का प्रेमी न था, उसको व्यर्थ समझता था, तथापि वह 'हुज्जतुल-इस्लाम' की उपाधि से विभूषित हुआ। उसने समझाया कि आदम में अल्लाह ने अपनी रूह फूकी थी। अतएव आदमी की रूह उसी परमात्मा का अंश है। हदीस भी है—जो अपनी रूह को जानता है वह परमात्मा को भी जानता है। इस प्रकार यदि सूफी अपने को अनल्हक़' कहे तो उचित ही है और उसकी यह घोषणा इस्लाम के प्रतिकूल कदापि नहीं है। मुहम्मद साहब भी पैगम्बर बनने से पूर्व सूफी थे। परन्तु उसने आदेश किया कि गुह्य विद्या को गुप्त ही रखना चाहिये। योग्य अधिकारी पर ही इसका रहस्य प्रकट करना चाहिए। इस प्रकार उसने इस्लाम में धर्म, दर्शन समाज तथा भक्ति भावना का समन्वय कर दिया और उसकी कृपा से तसव्वुफ इस्लाम को मान्य हुआ। उसकी पुस्तक 'इहयाय उलूमु द्दीन में वास्तव में सूफीमत का बड़ा विषद विवेचन है। प्रत्येक विचारशील मुस्लिम पर इस पुस्तक का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ा है। श्री मैकडानल्ड के शब्दों में तो सभी विचारशील मुसलमान सूफी हैं।[२]

इमाम गज्जाली के पश्चात् इब्न-अरबी सूफी शास्त्र का विशेष विवेचक हुआ। उसने 'फतूहात मक्किया और 'फुसूसुल हिकम' में बड़ी गम्भीरता के साथ सूफीमत का विवेचन किया है। उसके दार्शनिक विवेचन से वह अद्वैतवादी प्रतीत होता है। इब्न-अरबी के पश्चात् जिली ने अपने 'इंसानुलकामिल' निबंध में बहुत कुछ गज्जाली के ही पक्ष का समर्थन किया है।

१—भारतीय अहम्ब्रह्म और तत्वमसि के अरबी रूपान्तर 'अनल्हक' और हुमाहस्त होते हैं।

२—मैकडानल्ड : एसपेक्टस ऑव इस्लाम, पृ० ११६।

इन सूफ़ी आचार्यों के अतिरिक्त कुछ सूफ़ी कवियों ने भी अपने सरस काव्यों में सूफ़ीमत की व्याख्या की है। मौलाना रूम की मसनवी बड़े रोचक और आकर्षक ढंग से सूफ़ीमत का विवेचन प्रस्तुत करती है। उसमें कुरान का सार और तसव्वुफ़ का सर्वस्व है। "इस्लाम में जो मर्यादा कुरान की है, तसव्वुफ में वही प्रतिष्ठा मौलाना रूम की मसनवी की है।"[1] अत्तार ने भी मौलाना के अनुसरण पर "मुंतिकुत्तैर" मसनवी लिखी।

मसनवी में कथानक के आधार पर सूफीमत का विवेचन किया गया है, परन्तु हृदयोल्लास से छलकते हुये छोटे छोटे सरस गजलों में भी सूफी अपने हृदयोद्गारों को व्यक्त करना भूले नहीं हैं। हाफ़िज और फारिज के गजलों को सुनकर प्रेमी हृदय तड़प उठता है। उनमें सूफीमत की झलक ही नहीं है वरन् उसका स्पष्ट प्रतिपादन है। उमर खय्याम ने वही कार्य अपनी सरस रुबाइयों द्वारा किया, जिनके आकर्षण से पश्चिम आश्चर्य चकित हो उठा था।

दार्शनिक दृष्टिकोण

इस प्रकार सूफी आचार्यों तथा कवियों ने अपने मत का परिशीलन एवं विवेचन दार्शनिक-आधार पर किया। स्वतन्त्र-चिन्तन तो इस्लाम में सूफियों की ही देन है। अस्तु सूफियों में भी कुछ विभिन्न दार्शनिक दृष्टिकोण हैं जिनकी ओर उपर्युक्त विवेचन इंगित करता है। संक्षेप में ईश्वर के विषय में सूफियों के पाँच मत हैं—

प्रथम—अधिकतर सूफी अत्तार के पक्ष का समर्थन करते हैं। उनका पक्ष है कि ईश्वर संसार के प्रत्येक कण में व्याप्त है, किन्तु वह संसार से परे और उत्तम है। ईश्वर सर्व भूतात्म (Immanent) तथा अतीन्द्रिय (Transendant) है।

द्वितीय—इब्न-अरबी के पक्ष की सम्मति है कि ईश्वर केवल संसार व्याप्त [Immanent) है। उसकी तीन दशाएँ हैं—(अ) आत्म तत्त्व, (आ) संसार, तथा (इ) पुरुषोत्तम। यह पुरुषोत्तम रूप अन्य दो रूपों के मध्य संयोजक है। अस्तु उसके विचार से ईश्वर और संसार एक ही हैं।

तृतीय—जिली-स्कूल का स्पष्ट निर्णय है कि ईश्वर तथा संसार

१—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १६६।

एक ही हैं। इनमें किसी प्रकार का विभेद नहीं है। अतः उसका पक्ष अद्वैतवाद है।

चतुर्थ—कलाबादी आदि कुछ सूफियों का पक्ष है कि ईश्वर संसार से अतिरिक्त अन्य है। दोनों में गुण भी एक नहीं है। अस्तु दोनों एक किस प्रकार हो सकते हैं।

पंचम—रूमी के पक्ष का कथन है कि ईश्वर इन दोनों सर्व-भूतात्म तथा अतीन्द्रिय से परे हैं। इन दोनों में से कोई भी उसका परिचय देने में समर्थ नहीं है। अतः वह कल्पनातीत और अवर्ण-नीय है।

ईश्वर के गुणों के विषय में भी सब सूफी एक मत के नहीं हैं। हल्लाज, इब्न-अरबी, जिली आदि का विचार है कि ईश्वर के दो पक्ष हैं—प्रथम, शुद्ध तत्व रूप है जो निर्गुण और निर्पेक्ष है। तथा द्वितीय, सगुण देवतत्व रूप है। मूलतः ईश्वर प्रथम रूप है, परन्तु बाद में गुणों का आरोप हो जाता है।

दूसरे पक्ष का निर्णय है कि ईश्वर कभी भी निर्गुण और निर्पेक्ष नहीं। वह पुरुषोत्तम में अपने स्वरूप की आभा पाता है।

इसी प्रकार ईश्वर-जीव के पारस्परिक सम्बन्ध में भी सूफियों के भिन्न विचार हैं—

१—हुजबीरी आदि नरम दल वादियों (Moderates) का कथन है कि जीव तथा ईश्वर अलग अलग हैं। अतः उनका संबन्ध सेवक तथा स्वामी का है।

२—अद्वैतवादी जिली का कहना है कि जीव तथा ईश्वर अलग अलग नहीं हैं। वे बर्फ और पानी की भाँति एक ही हैं। तथा संसार भी ईश्वर का विस्तार होने से ईश्वर की ही भाँति सत् है।

३—कुछ (शाविस्तरी आदि) सूफियों के विचार में न केवल ईश्वर तथा जीव का एकत्व है, अपितु संसार केवल असत् है, मायावी है।

४—रूम का विचार है कि जब जीव ईश्वर का सायुज्य प्राप्त कर लेता है तो ईश्वर के गुण भी उसको प्राप्त हो जाते हैं। तत्वतः वह अलग ही है। जिस प्रकार अग्नि और लोहा अलग हैं, परन्तु लोहा अग्नि में पहुँच कर अग्नि की उष्णता पा लेता है, दाहक गुण उसमें आ जाता है, किन्तु लोहा अग्नि कदापि नहीं बन जाता।

प्रचार—

इस प्रकार सूफियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन कुरान के आधार पर करके इस्लाम का समर्थन एवम् अनुमोदन प्राप्त कर लिया। सूफी सिद्धान्तों के अनुसार इस्लामी यम-नियम का परिमार्जन हो गया। जन साधारण इस रहस्य भावना की ओर आकृष्ट हो ही चुके थे। सूफी फकीर प्रचार के हेतु निकल पड़े। इनको शासकों का अनुमोदन ही नहीं, साहाय्य भी सुलभ था। जहाँ जहाँ इस्लामी विजय वाहिनी का प्रवेश होता था, सूफी भी पहुँच जाते थे तथा देश के अन्तरतम प्रान्तों, बियाबान जंगलों, अगम्य पर्वतों तथा असह्य रेगिस्तानों में भी इस्लाम का प्रचार इन भावुक सूफियों के द्वारा होने लगा। भारत में भी मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के साथ साथ मुल्तान इन सूफियों का अड्डा बन गया। भारतीय वातावरण में सूफीमत का विवेचन अगले पृष्ठों में किया जावेगा।

—:०:—

अवस्था और मुकामात

सूफियों की अवस्थाओं का विवेचन करने से पूर्व यदि इस्लामी कर्म-काण्ड (शरअ) पर विचार कर लिया जावे तो अधिक समीचीन होगा। अस्तु, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, इस्लाम वस्तुत: विधि-निषेधात्मक धर्म है। कुरान में जो आज्ञाएँ दी गई हैं, हदीस में जो स्पष्टीकरण वर्णित हैं तथा सुन्ना में जो मुहम्मद साहब का क्रिया-कलाप कथित है उसके अनुकरण पर प्रत्येक धर्मी मुसलमान का आचरण होना चाहिए। उसका आचार-व्यवहार शरअ के अनुकूल होना चाहिए। वही व्यक्ति धार्मिक, शास्त्री, मौलवी, शेख और मोमिन कहलाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे कर्म-काण्ड में वाह्याडम्बर अधिक और हार्दिक लगाव कम हो जाता है। अकबर इलाहाबादी ने ऐसे व्यक्तियों पर बड़ी ही फबती व्यंगोक्ति कही है: -

शरअ के खिलाफ शेख थूकता भी नहीं है।
अँधेरे उजेले में मगर चूकता भी नहीं है।

यह विधि-विधान जीवन के समस्त क्षेत्रों तक व्याप्त है। परन्तु साधारणत: चार बातें प्रत्येक मुसलमान को अवश्य करनी चाहिए।

इनका करना सबका धार्मिक कर्त्तव्य है, शेष बातें अधिक पाबन्द धार्मिक व्यक्तियों के लिए हैं। ये चार बातें सलात, जकात, रोजा और हज्ज हैं।

१—सलात—सर्वोपरि कर्त्तव्य ईश्वरोपासना है। यह उपासना प्रत्येक दिन पाँच बार करनी चाहिये। यदि उपासना सम्मिलित हो सके और स्थान कोई मस्जिद हो, तो अधिक अच्छा है, नहीं तो अकेले ही किसी भी स्थान पर की जा सकती है। प्रथम उपासना का समय प्रातःकाल है। उसको 'फजर' की नमाज कहते हैं। द्वितीय उपासना काल दोपहर का है जो 'जुहर' की नमाज कहलाती है। तृतीय 'असर' की नमाज तीसरे पहर पढ़ी जाती है। चतुर्थ का समय सूर्यास्त है जो 'मग़रिब' कहलाती है। पंचम का समय रात्रि में सोने से पूर्व है जो 'ईशा' कहलाती है। ये पाँचों समय की उपासनाएँ प्रत्येक मुसलमान का धार्मिक कर्त्तव्य है। इनके अतिरिक्त मध्य-रात्रि के पश्चात् भी उपासना काल है जिसका नाम 'तहज्जुद' है। परन्तु इसका करना ऐच्छिक है, धार्मिक पाबन्दी नहीं।

२—जकात—प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिए। नियम तो यह है कि प्रत्येक मुसलमान जिसकी आय एक विशेष परिमाण से अधिक हो, अपनी आय का एक भाग दान करदे। इस धन को राज्य अथवा इमाम एकत्रित करे। कुरान के अनुसार यह धन "दीनों के लिए, उनके शासकों के लिए, उन व्यक्तियों के लिए जो धर्म-कार्य में संलग्न हैं, कैदियों को छुड़ाने के लिए,[१] ऋण-ग्रस्त व्यक्तियों को स्वतंत्रता दिलाने के लिए और ईश्वर-मार्ग पर ही व्यय होना चाहिए।"[२] इस नियम का पालन भी प्रत्येक मुस्लिम का धार्मिक कर्त्तव्य है। सम्मिलित उपासना में प्रायः शुक्रवार को दान एकत्रित करने की साधारण प्रथा है।

३—रोजा—मुसलमानों में रमजान का महीना बड़ा पवित्र माना गया है। साधारणतः इसको 'रमजान-शरीफ' कहते हैं। वास्तव में यह मास है तो स्वाध्याय, संयम और त्याग का। परन्तु ऐसा थोड़े से व्यक्ति ही करते हैं। साधारणतः प्रत्येक मुसलमान से

१—अरब में ऐसा नियम था कि लड़ाई में जो मनुष्य पकड़े जाते थे, वे छोड़ दिए जाते थे, यदि उनके पक्ष वाले उसके बदले में कुछ रुपया दे देते थे।

२—सरदार इक़बाल अलीशाह : इस्लामिक सूफ़ीइज्म, पृ० १८४।

आशा की जाती है कि इस महीने में वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक कोई वस्तु (खान-पान) ग्रहण न करेगा। जो व्यक्ति ऐसा नहीं कर पाते हैं, वे अपने अन्य मुसलमान भाइयों के समक्ष ऐसा कहने में लज्जा अनुभव करते हैं। यदि किसी कारणवश पूरे महीने रोजे न रखे जा सकें, तो कुछ दिनों अवश्य रखने चाहिए।

४—हज्ज—प्रत्येक मुसलमान का यह भी कर्त्तव्य है कि जीवन में एक बार 'मक्का-शरीफ़' की यात्रा करे और काबे की प्रदक्षिणा करे। यदि धनाभाव आदि कारणों से ऐसा न कर सके, तो विशेष हर्ज तो नहीं है, किन्तु धार्मिक दृष्टि-कोण से त्रुटि अवश्य है।

प्रथमावस्था (शरीयत)

सूफ़ी तथा अन्य मुसलमानों के लिए शरअ के अनुसार आचार-व्यवहार रखना एकसा धार्मिक प्रतिबंध है। इस प्रथम अवस्था में सूफ़ी और मुसलमान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है। परिणाम में अवश्य अन्तर है। मुसलमान के लिए शरीयत ध्येय है, परन्तु सूफ़ी शरीयत से आगे बढ़ता है। सच तो यह है कि जब कोई व्यक्ति शरीयत की मंजिल के पार कदम उठाता है, तभी उसका नाम सूफ़ी होता है, इसले पूर्व वह मोमिन है।

द्वितीयावस्था (तरीक़त)

सच्ची लगन के साथ कर्म-काण्ड के अनुसार आचरण करके मनुष्य उस अपार सत्ता के प्रति जिज्ञासु होकर उसकी ओर अग्रसर होता है, तभी उसकी संज्ञा सूफ़ी होती है और वह 'तरीक़त' (रहस्य-पथ) पर 'सालिके रूह' बन कर निकल पड़ता है। इस पथ पर अग्रसर होने के लिए एक अनुभवी योग्य गुरु (पीर) की संरक्षा की आवश्यकता होती है। बिना गुरु तरीक़त पर चढ़ना नितान्त असम्भव है :—

दा-दाया जा कँह गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई॥

तथा,

तौ वह चढ़ै जौ गुरू चढ़ावै। पाँव न डगै अधिक बल पावै॥

(३५२)

अनुकूल समय पर गुरु प्राप्त हो ही जाता है। पीर अपने मुरीद में प्रेम-चिनगारी – उस परम सत्ता की अनुपम झलक डाल देता है। मुरीद कार्य का है उस विरह को जागरित रखना—

गुरू विरह चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला॥ (५६)

पीर अपने मुरीद की योग्यता एवम् त्रुटियों का पूर्ण ज्ञाता होता है। अस्तु, कुशल वैद्य की भाँति अपने शिष्य को उसकी प्रकृति के अनुकूल आचरण का आदेश करता है। इस समय शिष्य का कर्त्तव्य है कि संसार के समस्त सम्बन्धों, रीति-व्यवहार आदि की किंचित भी परवाह न करके गुरु-वाक्य का अनुसरण करे। इस प्रकार पीर की अनुकम्पा, दया, दाक्षिण्य तथा अपनी सच्ची लगन के सहारे इस द्वितीयावस्था—तरीक़त—को सकुशल पार कर सूफ़ी तीसरी कक्षा में प्रवेश पाता है।

तृतीयावस्था (मारिफत)

तृतीयावस्था ज्ञानावस्था है। इस अवस्था पर पहुँच कर मुरीद उस परम सत्ता का आभास ही नहीं प्राप्त कर लेता, वरन् उसके समस्त रहस्यों की कुंजी भी उसको सुलभ हो जाती है। इस अवस्था को 'हाल' की दशा भी कहते हैं, क्योंकि अब सूफ़ी उस परम के प्रति सामीप्य का अनुभव कर प्रसन्नता में मग्न रहता है। अब वह 'सालिक' से 'आरिफ' बन जाता है। इस दशा का वर्णन करने में भाषा सर्वथा अशक्त है। परन्तु यदि इस दशा की कुछ भी टूटी-फूटी रूपरेखा का विधान करना चाहें, तो उसकी तुलना उस दूल्हे की दशा से की जा सकती है, जिसके समक्ष उसकी नव-परिणीता वधू का घूंघट प्रथम बार सहसा उलट जावे। "मारिफ़ विभु की विभूति या अल्लाह की अनुकम्पा का प्रसाद है। 'अतः वह बिना शरीयत और तरीकत के व्याकरण के भी सम्पन्न हो सकता है। उसके लिए अल्लाह की कृपा ही पर्याप्त है।"[1]

चतुर्थावस्था (हक़ीकत)

अन्तिम अवस्था 'हक़ीक़त' है। आरिफ़ ने समस्त तत्वों का रहस्य पा लिया है। वह द्वन्द्वातीत है और अपने को 'हक़' समझता है तथा अनलहक़ (अहम्ब्रह्म) का उद्घोष करने में समर्थ होता है। इस अवस्था का दूसरा नाम 'मकाम' भी है। अब सूफ़ी परम के सतत् सामीप्य का अनुभव करता है। यदि 'हाल' की दशा उसके रूप की प्रथम अलौकिक झलक है, तो 'मकाम' उसका चिरंतन संयोग।

1—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० ९२।

वस्तुत: इन अवस्थाओं का वर्णन करना गूंगे का गुड़ है। इस अवस्था पर पहुँचकर सूफी वाह्य धार्मिक आचारों की परवाह तनिक भी नहीं करते हैं; वे सर्वदा प्रियतम के प्रेम में निमग्न रहते हैं।

इस प्रकार सूफ़ी क्रमश: उत्तरोत्तर उन्नति करता हुआ अपने ध्येय को प्राप्त होता है। जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है, इस पथ को पार करने के लिए किसी विशिष्ट काल की कैद नहीं है। गुरु की अनुकम्पा और क्षमता, शिष्य की लगन और योग्यता एवम् भगवान् के परमानुग्रह से यह अवस्थाएँ थोड़े से काल में भी प्राप्त हो जाती है। फ्लोरेंस लेडरर के अनुसार 'उस परम प्रियतम तक पहुँचने में केवल दो कदम रखने पड़ते हैं। पहला कदम है—फना (अहं अर्थात् खुदी को मिटा देना) और दूसरा कदम है वज्द (परम से संयोग)।[1]

लोक-कल्पना

सूफियों ने इन अवस्थाओं के साथ-साथ चार लोकों—नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूत की भी कल्पना की है। हल्लाज ने नासूत (नरलोक) एवम् लाहूत (सत्यलोक) की कल्पना के सहारे आत्मा-परमात्मा के संबंध का स्पष्टीकरण किया था।[2] तदुपरान्त इमाम गज्जाली ने लोक-कल्पना पर विशेष ध्यान दिया। अस्तु, साधारण धार्मिक मुसलमान (मोमिन) प्रथमावस्था में शरीयत का पालन करते हुए नासूत (नरलोक) का सेवन करता है। द्वितीयावस्था में मुरीद तरीकत पर विचरण करता हुआ मलकूत (देवलोक) का निवासी बनता है। तत्पश्चात् सालिक तृतीयावस्था (मारिफत) में जबरूत (ऐश्वर्य लोक) में विहार करता है। अन्त में आरिफ हकीकत अवस्था में लाहूत (सत्यलोक किंवा माधुर्य लोक) में विचरण करता है। कुछ सूफियों ने[3] इनसे ऊपर एक हाहूत लोक की कल्पना की है

१—फ्लोरेंस लेडरर : शबस्तरी की गुलशने राज की भूमिका में:—
"The journey to the Beloved has only two steps—dying to self and uniting with the truth (fana and wajd or hal.)"

२—स्टडीज इन इस्लामिक मिस्टीसिज्म, पृ० ८०।

३—कबीर साहब ने तो हाहूत, बाहूत, साहूत, राहूत, जाहूत लोकों की भी कल्पना की है। देखिए, कबीर साहब के बीजक पर विश्वनाथ सिंह जू देव कृत पाखण्ड-खंडिनी टीका, पृ० २४३।

परन्तु यथार्थतः सूफी ब्रह्माण्ड में इन लोकों की स्थिति के कायल नहीं है, वे तो पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्ड की रचना मानते हैं। अस्तु, नासूत मलकूत, जबरूत एवम् लाहूत क्रमशः जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था हैं।

मुकामात

सूफीमत का विवेचन एक यात्रा के रूप में हुआ है जिसको ये चार अवस्थाएँ, चार मंजिलें अथवा बसेरे हैं।[1] इन मंजिलों को पार करने में प्रेमी (यात्री) को कुछ पड़ाव भी पार करने पड़ते हैं। इन पड़ावों को 'मुकामात' कहते हैं। इनके विषय में विद्वानों में मतभेद है और इनकी संख्या भी निश्चित नहीं है। कोई तोबा, ज़हद, सब्र, शुक्र, रिजाय, खौफ़, तवक्कुल, रजा फिक्र और मुहब्बत को मुकामात मानते हैं। परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है—क्या प्रेम सूफियों का ध्येय है ? कदापि नहीं। सूफी प्रेम का सम्बल लेकर तो मार्ग पर चलने का निश्चय करता है। अतः स्पष्ट है कि यह मुकामात पहिली मंजिल में पड़ते हैं—मोमिन को शरीयत की मंजिल पार करने में इन सब में से होकर क्रमशः गुजरना पड़ता है। इस कारण ये मुकामात साधारण मुसलमान मोमिन के हैं। इनको पार करके द्वितीय मंजिल में पैर रखने पर यात्री सूफी (सालिक) कहलाता है। अब इन मुकामात का वर्णन यहाँ पर संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है।

मोमिन के मुकामात

धर्माचरण करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम निषिद्ध कर्मों से 'तोबा' करना पड़ता है। इसके लिए वस्तुतः उसको अपनी इन्द्रियों पर अधिकार करना पड़ता है। परन्तु यह कार्य एक दम सम्भव नहीं है। इसके लिए इन्द्रियों से सतत् संग्राम (दमन) की आवश्यकता है जो 'जह्द' कहलाता है। तथा अपने भाग्य पर संतुष्ट (सब्र) होकर उस परम दयालु परमात्मा की अनुकम्पा के लिए कृतज्ञता प्रकाशन (शुक्र) की प्रवृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए। फिर उसकी

१—नवौ खंड नव पौरी, औ तहँ बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढै, सत सों उतरै पार ॥ १७ ॥ —पदमावत (१६)
तथा, बाँक चढ़ाव, सात खंड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूंचा ॥ (३४२)
और, सात खंड और चारि नसेनी। अगम चढ़ाव पंथ तिरवेनी ॥ (३५२)

आज्ञोल्लंघन से 'खौफ' होने लगता है। अन्त में जब मनुष्य उसकी 'रजा' का कायल हो जाता है, तो उसे उसका जिक्र (स्मरण) रुचता है, जिससे प्रेम (मुहब्बत) का प्रादुर्भाव होता है। जब प्रेम का चस्का लग जाता है, तो मोमिन सालिक बन सूफी क्षेत्र में प्रवेश करता है।

सारांश यह है कि ये मुकामात मोमिन में प्रेम उत्पन्न कर उसको प्रेमी बनाने में समर्थ होते हैं। अब वह सूफी हो गया और सूफियों के मुकामात को पार करता हुआ अन्तिम ध्येय तक पहुँचता है।

सूफियों के मुकामात

सूफियों के मुकामात क्रमशः अबूदियत, इश्क, जहद, म्आरिफ, वज्द, हकीकी और वस्ल हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर निर्देश किया जा चुका है इश्क के पश्चात् ही मोमिन सूफी होता है। अतः अब्द सामान्य व्यक्ति हुआ जो प्रथमावस्था का ही वस्तुतः पथिक है। इस प्रकार सूफियों के मुकामात इश्क से लेकर वस्ल तक तथा फना सात हुए। कदाचित् जायसी ने भी सूफियों के सात ही मुकामात माने हैं जिसका संकेत 'पदमावत' तथा 'अखरावट' दोनों में मिलता है।

गुरु द्वारा 'प्रेम-चिनगी' पाकर सालिक द्वितीयावस्था (तरीकत) पर अग्रसर होता है। इस मंजिल में उसे अपनी चित्त-वृत्तियों (नफ्स) के साथ 'जहद' करना पड़ता है—उनका दमन करना पड़ता है। इस चित्त-वृत्ति-निरोध के परिणाम स्वरूप प्रेमी प्रियतम की झलक पा लेने में समर्थ होता है, उसका परिचय प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसकी द्वितीय मंजिल समाप्त होती है।

अब प्रज्ञा-प्राप्त 'आरिफ' को सत्य की झलक ही नहीं, अपितु यदा-कदा संयोग लाभ भी प्राप्त हो जाता है। और तीसरी मंजिल में 'वज्द' के मुकाम से आगे बढ़कर चौथी मंजिल पर पहुँचता है। सत्य (हकीक) की भूमि पर पहुंचकर उसे अपने प्रियतम का संयोग (वस्ल) प्राप्त हो जाता है। परिणाम स्वरूप अहम् का विनाश (फना) हो जाता है। तब उसे 'बका' का शाश्वत आनन्द मिल जाता है।

सारांश है कि आबिद (खोजी) शरीयत की मंजिल में तोबा, आदि पड़ावों को पार करके 'इश्क' के मुकाम पर प्रथम मंजिल समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् इश्क को लेकर 'सालिक' जहद करते हुये तरीकत की दूसरी मंजिल को 'म्वारिफ़' मुकाम पर पूर्ण करता है। अब 'म्वारिफ' के पार आरिफ़ वज्द प्राप्त करता हुआ 'हक़ीक' के मुकाम पर तृतीय मंजिल समाप्त करता है। तदुपरान्त 'हक' वस्ल को प्राप्त कर 'फना' के मुकाम पर अपनी यात्रा समाप्त कर देता है। इस यात्रा के समाप्त होने पर उसे शाश्वत आनन्द (बक़ा) की प्राप्ति हो जाती है जो सूफियों का ध्येय है।

इस यात्रा का विवरण निम्नाङ्कित चार्ट से कुछ अधिक सरल और सुबोध होने लगेगा:—

क्रम संख्या	अवस्था	लोक	यात्री की संज्ञा	मुकामात		
				प्रारम्भ	मध्य	अन्त
१	शरीयत	नासूत	मोमिन	अब्द	——	इश्क
२	तरीकत	मलकूत	सालिक	इश्क	जहद	म्वारिफ
३	मारिफत	जबरूत	आरिफ़	म्वारिफ़	वज्द	हक़ीक़
४	हक़ीक़त	लाहूत	हक़	हक़ीक़	वस्ल	फ़ना

किसी किसी के विचार से अन्तिम अवस्था बका है जो फना के पश्चात् प्राप्त होती है तथा अन्तिम लोक 'हाहूत' है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस यात्रा के समाप्त होने की कोई अवधि निश्चित नहीं है। परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में इस उत्तरोत्तर प्रगति का यह यात्रा-रूपक समझने-समझाने में बड़ा सरल, स्पष्ट एवम् रोचक है। सूफी इन अवस्थाओं और मुकामात के पूर्णत: कायल होते हैं।

—————

सूफीमत के अङ्ग

प्रेम मार्ग

जैसा कि पहिले विवेचन किया जा चुका है, सूफीमत प्रेम-प्रधान मार्ग है। इसका प्रारम्भ ही प्रेमोदय के साथ होता है। अतः सर्वप्रथम इस प्रेम पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए। प्रेम का थोड़ा सा समावेश तो संसार के प्रायः समस्त धर्मों में है। कहीं वात्सल्य, कहीं सख्य और कहीं दाम्पत्य के रूप में प्रेम-भावना का अभ्युदय है। गुरुजनों के प्रति प्रेम में श्रद्धा के साथ-साथ एक मर्यादा की सीमा रहती है, उसमें हृदय की समस्त वृत्तियों का पूर्ण स्फुरण का अवकाश नहीं प्राप्त होता। वात्सल्य तो संसार से तृप्त, अवकाश-प्राप्त, वृद्धजनों के मन बहलाने का साधन सा प्रतीत होता है। संसार में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्यों का पुत्रों से अधिक पौत्रों पर स्नेह होता है। वृद्धजन उनकी क्रीड़ाओं, चपलताओं आदि में अपनी पूर्वावस्था का आभास पाते हैं और आनन्द मग्न होते हैं। परन्तु सखाओं का प्रेम बड़ा महत्वपूर्ण होता है। इसमें पारस्परिक साहचर्य और सानिध्य का बड़ा उत्कृष्ट आकर्षण होता है। किन्तु सख्य-प्रेम में एक विशेष भावना निहित रहती है और वह है अपने सखा से प्रेम की प्रेक्षणीयता (Response)। इसके बिना प्रेम अधूरा। मित्र अपने मित्र के लिए सब कुछ कर सकता है, किन्तु कृतघ्न किंवा अप्रेक्षणीय (Un-responsive) मित्र से उसे विरक्ति हो जाती है। वास्तव में प्रेम का पूर्ण प्रसार हृदय की समस्त वृत्तियों का पूर्ण सहयोग, यौवन की उदात्त वृत्तियों का स्वच्छन्द स्फुरण दाम्पत्य में ही है। कदाचित् इसी लिए अपने साहित्य में श्रृंगार के अन्तर्गत समस्त प्रेम-भावनाओं को लेकर दाम्पत्य का सर्वोपरि एवम् सर्वोत्कृष्ट होना स्वीकार किया है। तथा सहज रति के आनन्द को ब्रह्मानन्द की अनुहारि माना गया है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि दाम्पत्य में इतर प्रेम-भावनाओं का भी संयोग रहता ही है। प्रियतम के स्वास्थ्य एवं कुशल का निरंतर चिंतन प्रेमी के उस प्रेम का द्योतक है जो गुरुजनों के प्रति प्रायः होता है, तथा अपने प्रियतम के बनाव-श्रृंगार

के उपकरण जुटाना उसके वात्सल्य के परिचायक हैं, और सख्य तो प्रधनात: वह है ही। इस प्रकार दाम्पत्य में प्रेम की समस्त कोटियों का सम्मिश्रण है।

प्रेम के विषय में एक और स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यह प्रेम वासना पूर्ण प्रतीत ही नहीं होता, वरन् इसका आदि वासना-जन्य ही होता है। वह स्थूल से सूक्ष्म और वासनामय से शुद्ध सात्विक मनोवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। इसी कारण सूफियों में इश्क-मजाजी (लौकिक-प्रेम) को इश्क हकीकी (ईश्वर-प्रेम) की प्रथम सीढ़ी माना गया है। गोपियों का कृष्ण के प्रति जिस प्रेम-वर्णन की प्रथा है उसमें कामोद्दीपन के प्रसंग अवश्य दृष्टिगोचर होते हैं। मीरा का प्रेम भी कृष्ण को साक्षात् पतिरूप में स्वीकार कर लेने पर ही हुआ था। ईसाई धर्म में भी 'कुमारियों' का 'पवित्र व्यभिचार' निस्संदेह उसी कामवासना का परिणाम था। उसी कारण प्राय: मंदिर, मठ आदि में व्यभिचार सहज ही स्थान पा लेते हैं। बाह्याचार इसके अनुकूल पड़ता है और अन्तर्भावना की माप हो नहीं सकती। अस्तु; ढोंगी, कर्मकाण्डी व्यक्तियों को अपनी काम-वासना की तृप्ति, का मार्ग धर्म के नाम पर सुलभ हो जाता है! इसी लिए लोक संग्रह की भावना वाले मार्गों में प्रेम-व्यापार की गुजर नहीं होती, वह सदैव एकांतिक मार्ग रहा है।

सूफियों का प्रेम

वस्तुत: सूफी प्रेमी है। वह अपने प्रियतम के दर्शन तथा उससे सम्मिलन के लिए अनवरत प्रयत्नशील रहता है। वह परमात्मा को प्रियतमा (रमणी) के रूप में देखता है, उसके सौन्दर्य पर रीझता है और उसके साहचर्य की आशा में निमग्न रहता है। प्रारम्भ में अरब में ऐसा ही था, किन्तु ईरानियों की सभ्यता के आगे अरब स्वाभाविकता को भूल गये और उनका प्यारा माशूक अमरद किंवा मराबच्चा (सुन्दर किशोर) हो गया। अनेक मनीषियों की दृष्टि में यह भावना बड़ी अस्वाभाविक तथा कलंकपूर्ण है।[1] फिर भी

१—मौ० हाली : मुकद्दमा शैरो शायरी, पृ० १२१—

"मर्द का मतलूब मर्द को करार देना·········एक ऐसा जलील और नालायक दस्तूर है जो कौमी इखलाक को दाग लगाता है।"

ईरानी और भारतीय मुस्लिम साहित्य में पुरुष के प्रियतम किशोर ही बन गये। शायद रमणी पर्दे के अन्दर पहुँच कर पुरुषों की लोलुप दृष्टि से ओझल हो गई। वैसे भी किसी भी सुन्दर स्त्री के अंग-प्रत्यंग का उद्दीपन की दृष्टि से वर्णन करना उस स्त्री को कलंकित करने के अतिरिक्त कवि के लिए भी खतरे से खाली न था। अस्तु; सुन्दर किशोरों का सम्मोहक स्वरूप, एकान्त में, राजदरबारों में तथा साधारण महफिलों में सर्वत्र निर्बाध गति से कवित्व का विषय—प्रियतम बन गया।

सूफियों ने अपना प्रियतम चाहे किशोर माना हो, अथवा रमणी, किन्तु उनका उद्देश्य उससे सदैव परमात्मा से रहता है। तथा उस परम प्रेम को प्राप्त करने से पूर्व उनको किसी पार्थिव व्यक्ति का ही प्रेमी बनना पड़ता है। इश्क-मजाजी उनके लिये इश्क-हकीकी का प्रथम सोपान-मात्र है। उस पर पैर रख कर ही उनको आगे बढ़ना होता है। यह दूसरी बात है कि अधिकांश उसी सीढ़ी पर पड़े रह जाते हैं। इस प्रकार उनका प्रेम विदित से अविदित और मूर्त्त से अमूर्त्त की ओर अग्रसर होता है। परन्तु वास्तव में ईश्वर सूफियों की दृष्टि में केवल मात्र धारणा (Concept) नहीं है, वह साक्षात् वस्तु (Precept) है। उसको हम अन्य वस्तुओं की भाँति अपने इन्हीं चक्षुओं से देख सकते हैं।[1]

इलहाम

जीव ईश्वर का रूप है। यदि उसकी आत्मा मल, विक्षेप, स्वार्थ आदि आवरणों से विमुक्त हो जाय, तो वह सत्यानुवर्तिनी होती है। यदा-कदा इन आवरणों से रहित होकर उसका जो निश्चय होता है वही अन्तःप्रेरणा का प्रसाद माना जाता है। वर्तमान युग के सर्वश्रेष्ठ नेता महात्मा गान्धी अन्तः प्रेरणा के पूर्णोपासक थे। कभी-कभी अन्तःप्रेरणा के बल पर किए गये उनके निश्चय बड़ी हलचल उत्पन्न करने वाले हुए हैं। इसी अन्तः प्रेरणा को इलहाम कहते हैं। यह आदेश ईश्वर की ओर से समझे जाते हैं। असभ्य

१—डा० इकबाल : लेक्चर्स, पृ० १७३—

"God, accordingly, as Ibn Arbi points out, is a 'precept' and not a 'concept'. We can behold Him as we behold things before our eyes."

जातियों में तो किसी भी व्यक्ति की विक्षेपमयी बातें इलहाम समझी जाती हैं। भूतादि को भगाने में भूत पराभूत व्यक्ति का आदेश अक्षरश: पालन किया जाता है। रहस्योन्मुख व्यक्तियों के अनुभव भी किसी मस्तिष्क-विकार के ही परिणाम माने जाते हैं। वस्तुत: उनका मस्तिष्क असाधारण भावावेश में होता ही है।[1] सूफियों का इलहाम में पूर्ण विश्वास है: इस्लाम धर्म ही इसी विश्वास पर आश्रित है। रसूलों को इलहाम न होकर उन पर वहियाँ नाजिल होती हैं। कुरान मुहम्मद साहब पर उतरी हुई वहियों का ही प्रसाद है। अतएव सूफियों की इलहाम पर पूरी आस्था है और संकट-काल में इसी का सहारा निर्दिष्ट पथ पर प्रकाश स्तम्भ का कार्य देता है।

जिक्र

ईश्वराधना एवम् स्मरण का प्राय: समस्त धर्मों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कुरान के अनुसार उपासना-काल में व्यक्ति परम सत्ता के सानिध्य से स्वतन्त्रता का अनुभव कर आत्मानुशासन के अनुपम आनन्द का अनुभव करता है। इस्लाम में उपासना व्यक्ति को नियम-बद्ध कर्मण्यता से स्वतन्त्रता प्रदान का प्रयास है।[2] सूफियों का तो प्रियतम का स्मरण क्षण प्रति क्षण का कार्य है। वे पाँच (अथवा छ:) समय की उपासना के ही अभ्यासी नहीं होते, वरन् उनका स्मरण चौबीसों घण्टे अनवरत रूप से चलता है। 'जिक्र' होना तो वस्तुत: अन्त:करण से ही चाहिये किन्तु नव अभ्यास के लिए तथा अभ्यास की माप के लिए तसवीह (माला) का आश्रय ले लिया जाता है जो बाह्याचार का द्योतक होने से कतिपय सूफियों को मान्य नहीं है।

श्री इकबाल अलीशाह के अनुसार जिक्र की चार श्रेणियाँ हैं[3]—

१—डा० इशरत हुसैन: मेटाफिजिक्स ऑव इकबाल, पृ० २२।

२—सर्दार इक़बाल अलीशाह: इस्लामिक सूफीइज्म, पृ० १८२—

"The timings of all daily prayers which according to Qoran restores 'self possession' to the ego by bringing it into closer touch with the ultimate source of life and freedom is intended to save the ego from mechanizing efforts of sleep and business. Prayer in Islam is the ego's escape from mechanism to freedom."

३—वही, पृ० २६५।

प्रथम—जिक्र-जली, जिसमें स्मरण जोर जोर से किया जाता है। इसमें अपना स्वर इतना अधिक उच्च कर दिया जाता है कि बाह्य-शब्द एवम् अन्य विचार प्रवेश न कर सकें।

द्वितीय—जिक्र ख़फ़ी, जिसमें स्मरण शांति पूर्वक चलता है।

तृतीय—यह द्वितीय श्रेणी का ही अधिक विकसित रूप है। इसमें सालिक अपने नेत्र और ओष्ठों को बन्द करके अपनी श्वास-प्रक्रिया पर ध्यान जमाता है—जब श्वास बाहर निकलता है, तब वह 'ला इलाह' पर विचार करता है और उसके समक्ष समस्त बाह्य जगत् असत् प्रतीत होता है और जब श्वास अन्दर जाती है, तब वह सोचता है, 'इल्ला अल्लाह' (ईश्वर के अतिरिक्त)।

चतुर्थ—ख़फ़ी की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी है। इस समय प्रत्येक क्षण श्वास-प्रक्रिया के साथ स्मरण अनवरत चलता रहता है। आने वाली श्वास के साथ 'अल' का शब्द और निकलने वाली श्वास के साथ 'लाह' शब्द स्वाभाविक रूप से ध्वनित होकर 'अल्लाह' का स्मरण होता रहता है।

शराब

आर्यों में सोमरस प्रिय पेय पदार्थ था। ईरानी भी, आर्यों की संतान होने के नाते, इसके अभ्यस्त रहे होंगे इसमें कोई संदेह नहीं है। मूल सोमरस वस्तुतः क्या पदार्थ था, इसको निश्चय रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु अनेक विद्वानों का मत है कि यह एक मादक पदार्थ विशेष था। ईरान अंगूर का प्रदेश है। वहाँ पर अंगूर की 'प्यारी दुहिता' का इस्लाम के आगमन से पूर्व पूर्ण प्रचार था। यह ईरानियों के मुँह इतनी लग गई थी कि छुड़ाने से भी न छूट पाती थी। इस्लाम में शराब पीना हराम (धर्मानुसार वर्जित) है। परन्तु बाहरी ईरानी सभ्यता! अरब उसके अक्षरशः अनुचर बन गए। इस्लाम में वर्जित शराब ग्राह्य ही नहीं हुई, अपितु न पीने वाले किंवा पीने वालों को बुरा कहने वाले शेख़, मोमिन, जाहिद, वाइज आदि की मुसलमान कवियों ने वह ख़बर ली कि समस्त इस्लामी साहित्य इसमें तरबतर हो गया।

अब विचारणीय विषय यह है कि सुरा-सेवन से सूफियों को कौन सी विशेषता प्राप्त होती है। मादक द्रव्यों के सेवन से अन्ततः चाहे जितनी हानियाँ होती हों, परन्तु तत्काल जो आनन्द की उमंग पैदा होती है उससे सुरा-सेवी व्यक्ति थोड़ी देर के लिए अवश्य

निर्द्वन्द्व बन जाता है। उसकी चित्तवृत्ति को एक विलक्षण सुखद अनुभव होने लगता है जिसके सहारे वह आनन्द-सागर में निमग्न सा हो जाता है। इन पदार्थों—सुरा, गांजा, चरस आदि—के सेवन से साधु-सन्तों के फक्कड़पन में एक अजीब मस्ती आ जाती है। साथ ही इनके प्रयोग से इलहाम को भी प्रोत्साहन प्राप्त होता है। देवता का 'सिर आ जाना' बहुत कुछ इन्हीं पदार्थों के सेवन का प्रसाद होता है। अतएव अपने रंग में मस्त रहने के लिए तथा संसार से विस्मृत रहने के लिए इसका प्रयोग सूफियों में व्यवहृत हुआ। इसका अधिक प्रचार तो केवल प्रतीक रूप में है, जिसका विवेचन आगे किया जावेगा।

कष्ट-सहिष्णुता

प्रेमी जब प्रियतम की खोज में चलता है, तो वह संसार के व्यापारों की ओर दृष्टि नहीं करता—अपने शरीर की सुधि-बुधि भी नहीं रह जाती। अतः कष्ट-सहिष्णुता सूफियों के प्रेम की परीक्षा की माप है। वे इन तीनों तापों की तनिक भी परवाह नहीं करते। प्रियतम के दीदार के लिए वे कठिन से कठिन कष्ट को हँसते-हँसते सह लेते हैं।

गुरु-पूजा

इस्लाम आदेश-प्रधान धर्म है। उपासना में भी इमाम का अनुकरण किया जाता है। यजीद के अनुसार जिस व्यक्ति का गुरु नहीं होता, उसका इमाम शैतान होता है। आर्य-धर्मों में भी गुरु का महत्त्व है। निस्संदेह बिना गुरु के किसी कार्य में सफलता-लाभ असम्भव ही है। परन्तु रहस्य-प्रधान गुह्य मतों में गुरु का विशेष महत्त्व है। आध्यात्मिक अनुभव 'गूंगे का गुड़' होने के कारण भाषा में पूर्णतः व्यक्त नहीं किये जा सकते। अतः केवल पुस्तकों की सहायता से इनको समझना सम्भव नहीं है। सूफी लोग तो बिना गुरु-कृपा के प्रेमोदय भी नहीं मानते। अतः गुरु-पूजा, उसकी आज्ञा का पालन, उसमें अटल विश्वास, उसकी सेवा, सूफी साधक के लिए उचित ही नहीं, वरन् परमावश्यक कर्त्तव्य है। गुरु-प्रसाद से कोई-कोई शिष्य अल्प-काल में ही सफलता प्राप्त कर लेते हैं।

गुरु-पूजा का एक और कारण है। वह है गुरु की करामात—उसकी अलौकिक सम्पन्नता। शिष्य वर्ग उनकी अद्भुत क्षमता से

चमत्कृत हो नत-मस्तक हो जाते हैं। उनका विश्वास अपने गुरु के प्रति दृढ़तर हो जाता है तथा उसकी महिमा का मान होने लगता है। सारांश है कि सूफी साधक के लिए गुरु उस परम प्रियतम से भी बढ़कर माननीय होता है:—

गुरु गोबिन्द दोनों खड़े, काके लागूँ पाय।
कबिरा धनि गुरु आपने, जिन गोबिन्द दिया बताय॥
—कबीर।

समाधि-पूजा

मनुष्य स्वभावतः कृतज्ञ है। महात्मा बुद्ध ने जिस वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था वह बौद्धों में पूजनीय हुआ। हम जिस स्थान पर विशेष लाभ—धार्मिक, आर्थिक आदि प्राप्त करते हैं, उसके प्रति हमारी बड़ी श्रद्धा होती है। जन्म-भूमि और विद्यापीठों का सम्मान हम इसी कारण करते हैं। तथा जिस व्यक्ति द्वारा हमको लाभ पहुँचता है, उसके उत्तराधिकारियों एवम् उससे सम्बन्धित वस्तुओं तक से हमको प्रेम हो जाता है, उनके प्रति हमारी दृष्टि सम्मान पूर्ण होती है। अतएव जिस गुरु के अपार अनुग्रह से सूफ़ी ने सच्चे पथ का दिग्दर्शन किया, जिसके कारण उसका जीवन सफल हुआ, उसका स्थान, उसकी वस्तुएँ उसकी समाधि सचमुच श्रद्धा की वस्तु होती हैं। प्रथमतः इन स्थानों के प्रति श्रद्धा की भावना होती है और अन्त में वे वस्तु पूजनीय समझी जाती है।

दूसरे, पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाली जातियों में यह विश्वास है कि जीव अपने मृत-शरीर के इर्द-गिर्द यदा-कदा 'फेरा' करता रहता है। अतः मृत शरीरों की रक्षा का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ। मिश्र के 'पैरामिड्स' का निर्माण इसी प्रयत्न का फल है तथा महात्मा लैनिन के शव को वैज्ञानिक रीतियों से अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न उसी श्रद्धा का परिणाम है।

अस्तु, बड़े-बड़े सूफ़ी साधुओं की समाधि पर भावुक जनता आज भी बड़े प्रेम और श्रद्धा से जाती है। उसकी पूजा करती है, इष्ट-लाभ करती है तथा कष्ट और दुःख में सान्त्वना प्राप्त करती है। इस प्रकार गुरु-समाधि की, पूजा भी गुरु-पूजा के समकक्ष धार्मिक कृत्य समझा गया।

नजूम

सूफी शकुन-विचार को मानते हैं। स्वप्न के आधार पर किसी व्यक्ति की योग्यता, फल.फल आदि का विचार भी उन में पाया जाता है। अधुनिक मनोविज्ञान-शास्त्रियों के अनुसार भी स्वप्न प्रतीक रूप में उस व्यक्ति के अव्यक्त मन का स्पष्टीकरण करते हैं।[१] इलहाम के साथ नजूम का एक प्रकार से अटूट सम्बन्ध है। ज्योतिषियों को भी प्राय: किसी देव के प्रसाद से सिद्धि प्राप्त हो जाती है, जिसकी सहायता से वे किसी भी व्यक्ति के अतीत, वर्तमान और आगम को स्पष्ट पढ़ देने में सहज ही समर्थ हो जाते हैं। नजूम के पुट से सूफियों की लोक-प्रियता और सम्मान में विशेष चमक आ जाती है। हाफिज प्रसिद्ध ईरानी सूफी कवि थे। "मुसलमानों में उनके दीवान से शकुन उठाने की प्रथा प्रचलित है। जहाँगीर भी उससे शकुन उठाया करते थे"।[२] इस प्रकार नजूम सूफियों की कृपा से सर्व साधारण में प्रतिष्ठित हुआ।

आसन

सूफियों को सतत् स्मरण के अभ्यास के लिए किसी भी एक प्रकार से यक-चक बैठने की क्षमता प्राप्त करनी पड़ती है। इस प्रकार की कतिपय (८४) अनुभव-सिद्ध उपयोगी मुद्राओं को योग दर्शनकार पतंजलि ने आसन नाम दिया था। इन आसनों से अभ्यास की क्षमता के साथ-साथ स्वास्थ्य और चित्त की एकाग्रता पर भी वाँछनीय प्रभाव पड़ता है। सूफी किसी विशेष मुद्रा के कायल नहीं थे। शायद इसी कारण मुहम्मद साहब की हेरा गुफा की मुद्रा का रूप भी अब विस्मृत हो गया है। इन आसनों का सूफियों में विशेष महत्व तो भारतीय सम्पर्क के कारण हुआ जिसका विवेचन अगले पृष्ठों में मिलेगा।

कुण्डलिनी

कुण्डलिनी-तत्त्व का विशेष समावेश तो भारतीय सूफियों की क्रिया में हुआ जिसका विवेचन आगे मिलेगा। किन्तु ११ वीं

१—राजाराम शास्त्री : काशी विद्यापीठ, रजत-जयन्ती-अभिनन्दन-ग्रन्थ में "स्वप्न और प्रतीक" लेख, पृ० २०९।

२—बांके बिहारी तथा कन्हैयालाल : ईरान के सूफ़ी कवि में हाफिज़ का परिचय।

शती में नक्शबन्दी सम्प्रदाय के सूफी शेख अहमद ने मनुष्य के शरीर में छः चक्रों की—लतायफ़ी सिन्त-खोज की थी जो पतञ्जलि की कुण्डलिनी के बहुत कुछ अनुकूल है[1]।

वस्त्रादि

प्रारम्भिक सूफी चाहे 'पश्मीना पोश' रहे हों, परन्तु सम्प्रति उनके लिए किसी विशेष वस्त्रों का नियम नहीं है। वे तो स्वभावतः वाह्याचार के विरोधी होते हैं। फिर भी साधारणतः वे ढीले और पूर्ण वस्त्र पहनते हैं। इन वस्त्रों का रंग भी साधारण साधुओं की भाँति प्रायः गेरुआ अथवा भगवां ही होता है जो भारत में सम्माननीय हो गया है। सूफी सिर के ऊपर भी कोई कपड़ा—पगड़ी की भाँति का—अवश्य बाँधते हैं। किसी-किसी के विचार से इस कपड़े का रंग उसकी सूफी यात्रा के अनुकूल होता है। इससे विदित हो जाता है कि वह सूफी अमुक श्रेणी पर पहुँच चुका है।[2]

भाषा

सूफी अपने मत का प्रचारक होते हुए भी हल्लाज के व्यवहार पटु गुरु जुनैद की शिक्षा को भले प्रकार ध्यान में रखते हैं। वे इस गुह्य को सर्व साधारण पर प्रकट नहीं करते। तथा वह ऐसी अटपटी भाषा का प्रयोग करते हैं जो स्पष्ट न हो। इसी प्रकार की भाषा का आग्रह भारतीय गुह्य सम्प्रदायों, विशेषतया सिद्धों और नाथ पंथियों में भी था। इस भाषा का नाम कुछ विद्वानों ने 'संधा' भाषा दिया है[3]।

१—सर्दार इक़बाल अलीशाह : इस्लामिक सूफीइज्म, पृ० २१८।

२—वही पृ० २१८ व २१९

"The colour of the cloth specially of his **head-dress is** indicative of the stage of the pilgrim's journey, ***e.g.*** if the cloth is *ochre* colour, it means that his suluk has reached the stage of Ruh."

३—म० म० हरप्रसाद शास्त्री ने इस भाषा को 'संध्या' भाषा नाम दिया है। अर्थात् ऐसी भाषा जिसका कुछ अंश समझ में आवे और कुछ अस्पष्ट लगे पर ज्ञान के दीपक से जिसका सब कुछ स्पष्ट हो जावे। इस व्याख्या में 'संध्या' का अर्थ 'साँझ' मान लिया गया है।

(कृ० पृ० उ०)

दूसरी बात उनके वर्णन के विषय में है। उनका वर्णन प्रायः ऐसा होता है कि उसका ठीक-ठीक अर्थ तब तक नहीं खुलता जब तक कि मनुष्य उनकी प्रेम-पद्धति और विचार-धारा से परिचित न हो। इसी कारण उनके काव्य प्रायः अश्लील समझे जाकर हेय हो गये। प्रतीकों के—जो अप्रसिद्ध हों—अत्यधिक प्रयोग से लक्ष्य आवरण में चला जाता है।

एक बात और स्मरण रखने योग्य है। सूफी इस्लाम के प्रचारक थे। वे जहाँ गये, वहाँ के सर्वसाधारण की भाषा को अपनाया, उनकी रीतियों का अध्ययन किया तथा अपने काव्य में उन्हीं की रीतियों के अनुकूल प्रतीक गढ़ कर उन्होंने उस भाषा का व्यवहार किया।

परन्तु म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'संधा' ही है। इसका अर्थ अभिसंधि सहित या अभिप्रायः युक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'संधाय' (अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट मानते हैं।············परन्तु बौद्ध-धर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द और यह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

—पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ८२।

महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन जी : "इस भाषा को—सिद्धों की भाषा को—पुराने लोगों ने संध्या भाषा कहा है और आजकल उसे निर्गुण, रहस्यवाद या छायावाद कह सकते हैं।"

—पुरातत्व निबन्धावली, पृ० १६०।

प्रतीक

उपयोग

सृष्टि के आदि से ही मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करने तथा अपने अनुभवों को अपने साथियों को बोधगम्य कराने के लिए उपमाओं और रूपकों का आश्रय लेते आये हैं। इनकी सहायता से वक्ता का भाव सरलता से समझ में आ जाता है। आवश्यक यह था कि उपमान अथवा अप्रस्तुत श्रोता का परिचित हो अन्यथा उपमेय और उपमान, प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही उसके लिए अव्यक्त होने से, अनुभव में न आये हुये होने के कारण अस्पष्ट होते और प्रस्तुत विषय उसके लिए किसी भी प्रकार बोधगम्य न हो सकता था। इस प्रकार साहित्य में अनेक उपमान और रूपक सर्व प्रसिद्ध हो गए। इसी प्रकार प्रकृति के अनेक दृश्य, उसके व्यापार एवम् अन्य वस्तुयें किन्हीं विशेष गुणों, क्रियाओं, भावों आदि की द्योतक हो गईं। प्रत्येक धर्म में इस प्रकार के भावों की उद्भावना सर्व साधारण सी बात है। इस प्रकार प्रतीकों का व्यवहार प्रत्येक धर्म, जाति और समय में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हाप्किन्स महोदय के अनुसार "प्रतीक धर्म के सहायक और विरोधी दोनों ही होते हैं: यदि वे किसी भाव के द्योतक होते हैं, तो उससे उस भाव को सबलता प्राप्त होती है, परन्तु जब वह उस भाव का स्थान ही ग्रहण कर लेते हैं तो वे घातक (Menace) हो जाते हैं।"[1] मूर्ति पूजा की दुर्गति भी बहुत कुछ इसी स्थान-विपर्यय के कारण हुई है। सारांश यह है कि जब मनुष्य किसी अमूर्त्त भाव को दूसरों पर प्रकट नहीं कर पाता है तो किसी अन्य मूर्त्त वस्तु का आश्रय लेता है। इस प्रकार एक ही वस्तु बार-बार एक ही भाव को स्पष्ट करने में प्रयुक्त होने के कारण कालांतर में प्रतीक बन जाती है और उस भाव की द्योतक हो जाती है। इस प्रकार जैसे जैसे प्रतीक सर्व जनीन होता जाता है, सर्व साधारण में प्रतिष्ठा पाता जाता है, उससे लक्षित भाव का द्योतन अधिकतर सुस्पष्ट, सहज और सुलभ होता

१—हाप्किन्स: ओरीजिन एण्ड एवोल्यूशन ऑव रिलीजन, पृ० ४५।

जाता है। इन प्रतीकों का व्यवहार धार्मिक विवेचन में अधिक और साहित्य में समुचित हुआ है।

प्रतीकों का एक और व्यवहार भी पाया जाता है। प्रतीकों का प्रयोग केवल इस कारण नहीं है कि वह बात अन्य प्रकार से स्पष्ट ही नहीं हो सकती थी—अपितु उसका स्पष्ट भाषा में कहना खतरे से खाली न होने के अतिरिक्त अभीष्ट लाभ भी प्राप्त न कर सकता था। इस प्रकार उद्धत शासकों की क्रूरता पर संयत बंधन स्थापित करना इन प्रतीकों का महान कार्य है। ईसप की फेबिल्स, फारसी की हिकायात तथा पंचतंत्र आदि की कथाओं में प्रतीकों की सहायता से विचारशील मंत्री अपने निरंकुश उद्धत और क्रोधी शासक को सुशिक्षा की कड़वी बटी निगलवाने में समर्थ हो सके।

गुह्य-मत और प्रतीक

जैसा कि पूर्व पृष्ठों में कहा जा चुका है प्रत्येक धर्म में कुछ न कुछ रहस्य-भावना निहित रहती ही है। इस रहस्य का उद्घाटन 'गूँगे का गुड़' है; अनिर्वचनीय है; भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त किया ही नहीं जा सकता है। अतः इस रहस्य-भावना को व्यक्त करने के लिए प्रतीक उपयोगी सिद्ध हुए, और इनकी सहायता से रहस्य का स्पष्टीकरण और रहस्योद्रेक का अनुभव कराया जाने लगा। मूलतः रहस्य-भावना होने के कारण सूफीमत में प्रतीकों का बाहुल्य ही नहीं है वरन् प्रतीक ही सूफीमत के सर्वस्व हैं। नवोत्थान काल में इन प्रतीकों ने सूफियों की इस्लामी धर्मान्धता से रक्षा की और बाद में प्रतीक ही सूफीमत की अभिव्यंजना और प्रचार में समर्थ हो सके।

गुह्य-मतों के विषय में एक बात और ध्यान देने योग्य है। प्रत्येक गुह्यवादी वस्तुतः अपने मत का प्रचारक होकर भी, उसके सार्वभौम प्रचार का आकांक्षी होते हुए भी उसकी गुह्यता को हाथ से नहीं जाने देना चाहता है। इससे उसकी मर्यादा बनी रहती है। प्रतीक से उसकी गुह्यता तो अक्षुण्ण बनी ही रहती है, साथ-साथ उन प्रतीकों से अनभिज्ञ भोली जनता भी उनके 'अनर्गल' प्रलाप में मनोरंजन का अनुभव करती है। इस प्रकार उसके प्रति जनता का आकर्षण होता है और कालांतर में यह औत्सुक्य एवम् आकर्षण श्रद्धा और विश्वास में परिवर्तित हो जाता है।

सूफियों के कुछ प्रसिद्ध प्रतीक

सूफियों का प्रधान प्रतीक है 'प्रणय'। उसका आलम्बन है प्रियतम—माशूक। देखने में तो यह आलम्बन कोई पार्थिव किशोर ही होता है[1]। परन्तु इससे उनका लक्ष्य उस परम आराध्य का ही रहता है जो इतर बंधनों से परे होने की भाँति लिंग-नियमन से भी परे है। इस प्रियतम की कुछ विशेषतायें भी हैं—वह सुन्दरतम ही नहीं सौंदर्य का मूल स्रोत है। यद्यपि उसकी आभा यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रही है, तथापि उसका दर्शन दुर्लभ है। उसका अस्तित्व, उसका सौंदर्य शाश्वत है। तथा यदि उसका सानिध्य सुलभ हो सके, तो तज्जनित आनन्द भी शाश्वत होगा।

प्रियतम अगोचर है। अतः उसका हिजाब (पर्दा) भी प्रतीक हुआ। तथा विप्रलम्भ एवम् उसके अन्तर्गत की समस्त दशायें—उद्दीपन, संचारी आदि भाव भी उसी के द्योतक हुये। संयोग उसका लक्ष्य हुआ। उसका प्राप्त करना (फना हो जाना) परम ध्येय हो गया। तदुपरान्त प्रेमी प्रियतम बन जाता है। अतएव मृत्यु का आलिंगन प्रियतम के आलिंगन का प्रतीक समझा गया।

ईरान में पूर्णोल्लास प्राप्ति के साधनों में से सुरा-सेवन प्रमुख था। अतः सुरा, साकी (शराब पिलाने वाली) सागर (पात्र) प्याला, सराय (सुरापान करने का स्थान-विशेष) तथा तज्जनित उल्लास, झूमना और बेहोशी सब के सब प्रतीक रूप में ग्राह्य हुए हैं। एक विद्वान की सम्मत्ति में 'हाफिज की मदिरा आन्तरिक प्रसन्नता, सराय पूजागृह और फारस का पुराना पुजारी आत्मिक गुरु है[2]।" इस प्रकार सुरा आन्तरिक उल्लास, साकी परमात्मा तथा बेहोशी

---

१ साधारणतः सूफियों का प्रियतम किशोर ही होता है, परन्तु अरबी और हाफिज आदि दिग्गज सूफियों ने अपनी प्रियतमा स्त्री ही स्वीकार की है। इस किशोर रूप का आकर्षण भारतीय छायावादियों पर भी लक्षित होता है। प्रसाद की प्रियतमा वस्तुतः रमणी है परन्तु उसके लिए वे पुल्लिंग क्रिया प्रयुक्त कर ही जाते हैं—

> शशि मुख पर घूँघट डाले, अन्तर में दीप छिपाये।
> जीवन की गोधूली में, कौतूहल से तुम आये॥

२ ईरान के सूफी कवि : हाफिज पर लेख।

संसार से निर्लिप्त भाव के प्रतीक हुये। एक बात और ध्यान रखनी चाहिये। साकी सुन्दर, चंचल, मोहक आदि गुणों से युक्त विशेष वाँछनीय होता है। अतः उसके गुणों का बखान—उसका नख-शिख-वर्णन उसकी अदाओं का चित्रण भी सुरापान का अंग बन गये। सूफियों का साकी उनका प्रियतम परमात्मा है। अतः उसका नख-शिख भी प्रतीक के अन्तर्गत माना जावेगा।

सुरा इस्लाम में वर्जित (हराम) है। ईरानी इस्लाम को स्वीकार करके भी मुंह की लगी मदिरा को छोड़ न पाते थे। अतः वे प्रायः धर्म-शास्त्रियों—शेख, जाहिद, मुल्ला आदि के प्रकोप के शिकार होते थे। परन्तु प्रतीकों की कृपा से सूफियों ने उनकी इतनी भर्त्सना की कि सर्व साधारण में वे उपहासास्पद समझे गये और फारसी काव्य तथा तत्पश्चात् उर्दू कविता में वे हास्य के प्रतीक बन गये।

प्राणी बन्धन में है। जीवात्मा शरीर की कारा को तोड़ कर प्रियतम से मिलने के लिये तड़प रहा है। पिंजड़े में बन्द पक्षी भी इसी भाँति तड़पता है। अतः बुलबुल कफस, आशियाना, सैयाद, कैदखाना और जंजीर भी प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुये। प्राणों की बाजी लगा कर प्रियतम से भेंटने की आकांक्षा रखने वाले सूफी साहित्य में शमा पर मर-मिटने वाले परवाने बन कर आ गये।

इसी प्रकार प्राकृतिक दृश्य गुलजार और सहरा, बहार और खिजाँ, बागवाँ तथा गुँची, घटा और बिजली तथा सामाजिक रीतियाँ—जन्मोत्सव, लड़की की ससुराल को बिदा, हाट में हानि-लाभ, आदि अनेक व्यापार प्रतीक बन गये। इनमें से कतिपय सुस्पष्ट होने से अधिक आकर्षक और संकेतित भावों के सुन्दर व्यंजक हुये।

अन्योक्ति तथा समासोक्ति-प्रचलन

अस्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सूफी का इन पार्थिव प्रतीकों से कोई प्रयोजन नहीं होता है। वह जिसका वर्णन करना चाहता है उसका बोध इन प्रतीकों के द्वारा कराता है। इस प्रकार सूफी काव्य अन्योक्तियों से भरा पड़ा है। अन्योक्ति-विधान के विषय में ध्यान देने योग्य बात यह है कि अप्रस्तुत (विषय) प्रस्तुत का (विषयी) से जितना अधिक लगाव होगा, अन्योक्ति का विधान भी उतना ही सुन्दर और सुगम होगा। परन्तु यदि अप्रस्तुत स्वयं प्रस्तुत हो जावे जैसा कि सूफियों की अनेक मसनवियों में प्रायः हो गया है तो ऐसे स्थलों पर जो आध्यात्मिक पक्ष की ओर संकेत मिलते हैं, वे समा-

सोक्ति के अन्तर्गत ही रखे जा सकते हैं। समासोक्ति में प्रस्तुत का वर्णन करते हुये अप्रस्तुत की ओर संकेत-मात्र होता है।

उलटवांसियाँ—

प्रतीकों के अत्यधिक प्रचलन से, अन्योक्ति और समासोक्ति की बहुलता से भाषा में बनावट आ जाती है। तथा एक प्रतीक को बार-बार प्रयोग में लाने से उसका सौन्दर्य, आकर्षण और अनूठापन भी फीका पड़ जाता है और वक्ता की ओर जनता का लगाव भी अपेक्षाकृत कम होने लगता है। अतः अपनी धुनि के पक्के और मस्त तथा जनता को विस्मय-विमुग्ध कर अपनी धाक जमाने वाले स्वच्छंद सूफियों ने उलटवांसियों द्वारा अपनी प्रतिष्ठा ही स्थापित नहीं की, अपितु जनता का आकर्षण भी अक्षुण्ण बनाये रखा। भारत में उल्टी कहने वालों में कबीर अधिक प्रसिद्ध हैं।

कुछेक विद्वानों की सम्मति में उल्टी का व्यवहार गोरखनाथ जी के हठयोग की देन है। गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह में प्रतिपादित किया गया है कि संसार का क्रम उल्टा है। वे धर्म-अर्थ-काम मोक्ष. ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास. पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश............ आदि क्रम को स्वीकार करते हैं। परन्तु यह क्रम उल्टा है, क्योंकि इसमें सर्वोत्तम वस्तु को अन्तिम और निकृष्ट पदार्थ को प्रथम स्थान दिया गया है। योगमत का क्रम है—मोक्ष धर्म-अर्थ-काम, संन्यास-वानप्रस्थ-गार्हस्थ-ब्रह्मचर्य.........आदि। यही तंत्र सम्प्रदाय की रीति है।[1] इस साम्प्रदायिक वृति का परिणाम यह हुआ कि योगी और तांत्रिक लोग दुनिया से उल्टी बातें कहने के अभ्यस्त हो गए। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती ही गई, घटी बिलकुल नहीं और वे लोग अधिकाधिक उत्साह से डंके की चोट सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके, धक्कामार बनाके कहते गए।"[2]

सारांश यह कि इन योगियों की अनुकम्पा से उलटवांसियों का पूर्ण प्रचार हो गया और वे जनता समादृत हुईं। सूफी भी इस प्रभाव से अछूते न रहे। इनका प्रभाव अब तक फक्कड़ों की अटपटी और बेतुकी बातों में दृष्टिगोचर होता है।

---

१ गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, पृ० ५८ व ५९।

२ हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० ८० व ८१।

भारतीय वातावरण में

प्रथमागमन

खलीफा उमर के शासन काल में प्रथम अरबी जहाजी बेड़ा दक्षिण भारत के मालावार तट पर सन् ६३६ ई० में पहुँचा। यहाँ पर उनका स्वागत हुआ और उनको व्यापारिक सुविधायें एवं धार्मिक स्वतन्त्रता भी प्रदान की गई[1]। तदनन्तर खलीफा वालिद के समय में ईराक के क्रूर शासक हल्लाज ने अपने सेनानी कुतैबा को तुर्किस्तान की ओर तथा मुहम्मद बिन कासिम को सिंध की ओर आक्रमण की आज्ञा दी। उन दोनों को एक ही आज्ञा दी गई थी कि "चीन तक धावा मारो[2]।" मुहम्मद बिन कासिम ने सन् ७१२ ई० में सिन्ध को विजय करके सिन्ध और मुल्तान के प्रान्त मुस्लिम साम्राज्य में सम्मिलित कर दिये। इस मुस्लिम विजय वाहिनी के साथ कुछ सूफी फकीर और दरवेश भी आए थे। इन्होंने देखा कि भारत भूमि अन्न-धन-जन सम्पन्न ही नहीं है, अपितु अध्यात्म-विद्या के लिये भी उर्वरा है। अतएव सिन्ध-विजय के साथ ही मुल्तान इन सूफियों का प्रधान क्षेत्र बन गया और वे अपने मत के प्रचार में संलग्न हो गये। नवीं शती में बसरा से अबू सूफी सिन्ध आया था जिसकी मृत्यु भी यहीं हुई। दशवीं शताब्दी में मन्सूर हल्लाज ने भी जल-मार्ग से भारत-यात्रा की थी और उत्तरी भारत तथा तुर्किस्तान के मार्ग से लौटा था। तथा ग्यारहवीं शती में बाबा रिहान बहुत से दरवेशों के साथ बगदाद से भड़ौंच आये थे।[3]

सारांश है कि सिन्ध-विजय के पश्चात् भारत में सूफियों का आगमन और प्रचार चलता रहा। तुर्क-विजय के पश्चात् तो भारत पर तुर्क शासन ही स्थापित हो गया और अनेक मुसलमान केवल सूफी दरवेश ही नहीं, यहाँ पर बस ही गये।

१ ताराचन्द : इन्फल्यूएन्स ऑव इस्लाम ऑन इंडियन कल्चर, पृ० ३१।

२ प्रो० हबीब : अर्ली मुस्लिम मिस्टीसिज्म, काशी विद्यापीठ के रजत जयन्ती अभिनन्दन ग्रन्थ के अंगरेजी भाग में लेख, पृ० ६६।

३ ताराचन्द : वही, पृ० ४६।

सूफी विचार-धारा के पोषण में बौद्ध-धर्म तथा अन्य भारतीय धार्मिक भावनाओं का कितना योग था इस पर पहले ही विचार प्रस्तुत किया जा चुका है। किसी-किसी विद्वान् की सम्मति में सूफीमत कुरान के आधार पर की हुई अद्वैतवाद की व्याख्या है। तथा तुर्किस्तान विजय के साथ ही यहाँ पर फैले हुए बौद्ध धर्म की महायान शाखा का इस्लाम पर प्रचुर प्रभाव पड़ा था। परिणाम स्वरूप इस्लाम में मुजासिमिया विचारों का प्रवेश पाया जाना है।[1]

योग-धारा से भेंट

इस समय भारत से बौद्ध-धर्म निर्वाण प्राप्त कर चुका था। केवल सिद्ध-मार्ग और गोरखनाथ के योग-मार्ग के रूप में वह अब भी टिमटिमाता जा रहा था। तिब्बती किंवदन्ती के अनुसार तो गोरखनाथ पहले बौद्ध बाजीगर थे।[2] इन योगियों का अड्डा इस समय तक पंजाब बन चुका था। इस प्रकार नवागत सूफी विचारों का नाथ-पंथी योग विचार-परम्परा से साक्षात्कार हुआ। योगियों की अनेक बातें जनता में आकर्षण प्राप्त कर चुकी थीं। फलतः सूफियों को भी वे बातें अपना कर जनता का मनोरंजन करते हुए अपनी विचार-धारा का प्रचार सुगम प्रतीत हुआ। अस्तु इस मत के विषय में कुछ विस्तार से विवेचन की आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

१ प्रो॰ मुहम्मद हबीब : अर्ली मुस्लिम मिस्टीसिज्म—काशी विद्यापीठ रजत-जयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ के अंगरेजी भाग में लेख, पृ॰ ५८—

"In Turkistan and Turkish lands in general, Islam was gradually but slowly displacing Mahayan Budhism, but the growth in popularity of Majassimia sects showed how superficial that conversion was."

२ रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ॰ १२६।

नाथ-पंथ

विकास

इस मत के प्रारम्भ और विकास के विषय में ऐतिहासिक सामग्री इतनी संदिग्ध, अपर्याप्त एवम् त्रुटिपूर्ण है कि उसके आधार पर कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। हाँ, इतना अवश्य विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि किसी समय में यह मत बड़ा ही लोकप्रिय था।[1] नाथ मत मूलतः एक योग सम्प्रदाय है। इसके नाथ-मत कहे जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि इसके मुख्याचार्य 'नाथ' कहलाते थे। यह मत एक प्रकार से बौद्ध भक्ति-सम्प्रदाय तथा शैव-मत का सम्मिश्रण सा प्रतीत होता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार तो नाथ-मत बौद्ध-तंत्रवाद का ही रूप है,[2] जिसने बाद में शैव रूप धारण कर लिया था। परन्तु किसी-किसी विद्वान की धारणा है कि नाथ-मत मूलतः शैव-मत है, जो विकसितावस्था में बौद्ध भक्तिवाद में अन्तर्निहित हो गया।[3]

बौद्ध-विचारों में क्रान्ति

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के साथ ही किस प्रकार उनके ऐतिहासिक व्यक्तित्व को दूर फेंक कर, महायान न केवल आकर्षक रूप धारण करता गया, वरन् महायान से मंत्रयान् और तदुपरान्त वज्रयान में परिणत हो गया। इसका विवेचन पिछले पृष्ठों में हो चुका है। यही वज्रयान बौद्ध तंत्रवाद भी कहलाता है। चर सिद्ध जिनमें कुछ नाथ भी सम्मिलित हो गये हैं, इसी तंत्रवाद की देन हैं।

तंत्रवाद

मूलतः तंत्रवाद न तो केवल हिन्दू विचार-धारा का परिणाम

१—डा० शशिभूषण दास गुप्ता : ओब्सक्योर रिलीजियस कल्टस, पृ० २१६।

२—एन० वसु : मार्डन बुद्धिज्म एण्ड इटस फौलोअर्स इन उड़ीसा, भूमिका भाग।

३—डा० शशिभूषण दास गुप्ता : वही, पृ० २२०।

है और न केवल बौद्ध मत का। वास्तव में यह भारत का अति प्राचीन सम्प्रदाय है, जो बौद्ध विचार-धारा के सम्पर्क से बौद्ध-तंत्रवाद और हिन्दू विचार-धारा के सम्पर्क से हिन्दू-तंत्रवाद का रूप का धारण कर सका है।[1] बौद्ध तंत्रवाद में हठयोग की कतिपय साधनायें सम्मिलित हो गईं और पंच मकार—मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन तथा मुद्रा—की प्रतिष्ठा स्थापित हो गई। भक्त की पूरी सफलता के लिये यह आवश्यक साधन बन गए।

सहजयान

बौद्ध-तंत्रवाद का विकास सहजयान के रूप में हो गया। सहजयान सर्व साधारण के लिए सुलभ तो था ही, इसमें कुछ विशेष आकर्षण भी थे। सहजयानियों की मुख्य विशेषता थी उनका आलोचनात्मक दृष्टिकोण। इन सिद्ध-कवियों ने अपने दोहे और पदों में जीवन के आचारात्मक दृष्टिकोण तथा धार्मिक विधानों के विरोध में आवाज उठाई थी। विधि-विधानों का पूर्ण खण्डन करना इनका काम था। इनके प्रभाव से जैन भी अछूते न रहे। तत्कालीन जैनों के अपभ्रंश के दोहों में भी खण्डनात्मक प्रणाली और आलोचनात्मक दृष्टिकोण दृष्टिगोचर आता है।

इनकी एक और विशेषता थी। सहज धर्म स्वाभाविक है। अतएव पढ़ना-लिखना न केवल व्यर्थ समझा गया, वरन् पढ़ने-लिखने की ओर ये सिद्ध घृणा का प्रचार करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि मूर्ख-विद्वान, दुराचारी-साधु समकक्ष समझे जाकर समान प्रतिष्ठा के पात्र हुए। कुछ अंशों में गुण की अवहेलना होने लगी।

पढ़ने-लिखने की महत्ता हटते ही गुरुवाद का विशेष महत्व स्थापित हो गया। अतएव गुरु-पूजा का प्रचार हो गया।

इन सहज यानियों का लक्ष्य था 'महासुख' की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति में 'काय-साधना' का मुख्य स्थान था। इनका विचार था कि संसार का मूल तत्त्व शरीर में प्रस्तुत है। अतएव काय-साधना से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान, सुख-महासुख की प्राप्ति हो सकती है। काय-साधना के लिए योग-साधना और कुण्डलिनी-जागरण की विशेष आवश्यकता समझी गई।

1—डा० शशि भूषण दास गुप्ता: वही, पृ० २०।

नाथ-मत पर जो बौद्ध-तंत्रवाद अथवा योग-सम्प्रदाय का प्रभाव लक्षित होता है, उसका कारण सिद्ध-मत है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि नाथमत, सिद्ध-मत का ही विशेष रूप है।

नव नाथ

इस नाथ-मत के आदि प्रवर्त्तक आदि-नाथ स्वयम् शिव कहे जाते हैं। किन्तु मानुष आदि-नाथ मत्स्येन्द्रनाथ हैं। इस मत को अधिक लोकप्रिय बना देना तथा उसमें सिद्धान्त-ग्रन्थों का प्रणयन करना इनके उत्तराधिकारी एवम् प्रिय शिष्य गोरखनाथ जी का कार्य था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है ८४ सिद्धों में कुछ नाथ भी सम्मिलित हो गए हैं। कनफट योगियों[1] को दीक्षित करते समय ८४ सिद्धों और नव-नाथ की पूजा का विधान है। इस प्रकार भी नाथ मत सिद्धमत का ही विशेष रूप प्रतीत होता है।

परन्तु इन नव-नाथों के विषय में समस्त विद्वानों का मतैक्य नहीं है। 'तंत्र महार्णव' के अनुसार आठ नाथ आठों दिशाओं में तथा एक नाथ मध्य में निवास करते हैं। इन नाथों की दिशायें तथा स्थान इस प्रकार हैं[2]—

क्रम संख्या	नाम	दिशा	स्थान
१	गोरखनाथ	पूर्व	जगन्नाथ का बन
२	जालन्धर पा	उत्तर	उत्तरापथ, ज्वालामुखी के पास
३	नागार्जुन	दक्षिण	गोदावरी का बन
४	दत्तात्रेय	पश्चिम	सरस्वती नदी के पश्चिम
५	देवदत्त	नैऋत	....
६	जड़ भरत	वायव्य	....
७	आदिनाथ	मध्य देश	कुरुक्षेत्र
८	मत्स्येन्द्रनाथ	अग्नेय	समुद्र-तट के समीप

(स्पष्ट है कि ईशान दिशा निवासी नवें नाथ का नाम तथा देवदत्त और जड़ भरत के निवास स्थान नहीं दिए गये हैं।)

१—नाथ-मत में दीक्षित व्यक्ति कनफट जोगी (योगी) कहलाते हैं।

२—गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह पृ० ४४ व ४५।

एक और किम्बदन्ती के अनुसार नव-नाथ इस प्रकार हैं[1]—

(१) गोरखनाथ; (२) मत्स्येन्द्रनाथ, (३) चर्पटनाथ, (४) मंगलनाथ, (५) घुग्गूनाथ, (६) गोपीनाथ, (७) सूरतनाथ और (८) चम्बनाथ।

मराठी किम्बदन्ती के अनुसार नव नाथों में ज्ञानेश्वर और मुक्ताबाई भी सम्मिलित हैं।[2]

ध्येय और साधन

यह मत स्वभावतः शक्ति-संचय में पूर्ण विश्वास मानता है। इसकी प्राप्ति योग-साधना द्वारा ही सुलभ है। किन्तु इसका अन्तिम ध्येय है शिवत्त्व प्राप्त करना, इसी शरीर में जीवन्मुक्त संज्ञा प्राप्त कर लेना। इस ध्येय की प्राप्ति का प्रधान साधन हठ-योग है। इसमें आसन, प्राणायाम तथा ब्रह्मचर्य का महत्त्व था। नारी की निन्दा करना उसी मत की देन है। उनके विचार में नारी बाघिनी-स्वरूपा है, जो पुरुष के भक्षण को सदैव लालायित रहती है। नाथ योगी वस्तुतः ब्रह्मचारी थे।[3]

इनकी साधना उल्टी साधना भी कहलाती है। इसके दो कारण हैं। प्रथम—संसार की प्रत्येक वस्तु अपने उद्गम से आगे की ओर अग्रसर होती है। परन्तु जीव अपनी साधना द्वारा अपने उद्गम—ब्रह्म—की ओर अग्रसर होता है। द्वितीय—प्रत्येक वस्तु की गति अधो मुखी होती है, किन्तु योगी अपनी साधना द्वारा कुण्डलिनी को ऊर्ध्वगति प्रदान करता है।

चन्द्र-सूर्य

नाथ-साधना में चन्द्र-सूर्य का विशेष महत्त्व है। चन्द्र उपभोग्य है और सूर्य भोक्ता। इन्हीं को माता का रक्त (रज) और पिता का बिन्दु (वीर्य) कहते हैं, जिससे समस्त संसार की रचना होती है।[4] चन्द्र साक्षात् शिव स्वरूप है तथा सूर्य (कालाग्नि) शक्ति

१—आर० टेम्पिल : दी लीजेण्डस ऑव दी पंजाब, भाग १, पृ० १८ व १९।

२—पांगाकर : श्री ज्ञानेश्वर-चरित, अध्याय, गुरु सम्प्रदाय पृ० ६०-७८।

३—डा० शशिभूषणदास गुप्ता : ऑब्सक्योर रिलीजियस कल्टस, पृ० २८१।

४—"मातु के रकत पिता के बिन्दू। उपजे दुओ तुरुक और हिन्दू॥"

—जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३१३।

स्वरूप है। चन्द्र का निवास सहस्रार चक्र में है, जहाँ से अमृत का वर्षण होता रहता है। जिस नाड़ी में होकर सोम-वर्षण होता है वह शंखिनी (बंकनाल) का मुख है, जिसे दशम द्वार कहते हैं। यह अमृत सूर्य द्वारा भस्म कर दिया जाता है। इस प्रकार जीवनामृत क्षय होता रहता है। योगी खेचरी मुद्रा[1] द्वारा दशम-द्वार को बन्द कर स्वयम् सोमपान करता है और क्षय से बच जाता है।

इसी शंखिनी (बंकनाल) को इड़ा भी कहते हैं। इसका ऊर्ध्व-मुख दशम द्वार है और अधोमुख मूलाधार चक्र में प्रसुप्त कुण्डलिनी (सूर्य) के समीप है। यह सोमपान कर विषाक्त पदार्थ उत्पन्न करती है, जिनसे शरीर क्षय को प्राप्त होता जाता है। इस कुण्डलिनी की ऊर्ध्वगति होने से चन्द्र-सूर्य-संयोग (शिव-शक्ति-मिलन) हो जाता है, जो महासुख का विधाता है। सुष्मना के भीतर व्रजा, उसके भीतर चित्रिणी और उसके भी भीतर ब्रह्मनाड़ी है जो कुण्ड-लिनी-शक्ति का असल मार्ग है। इडा या इंगला को गंगा, पिंगला को यमुना और सुष्मना को सरस्वती कहते हैं। इन तीनों का ब्रह्मरन्ध्र में जहाँ संगम हुआ है, वही त्रिवेणी या प्रयाग कहलाता है।

रसायन-स्कूल

जिस प्रकार नाथ-योगी जीवन्मुक्त होना चाहते हैं, उसी भाँति रसायनवादी भी रसों (Chemicals) के प्रयोगों द्वारा जीवन्मुक्त होना चाहते हैं। वस्तुतः रस-विवेचन विज्ञान का विषय है, परन्तु यह भी धार्मिक विषय बन कर एक 'वाद' का अंग बन गया। 'रसार्णव' में पार्वती शिवजी से जीवन्मुक्त का रहस्य पूछती हैं। शिव जी उत्तर में रस (पारद) का महत्त्व बतलाते हुए जीवन्मुक्ति के लिए उनका प्रयोग बतलाते हैं। नाथों ने रसायन-स्कूल में जीवन्मुक्ति का रहस्य देखकर उसे भी अपना लिया। अस्तु रसायन-चर्चा भी नाथ-योगियों का प्रिय विषय बन गया।

वेष

गोरखनाथ के मत में योगी के चिह्न, मुद्रा, नाद, विभूति और आदेश बताए गये हैं। कान में छिद्र करके जो कुण्डल धारण किये जाते हैं, वे मुद्रा या दर्शन कहलाते हैं। ये लोग दो-तीन अंगुल

१—इस मुद्रा में साधक अपनी जिह्वा को उलट कर दशम द्वार से लगाकर उसे बन्द कर देता है।

की काली सींग की छोटी-सी सीटी गले में धारण करते हैं, जिसे नाद (श्रृंगीनाद) कहते हैं और जो सेली नामक काले ऊनी धागों से गुथी होती है। इनके हाथ में नारियल का एक खप्पर होता है। ये लोग गेरुआ वस्त्र और जटा धारण करते हैं, शरीर पर भभूत और ललाट पर त्रिपुण्ड धारण करते हैं।[१]

योगधारा की मुख्य-आकर्षक बातें

ये नाथपंथी हठयोग के समर्थक थे। आसन एवम् प्राणायाम के अभ्यास द्वारा वास्तव में शरीर की शक्ति विलक्षण हो जाती है। ये योगी इन कलाओं का प्रदर्शन जन साधारण के समक्ष बड़े उत्साह से करते थे। जनता इनकी अलौकिक क्षमता से प्रभावित होती, इनमें दैवी चमत्कार और सिद्धि-सम्पन्नता का योग मानती। परिणाम-स्वरूप ये श्रद्धा के पात्र बनते और प्रतिष्ठा पाते थे। इन समस्त योगियों ने कुण्डलिनी-तत्त्व को भले प्रकार समझ भी लिया था और उसे जागृत कर चक्रभेद का रहस्य पा लिया था, ये संदिग्ध ही है, किन्तु 'इडा-पिंगला-सुषमन नारी' के प्रयोग बिना इनकी कोई बात पूरी ही न होती थी। तथा समस्त बाह्याचार का खण्डन करते हुए ये लोग 'सहज समाधि' किंवा 'शून्य-समाधि' की चर्चा भी अवश्य किया करते थे, जिसमें कर्मकाण्ड की बहुलता से व्यथित जनता ने सरसता का अनुभव किया। फलतः इस मत की ओर जनता विशेष रूप से आकर्षित हो गई; यही कारण था इसके लोक-प्रिय होने का।

इन सिद्धों और योगियों द्वारा एक विशेष कार्य हुआ। वह है भारतीय भाषाओं का विकास। बौद्धमत के प्रचार से पूर्व धार्मिक चर्चाओं का माध्यम संस्कृत थी। महात्मा बुद्ध ने जनता की भाषा—पाली, में अपने उपदेश प्रारम्भ किये। अतएव उनकी शिक्षाएँ सर्व-साधारण तक पहुँच कर उनको प्रभावित करने में समर्थ हो सकीं। यह गुर इन सिद्धों और योगियों ने भी इसी परम्परा से प्राप्त किया

१—हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ ४५। तथा तुलना कीजिये :—

मेखल, सिंगी, चक्र धंधारी। जोगबाट, रुदिराछ अधारी॥
मुद्रा स्रवन, कंठ जपमाला। कर उदपान, कांध बघ छाला॥
पाँवरि पाव, दीन्ह सिर छाता। खप्परि लीन्ह वेष करि राता॥

—जायसी-ग्रंथावली, पृ० ५३।

और अपने मत का प्रचार प्रान्तीय भाषाओं में करने लगे, जिनमें अन्य प्रान्तों की भाषाओं के शब्द भी रहते थे, तथा कुछ नाथ-पंथ के पारिभाषिक शब्द भी रहते थे। इस प्रकार इनकी 'सधुक्कड़ी' भाषा समस्त उत्तर भारत में प्राय: समझी जा सकती थी। आधुनिक बोली में कहना चाहें तो इस भाषा को उत्तर भारत और राजस्थान की तत्कालीन राष्ट्र-भाषा कह सकते हैं। इसके विकास में इन योगियों का प्रयत्न सराहनीय है।

भाषा के सम्बन्ध में एक बात और ध्यान देने योग्य है। ये योगी प्राय: विद्वान् तो होते नहीं थे। अतएव इनके प्रवचनों में सम्बद्धता का अभाव रहता था, विचारों में तारतम्य न पाया जाता था और इनके निष्कर्ष स्वच्छ तार्किक शैली विहीन होते थे। एक बात अवश्य थी। ये लोग मनोविज्ञान के कतिपय सिद्धान्तों के प्रयोगों में पूर्ण दक्ष होते थे। समूह-मनोविज्ञान (Mob-Psychology) के सिद्धान्तों की सहायता से जनता को अपनी वाणी से विमुग्ध कर सकते थे। साथ ही इनको एक खटका भी बना रहता था कि कोई प्रतिद्वन्द्वी भी इसी शैली को अपना कर इनकी पोल खोलकर 'मियाँ जी की जूती और मियाँ जी का सर' वाली कहावत चरितार्थ न करने लगे। अत: ये अटपटी, अश्लील और उल्टी भाषा का प्रयोग करते थे और फिर उसके प्रत्येक पद का बड़ा विशद विवेचन करते थे। इनकी इन सब बातों ने जनता को इतना मुग्ध कर लिया था कि उसकी यह सहज धारणा बन गई थी कि योगी की बातों का यथार्थ भाव योगियों के अतिरिक्त अन्य कोई समझ ही नहीं सकता। अत: उनकी प्रतिष्ठा प्रति दिन बढ़ती ही जाती थी।

सूफियों पर प्रभाव

इस्लाम का भारत में प्रवेश हुआ। सूफी—प्रत्युत प्रत्येक मुसलमान अपने मत का प्रचारक है।[1] उन्होंने आते ही पंजाब प्रान्त में नाथों का प्रभाव देखा। उनके प्रति जनता के आकर्षण का विश्लेषण किया। उनकी कतिपय क्रियाओं से वे स्वयम् भी प्रभावित हुए। अतएव उनकी अनेक बातों को प्रचार की दृष्टि से, आकर्षक होने के कारण अथवा अपने मत के अनुकूल होने के कारण सूफियों ने अपने मत में सम्मिलित कर लिया।

१—ताराचन्द : इनफ्लूएन्स ऑव इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर, पृ० ३३।

भाषा का प्रश्न

प्रारम्भिक सूफी वास्तव में विद्वान् थे। सूफीमत की अधिकतर पुस्तकें अरबी भाषा में थीं तथा कुछ फारसी भाषा में थीं। प्रोफेसर हबीब की सम्मति में सूफीमत 'पोस्टग्रेजुएट' पाठ्य-क्रम था। कोई भी व्यक्ति बिना अरबी का विद्वान् हुए—तफसीर, हदीस तथा फिकह विद्याओं को पूर्ण रूप से समझे बिना—सूफी विचार-धारा से पूर्णत: अवगत नहीं हो सकता।[1] कतिपय चोटी के सूफी पंडितों के विषय में यह अवश्य ही सत्य है, परन्तु पिछले खेवे के अनेक सूफी साधारण पढ़े-लिखे किंवा अपढ़ फकीर थे। यह भी कदाचित हमारे योगियों के सम्पर्क का ही प्रभाव रहा हो, जिनकी दृष्टि में—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
एकै अच्छर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥
—कबीर।

अस्तु यहाँ के भी प्रसिद्ध सूफियों ने अपने मत सम्बन्धी पुस्तकें अरबी और फारसी भाषा में ही प्रस्तुत कीं। परन्तु प्रचार के लिए योगियों की भाँति देशी भाषा—भाखा—को अपनाया और कभी-कभी इसमें दोहरे भी कहने लगे।[2] परन्तु योगियों की सफलता देखकर इस प्रवृत्ति को अधिक उत्तेजना मिली और सूफी फक़ीर अपने खित्ते की बोली में ही प्रेम-कहानियाँ और सिद्धान्त-ग्रन्थ लिखने लगे। इस प्रयत्न में मलिक मुहम्मद जायसी को विशेष सफलता प्राप्त हुई।

आसन, प्राणायाम, इडा, पिंगलादि

आसनों में आकर्षण है ही। सफल आसन-विद् व्यक्ति के चरित्र में न सही, शारीरिक शक्ति में द्रष्टा की अवश्यमेव श्रद्धा हो जाती है। सूफियों में कष्ट-सहिष्णुता तो प्रारम्भ से थी ही। विकट आसन भी बड़े कष्ट-साध्य हैं और उनसे अभ्यास की क्षमता भी प्राप्त होती है। अतएव सूफियों में आसन सरलता से ग्राह्य होगए।

१—मुहम्मद हबीब : अर्ली मुस्लिम मिस्टीसिज्म—काशी विद्या-पीठ रजत-जयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ में लेख, पृ० ७१।

२—मौ० अब्दुल हक : उर्दू की इब्तिदाई नशोनुमा में सूफियाये कराम के काम, पृ० ४।

प्राणायाम से चित्त की एकाग्रता और स्मरण का अभ्यास बढ़ता है। इसकी उपादेयता ने सूफियों के जिक्र-खफी में विशेष स्थान प्राप्त कर लिया। प्रारम्भिक सूफियों में कुण्डलिनी का केवल संकेत-मात्र मिलता है, वह भी शायद महर्षि पातंजलि की कृपा का प्रसाद है। परन्तु इन योगियों की इडा-पिंगला और दशम-द्वार का इन सूफियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि बिना चक्र-भेद और दशम द्वार का भेद पाए कोई 'हक़' बन ही नहीं सकता था।

सूफी स्वयम् भी पारिभाषिक शब्द-प्रिय थे।[1] अतः योगियों के पारिभाषिक शब्दों, शून्य-समाधि, सहज-समाधि, तारी लगना, आदि का सूफियों में ज्यों का त्यों प्रचार पा लेना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। योगियों की भाँति सूफी भी बाह्याचार के कट्टर विरोधी थे। यहाँ के स्वच्छन्द वातावरण में उनका यह विरोध और अधिक तीव्रतर हो गया।

अद्वैत तथा भक्ति

हल्लाज ने 'अनल्हक़' की घोषणा कर अद्वैत का समर्थन किया था। अन्य विवेकशील सूफियों ने भी उसका समर्थन किया। किन्तु इस्लामी प्रतिबन्धों के कारण उसका अधिक प्रचार न हो सका। भारतीय वातावरण अद्वैत की गूँज से ओत-प्रोत था। यह अद्वैत-वाद तथा भक्ति मार्ग दोनों ही सूफियों के अनुकूल थे। इनसे उन को प्रोत्साहन मिला। फलतः भारतीय सूफियों में अद्वैत-भावना और भक्ति-भावना अधिक स्पष्ट लक्षित होती है।

भारतीय भावों से सामंजस्य

इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ के सूफियों की भाषा, शैली तथा पारिभाषिक शब्दावली में योगियों का इतना अधिक प्रभाव पड़ गया था कि साधारण जनता की दृष्टि में सूफी फ़क़ीर, वैष्णव भक्त और गोरख पंथी साधु में कोई अन्तर ही न रह गया था। यह तीनों प्रायः एक ही भाव के पर्याय बन गये थे और सभी श्रद्धा के पात्र थे।

१—मुहम्मद हबीब : अर्ली मुस्लिम मिस्टीसिज्म, काशी विद्यापीठ, रजत-जयन्ती, अभिनन्दन-ग्रन्थ में लेख, पृ० ७३—

"The Muslim mystics fondness for technical terms is notorious."

सूफियों की एक विशेषता अवश्य रही। उन्होंने इस्लामी फरिश्ते आदि के स्थान पर भारतीय देवताओं के नाम लेकर, वेद और कुरान को एक घोषित कर तथा राम और रहीम को एक मानकर भारतीय विचारों के साथ सामंजस्य स्थापन का सबल प्रयत्न किया था। यह सामंजस्य-भावना भी यहीं के वातावरण में पोषित भारतीय सूफियों की निजी विशेषता है।

दशम अध्याय

दर्शन

आखिरी-कलाम में

आखिरी-कलाम मलिक मुहम्मद जायसी की प्रथम कृति है। उस समय तक जायसी में न तो तीव्र प्रेमोदय हुआ था और न सूफियों के मूल सिद्धान्तों—उनके रहस्यों, ने उसके हृदय में स्थायित्व प्राप्त कर पाया था। अतएव इस काव्य में सूफी मत के सिद्धान्तों की खोज का प्रयत्न करने पर अवश्य ही निराश होना पड़ेगा। यह काव्य वस्तुतः अन्तिम न्याय की कथा-मात्र है। कवि इस्लामी सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञाता एवं उनका अटल विश्वासी भी प्रतीत नहीं होता जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है। उसने अपनी स्वच्छंदता-प्रिय प्रवृत्ति का अवश्य इसमें प्रमाण दिया है तथा समूचे काव्य के परिशीलन के उपरान्त यह भासित होता है कि उस व्यक्ति में प्रसुप्त क्षमता (potential energy) विद्यमान थी जो निकट भविष्य में उद्बुद्ध होने जा रही थी।

गुरु-महिमा

चाहे वातावरण के प्रभाव से हो, चाहे अशरफी गुरुओं की करामात और मान्यता के कारण हो, कवि गुरु-महिमा का कायल अवश्य हो चुका था। उसकी धारणा थी कि बिना गुरु-सेवा के उद्धार का कोई अन्य मार्ग नहीं है—

> जो चालीस दिन सेवे, बार बुहारै कोई।
> दरसन होइ मुहम्मद, पाप जाइ सब धोई ॥६॥ पृ० ३४२।

तथा यदि गुरु की अनुकम्पा हो जाय, तो सहज ही अभिलषित मार्ग का प्रदर्शन होकर ध्येय तक पहुँच हो सकती है—

> तिन्ह घर हौं मुरीद, सो पीरू। संवरत बिनु गुन लावै तीरू॥
> तथा, जो अस पुरुषहिं मन चित्तलावै। इच्छा पूजै, आस तुलावै॥
> —पृ० ३४२।

सूफी-मान्यताओं का अभाव

परन्तु सूफीमत के मुख्य अंगों—प्रणय, आकांक्षा, विरह, आदि का सर्वथा अभाव है। वास्तव में इस काव्य में प्रेम का लेश भी नहीं है। सूफी भावनाओं के कतिपय विरोधी एवं अन्य प्रकार के भाव भी प्रस्तुत हैं। साधारणतया सूफी अपनी परम्परा का उद्गम हजरत अली से मानते हैं। मुहम्मद साहब ने अली को ही योग्य समझ कर उन पर ही रहस्य-भावना का भेद विदित किया था। जायसी ने अली का स्मरण करते हुये इस ओर तनिक भी संकेत नहीं किया है, अपितु साधारण मुसलमान की भाँति उनके वीरत्व की ही प्रशंसा की है। बाबर की वीरता का वर्णन करते हुये कवि कहता है—

अली केरि जस कीन्हेसि खाँड़ा। —पृ० ३४१।

एक बात और है। सूफियों को छोड़ कर अन्य सब मुसलमान इबलीस को शैतान मानते हैं। इबलीस ने खुदा की आज्ञा पाकर भी उसके अतिरिक्त अन्य—आदम—को सिजदा नहीं किया था। "सूफी इबलीस की इस अनन्य रति पर मुग्ध हैं; उससे अनन्यता का पाठ पढ़ते हैं"।[1] वही परमात्मा का परम भक्त है। उसी को परमात्मा ने गुह्य-मार्ग (दशम द्वार) दिखलाया था। और उसी को वहाँ का पहरुआ भी नियुक्त कर दिया था—

× × × । नारद[2] कहँ बिधि गुपुत दिखावा॥
तू सेवक है मोर निनारा। दसईं पवँर होसि रखवारा॥
—पृ० ३०७।

परन्तु अभी तक, इस काव्य के रचना-काल तक, जायसी भी साधारण मुसलमान की भाँति इबलीस को शैतान अतएव नारकीय ही समझते थे—

काबुल इबलीस हु जो हारा। नारद होइ नरक महँ पारा॥
—पृ० ३४१।

१—चन्द्रबली पाण्डेय: तसव्वुफ अथवा सूफ़ीमत, पृ० ७१।

२—जायसी ने हिन्दू भावना के सामंजस्य की दृष्टि से इबलीस को नारद नाम दिया है।

अद्वैत-भावना

सूफीमत में गति न होने पर भी जायसी तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों से नितान्त अनभिज्ञ न थे। मुसलमानी एकेश्वरवाद तथा भारतीय अद्वैतवाद में तत्त्वतः भेद है। परन्तु जायसी पर अद्वैत का ही प्रभाव लक्षित होता है। यथा—

ईश्वर के अतिरिक्त समस्त संसार असत् है—

साँचा सोइ और सब झूँठे। —पृ० ३४१

यह समस्त संसार स्वप्नवत् ही असार है—

यह संसार सपन कर लेखा। —पृ० ३४२।

तथा इस विश्व में जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब उसी एक परमात्मा का प्रतिबिम्ब है—

सबै जगत दरपन कर लेखा। आपन दरसन आपुहि देखा ॥—पृ० ३४२।

एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। एक दर्पण—समतल दर्पण—के समस्त प्रतिबिम्ब सदैव असत् (Virtual) होते हैं।

ब्रह्म अकेला था। "एकोऽहम् बहुस्याम्" की इच्छा से उसने समस्त जगत का सृजन किया—

अपने कौतुक कारन, मीर पसारिन हाट। पृ० ३४९।

इस प्रकार ब्रह्म ही स्रष्टा, रक्षक एवम् संहारक रूपों में प्रतिष्ठित होता हुआ अन्त में फिर अकेला ही शेष रह जाता है—

भंजन, गढ़न, संवारन, जिन खेला सब खेल।
सब कहँ टारि मुहम्मद, अब होइ रहा अकेल ॥—पृ० ३४७।

इस काव्य में आए हुए ये संकेत जायसी की आन्तरिक जिज्ञासा का परिचय देते हैं। इसी प्रवृत्ति ने कालान्तर में जायसी को सच्चा सूफी बना दिया।

जायसी का स्वर्ग-वर्णन भी साधारण मुस्लिम दृष्टिकोण से ही है। उसमें शराब है, बढ़िया भोज्य पदार्थ हैं, हूरें हैं, उपभोग की अन्य सामग्री है। परन्तु इनसे उसकी मनस्तुष्टि नहीं हुई, क्योंकि यह तो सांसरिक वैभव का बृहत्तर आदर्श मात्र है। यह अन्तिम ध्येय नहीं हो सकता। अतएव उन्होंने द्वान्द्वातीतावस्था की अन्त में चर्चा कर मानो उसी को परम गति मान लिया है—

तात न जूड़ न कुनकुन दिवस राति नहिं दुक्ख।
नींद न भूख मुहम्मद, सब बिरसैं अति सुक्ख ॥—पृ० ३६०।

नाथादि पंथों का प्रभाव

जैसा कि ऊपर कई स्थलों पर कहा जा चुका है, इस समय नाथपंथी, तांत्रिकों, आदि का विशेष प्रभाव था। जायसी भी उससे अछूते न रहे थे। 'दशम द्वार प्रस्तुत है—

दीन्हेसि नौ नौ फाटका, दीन्हेसि दसवँ द्वार। —पृ० ३३६।

नाद-भेद भी दृष्टि से चूका नहीं है—

चौदह खंड ऊपर तर राखेउँ। नाद चलाइ भेद बहु भाखेउँ॥
—पृ० ३५७।

ईश्वर-झलक प्राप्त होते ही तारी लग जाती है—

झारि उमत लागी सब तारी।............ —पृ० ३५७।

माया से छुटकारा पाने का उपाय भी वही बतलाया है जो सम्प्रति 'सयाने' भूत, चुड़ैल, आदि से बचने का प्रायः बताया करते हैं।'[1]

अस्तु स्पष्ट है कि जायसी में जिज्ञासा थी, प्रतिभा थी। वे सतर्क भी थे। वातावरण पर भी दृष्टि थी। परन्तु अभी सुअवसर न आया था, जिसको प्राप्त कर वे स्वयं कृतकृत्य हो गये और हिन्दी को निहाल कर गए।

पद्मावत् में।

साहित्यिक दृष्टि से 'पद्मावत' जायसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है। कवि ने इस कथा में अध्यात्म और दर्शन का पुट देकर विकार-ग्रस्त संसारी प्राणियों के लिए उस संजीवनौषधि का आविष्कार किया था जिसका पूर्णतः सफल अनुभूत योग गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' नाम से प्रस्तुत किया। इस कथा के कतिपय स्थलों को समझने के लिए कुछ पारिभाषिक शब्दों, सूफियों की प्रेम पद्धति एवं तत्कालीन रुचि का जान लेना नितान्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ रत्न में जायसी के निजी धार्मिक विचार और दार्शनिक

१—देखिए, आखिरी-कलाम, पृ० ३४३।

विवेचन पृष्ठ-पृष्ठ पर दृष्टिगोचर होते हैं। अस्तु उनका अनुशीलन उचित ही नहीं, आवश्यक भी है।

प्रेम-पद्धति

सूफियों की साधना प्रेम-मूलक है। यह प्रेम वास्तव में परम प्रियतम परमेश्वर के प्रति होता है, किन्तु उसका वर्णन केवल प्रतीक रूप में ही संभव है। इस आदर्श प्रेम का वर्णन किसी पार्थिव व्यक्ति के प्रति प्रेम-वर्णन करके दिखाया जाता है। सूफियों का पार्थिव प्रियतम नारी रूप में भी होता है और किशोर रूप में भी। हाफिज, अरबी, आदि सूफी रमणी पर मुग्ध थे, परन्तु कुछ सूफी किशोरों को ही अपना प्रियतम चुनते हैं। सूफी नारियों में राबिया बसरी का नाम अमर है। उसने अल्लाह को ही अपना प्रियतम माना था।

जायसी की एक विशेषता है। उन्होंने अपनी प्रेम-पद्धति के विवेचन में अपने व्यक्तित्व को अलग रखा है। हमको कहीं से भी यह तनिक भी गंध नहीं मिलती कि जायसी किसी पार्थिव व्यक्ति के प्रेमी थे। उनका प्रेम केवल उसी के प्रति था और उन्होंने देखी थी सांसारिक प्रेम में भी उसी की झलक। अतएव जायसी का प्रियतम सीमित नहीं है। वह अनेक व्यक्तियों में और अनेक रूपों में विद्यमान है।

सर्व प्रथम नागमती अपने प्रेम को रत्नसेन के प्रति प्रकट करती हुई उसी परम के प्रति प्रेम का आभास देती है—

मैं जानेउँ तुम्ह मोही माँहा। देखौं ताकि तो हो सब पाँहा॥

× × × ×

तुम्ह सैं रन कोउ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिलै आपु जो खोवै, करै तुम्हार सो खोज॥ ६॥

—पृ० ३७

हीरामन सूआ भी अपनी स्वामिनी को उसी के रूप में देखता है—

जौ लहि जिवौं रात दिन, सँवरौ ओहि कर नावँ।
मुख राता, तन हरियर, दुहूं जगत लेहि जावँ॥२॥ —पृ० ३८।

पद्मावती तो सर्वत्र ही उसी परम का प्रतीक है—

जग कोइ दीठि न आवै, आछहिं नैन अकास।
जोगी जती संन्यासी, तप साधहिं तेहि आस॥६॥ —पृ० २१।

स्वयम् पद्मावती के लिए राजा रत्नसेन भी उसी परम का प्रतीक है। उसके साथी, मित्र किंवा गुरु—हीरामन में उसी की झलक पाकर उसकी विरहाग्नि कुछ मंद अवश्य पड़ जाती है—

पद्मावति उठि टेकै पाया। तुम्ह हुत देखौं पीतम छाया ॥ पृ० १०८।

इस तथ्य की पुष्टि इस बात से और हो जाती है कि प्रेम-मार्ग में सफल होने के लिए, ध्येय प्राप्ति के साधनों में अनुभवी सद्गुरु की संरक्षा की परमावश्यकता है। बिना गुरु-प्रदर्शन के ध्येय-लाभ असम्भव है। अतः पद्मावती सूए को गुरु-रूप में स्वीकार करती हुई साधना-पथ में प्रदर्शन के लिए याचना करती है। स्मरण रखना चाहिये कि उसका लक्ष्य है रत्नसेन से भेंट—

तुम्ह सो मोर खेवक गुरु देवा। उतरौं पार तेहि विधि खेवा ॥
—पृ० १०६।

जायसी के लिए अलाउद्दीन जैसा इन्द्रिय-लोलुप भी उसी परम शक्ति का प्रतीक है। राजा रत्नसेन अपने उच्च, अगम्य, एवम् अभेद्य कोट में भी अलाउद्दीन (उस परम) की दृष्टि से न बच सका—

जौ गढ़ साजै लाख दस, कोटि उठावै कोट।
बादशाह जब चाहै, छपै न कोनेउ ओट ॥ १५ —पृ० २३६।

सारांश यह है की जायसी की दृष्टि में प्रेम चाहे किसी व्यक्ति के प्रति हो, वह केवल उसी परम के प्रति प्रेम का प्रतीक है। इसका कारण भी है। समस्त जगत उसी से उत्पन्न हुआ है—

जना न काहु न कोइ ओहि जना। जहँ लगि सब ताकर सिरजना ॥
—पृ० ३।

अस्तु सब प्राणियों में उसी का अंश है—

सोई अंस घटै घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला ॥ पृ० ३०५।

अतएव किसी व्यक्ति के प्रति प्रेम केवल उसी के प्रति प्रेम है। इसी सिद्धान्त पर वामपक्षी (leftist) सूफी—हल्लाज के अनुयायी—अनलहक के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यहाँ पर यह याद दिलाना असंगत न होगा कि जायसी ने कथा के बहाने सूफी प्रेम-पद्धति तथा उसके कतिपय सिद्धान्तों का ही दिग्दर्शन कराया है।

सर्वोत्तम साधन

जायसी प्रेम-मार्ग को ध्येय-प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन मानते थे। यथा—

तीनि लोक चौदह खंड, सबै परै मोहि सूझि।
प्रेम छांडि नहिं लोन कछु, जो देखा मन बूझि ॥५॥—पृ० ३६।

तथा, भलेहि पेम है कठिन दुहेला। दुइ जग तरा पेम जेहि खेला ॥
—पृ० ४०।

और, पेम पंथ जो पहुँचै पारा। बहुरिन मिलै आइ एहि छारा ॥
—पृ० ६२।

अतएव जिस व्यक्ति ने ऐसे सरल उपाय के द्वारा ध्येय प्राप्त न की उसका जन्म लेना नितान्त व्यर्थ है—

जो नहिं सीस पेम पथ लावा। सो प्रिथिमी मँह काहेक आवा ॥
—पृ० ४०।

गुरु-महत्त्व

गुरु-कृपा से ही शिष्य के हृदय में प्रेमोदय होता है—

गुरू विरह-चिनगी जो मेला। जो सुलगाइ लेइ सो चेला ॥
—पृ० ५१।

तथा, वै सुगुरु हौं चेला, निति विनवौं आ चेरि।
उन्ह हुत देखै पावउं, दरस गोसाईं केरि ॥२०॥ —पृ० ८।

अस्तु, सूफियों में गुरु का महत्त्व अत्यधिक है। यदि सौभाग्य से सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय, तो फिर ध्येय-प्राप्ति भी निश्चित ही है—

मुहम्मद तेहिं निचिंत पथ, जेहि संग मुरसिद पीर।
जेहि कै नाव औ खेवक, वेगि लागि सो तीर ॥१६॥ पृ० ७।

तथा, बिनु गुरु पंथ न पाइये, भूलै सौ जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जा गोरख सौं भेंट ॥६॥ —पृ० ६२।

कष्ट-पूर्ण मार्ग

इस प्रकार गुरु-कृपा से साधक उसकी झलक पाकर प्रेम-पथ पर अग्रसर होता है। अनुभवी गुरु उसका पथ-प्रदर्शन करता है। परन्तु प्रेम मार्ग में कष्ट उठाने पड़ते हैं। यह मार्ग सरल नहीं है। सुखिया इस मार्ग पर चल ही नहीं सकता—

तुम सुखिआ अपने घर राजा। जोखिउँ एत सहहु केहि काजा ॥
—पृष्ठ ५६।

इस मार्ग पर वही चल सकता है जो अपना सर हथेली पर रखले—

पेम सुनत मन भूल न राजा। कठिन पेम, सिर देइ तौ छाजा ॥[1]
—पृ० ३६।

तथा, साधन्ह सिद्धि न पाइय, जौ लगि सहै न तप्प।
सो पै जानै बापुरा, करै जो सीस कलप्प ॥५॥

और, पेम-पहार कठिन बिधि गढ़ा। सो पै चढ़ै जो सिर सौं चढ़ा ॥
—पृ० ५१।

और, हौं रानी पद्मावती, सात सरग पर बास।
हाथ चढ़ौं हौं तेहिकै, प्रथम करै अपनास ॥१७॥ – पृ० १००।

परन्तु यह समस्त कष्ट आदि गुरु-कृपा से दूर हो जाते हैं। अतः गुरु पर पूर्ण विश्वास करके, उसकी आज्ञा में रह कर, इस मार्ग पर चलना चाहिए और समस्त बातें गुरु पर छोड़ देनी चाहिए—

मारै गुरु, कि गुरू जियावै। और को मार ? मरै सब आवै ॥
सूरी मेलु, हस्ति करु चूरू। हौं नहिं जानौं, जानै गुरू ॥
—पृ० १०५।

प्रियतम का स्वरूप

जिस प्रियतम के दीदार के लिए ऐसे विकट मार्ग से जाना पड़ता है, इतने कष्ट सहने पड़ते हैं। अपने को मिटाना होता है, वह प्रियतम "आदि एक करतारू" है। परन्तु उसका न कोई रूप है, और न कोई वर्ण है—

अलख अरूप अबरन सो कर्त्ता। × × × ॥
—पृ० ३।

सम्पूर्ण संसार में केवल वही सत् है, अन्य समस्त पदार्थ—प्राणी, आदि असत् हैं—

सबै नास्ति वह अहथिर, ऐस साज जेहि केर।
एक साजै औ भाजै, चहै संवारै फेर ॥६॥ —पृ० ३।

वही प्रियतम सृष्टि के प्रारम्भ में था, अब भी संसार के नाना रूपों में वही विद्यमान है और जब नाम-मूलक जगत् महा प्रलय में लय हो जायगा, तो केवल वही शेष रह जावेगा—

हुत पहले अरु अब है सोई। पुनि सो रहै रहै नहि कोई ॥
—पृ० ३।

१—तुलना कीजिए—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारै भुंइ धरै, सो पैठे घर मांहि ॥ —कबीर।

उसके कोई इन्द्रिय—कर्म अथवा ज्ञान—नहीं है, परन्तु वह सब कार्य करने में समर्थ है। उसका कोई स्थान भी नहीं है, किन्तु वह सर्व व्यापक है, प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। अतएव वह प्रत्येक वस्तु के बिलकुल पास है। यह बात दिव्य दृष्टि से ही संभव है अन्यथा वह बहुत दूर ज्ञात होता है—

जीउ नाहि, पै जियै गुसाईं। कर नाहीं, पै करै सबाईं॥
जीभ नाहि, पै सब किछु बोला। तन नाहीं, सब ठाहर डोला॥
स्रवन नाहि, पै सब किछु सुना। हिया नाहि पै सब किछु गुना॥
नयन नाहि, पै सब किछु देखा। कौन भाँति अस जाय बिसेखा॥
है नाहि कोइ ताकर रूपा। ना ओहि सन कोइ आहि अनूपा॥
ना ओहि ठाँउ न आहि बिनु ठाँऊ रूप रेख बिन निरमल नाँऊ॥

ना वह मिला न बेहरा, ऐस रहा भरिपूर।
दीठिवंत कह नीयरे, अन्ध मूरिखहि दूरि॥८॥ पृ० ३।

यदि केवल वही सत् है, तो अन्य समस्त दृश्य जगत असार ही है—

यह संसार सपन कर लेखा। बिछुरि गए जानौं नहि देखा॥

तथा, —पृ० ५५।

छार उठाइ लीन्हि एक मूठी। दीन्हि उड़ाइ पिरथिमी झूठी॥
—पृ० ३००।

अतएव इस स्वप्नवत् जीवन की आशा व्यर्थ है—

एहि जीवन कै आस का, जस सपना पलु आधु।
मुहम्मद जियतहि जे मुए, तिन्ह पुरुषन्ह कह साधु॥ —पृ० ६२।

इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति विवेक से कार्य ले तो उसको सर्वत्र वही दिखाई देता है—

परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा सो नावँ।
जहँ देखौं तहँ ओही, दूसर नहि जहँ जावँ॥६॥ —पृ० १०५।

तथा,

का सोवै, का जागै, अस हौं गएउ बिमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि॥ २८॥
—पृ० १३१।

यद्यपि जायसी ईश्वर को प्रियतम रूप में देखने के पक्षपाती

है, तथापि जो व्यक्ति उसको जिस रूप में देखने का प्रयत्न करता है, उसको वह वैसे ही दिखाई देता है:—

निरमल दरपन भाँति बिसेखा। जो जेहि रूप सो तैसेइ देखा[1] ॥
—पृ० १०।

सूफीमत के अङ्गों तथा सिद्धान्तों का विवेचन

इस काव्य में जायसी ने कहीं भी सूफीमत की चारों अवस्थाओं—शरीयत, तरीकत मारिफत तथा हकीकत का विवेचन नहीं किया है और न (मोमिन किंवा सालिक के) मुकामात की चर्चा की है। केवल एक स्थान पर उन्होंने इस ओर संकेत मात्र किया है—

नवौ खंड नव पौरी, औ तहं बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै, सत सौं उतरै पार ॥१७॥ —पृ० १६।

यहाँ पर सत का अर्थ सत्य न लेकर सप्त माना जावे, तो सात मुकामात की ओर भी संकेत स्पष्ट है।

इस प्रकार यद्यपि जायसी ने इनका विवेचन स्पष्ट रूप से नहीं किया है, परन्तु रत्नसेन की प्रेम-दशा के वर्णन में उन अवस्थाओं, मुकामात तथा अन्तरायों का दिग्दर्शन करा दिया है। स्पष्टतः राजा रत्नसेन सद्गुरु सुआ से उपदेश पाकर प्रेम-पथ पर चल पड़ता है—'सालिक' बन कर तरीकत पथ पर अग्रसर होता है। योग्य पात्र रत्नसेन गुरु-कृपा से प्राप्त प्रेम-चिनगारी को सुलगा लेता है। उस चिनगी-प्रवेश—उस परम प्रियतम की झलक पाकर—से राजा रत्नसेन—

सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौ लहरि सूरुज कै आई ॥
—पृ० ४६।

सारी सुधि-बुधि खोकर आनन्द-विभोर हो जाता है तथा उस अवस्था के अवसान पर जब उसे चेत होता है, तो करुणा भरे स्वर में वह कह उठता है—

हौं तो अहा अमरपुर जहां। इहां मरनपुर आएउ कहां ॥
—पृ० ४६।

प्रेम मार्ग की अनेक कठिनाइयों को हीरामन से सुन कर[2]

१—तुलना कीजिये—

जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥ —तुलसी।

२—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, प्रेम-खण्ड, पृ० ५० व ५१ पर चतुर्थ दोहे से पंचम दोहे तक।

भी राजा संसार की मया-ममता से मुँह मोड़ कर इस पथ पर चलने को उद्यत हो जाता है—

चला भुगुति माँगै कह, साधि कया तप जोग।
सिद्ध होइ पदुमावति, जेहि कर हिये बियोग ॥१॥ —पृ० ५३।

इस प्रकार वह मारिफत-पथ पर पूर्ण निश्चय के साथ अग्रसर होता है—

सप्त पतार खोजि कै, काढ़ौ बेद गरन्थ।
सात सरग चढ़ि धावौं, पदुमावति जेहि पंथ ॥४॥ —पृ० ६३।

इस पथ में प्रियतम से साक्षात्कार आवश्यक है, क्योंकि बिना साक्षात्कार के हकीकत-पथ पर पहुँचना असम्भव है। अतः कृपालु गुरु अपने शिष्य की योग्यता देखकर उसे सिद्ध-योग प्रदान कर देता है—

अब तोहि देउ सिद्धि कर योगू। पहिले दरस होइ, तब भोगू ॥
—पृ० ६६।

इस अवस्था पर पहुँचे हुए प्रेमी की दृढ़ साधना देखकर प्रियतम भी द्रवित हो जाता है। वह भी मिलने के लिये आकुल हो उठता है। यथा—

पदुमावति तेहि जोग संजोगा। परी पेम बस गहे वियोगा ॥
—पृ० ७१।

इसी अवस्था पर शिष्य को प्रेम-मार्ग में अनुभवी गुरु की विशेष आवश्यकता होती है। वही चेले को पार लगाता है। परन्तु सच्चे साधक को, उपयुक्त अवसर आने पर, अनुभवी गुरु और उसकी अनुकम्पा अवश्य ही प्राप्त हो जाती है। रत्नसेन की सच्ची लगन देखकर—

"महादेव तब भएउ मयारू।"

और उन्होंने राजा को सिद्धि-गुटिका प्रदान करदी। अब साध्य-प्राप्ति—प्रियतम से संयोग—निश्चित हो गई—

सिधि गुटिका राजै जब पावा। पुनि भइ सिद्धि गनेस मनावा ॥
—पृ० ६४।

अब राजा मारिफत अवस्था को समाप्त कर लेता है और अन्तिम अवस्था हकीकत पर पहुंचता है। हक-प्राप्ति के पश्चात् वह निडर है; उसे काल का भी डर नहीं है, क्योंकि—

तुम्ह ओदि कै घट, वह तुम्ह मांहा । काल कहाँ पावै वह छांहा ॥
—पृ० ११० ।

इस प्रकार जायसी ने इस प्रबन्ध-काव्य में सूफियों की अवस्थाओं का नाम न लेकर भी उनका दिग्दर्शन करा दिया है जो बहुत ही समीचीन है, क्योंकि शास्त्रीय-पद्धति पर इनका विवेचन तो मत-प्रतिपादक ग्रन्थों में ही उपयुक्त होता है ।

सूफीमत का मूल सिद्धान्त है—गुह्य-भावना को गुप्त रखना, जिसका उल्लंघन कर हल्लाज ने सूली की सजा पाई, परन्तु उसके अनुकरण से उसका गुरु जुनैद प्रतिष्ठित हुआ । जायसी भी इस सिद्धान्त के पक्ष में थे । महादेव जी राजा रत्नसेन को रहस्य-मार्ग का भेद बताते हुए आदेश करते हैं—

परगट लोकाचार कहु बाता । गुपुत लाउ मन जासों राता ॥
—पृष्ठ ६३ ।

लोक-संग्रह की भावना से यह सिद्धान्त है भी परमावश्यक । यदि रहस्यवादी लोकाचार की अवहेलना न करते तो समाज भयंकर अनाचार से बहुत कुछ बच जाता और पाखण्डियों को गुह्य की आड़ में विलास की सुविधा न प्राप्त हो पाती ।

सूफियों की साधना में स्मरण का भी विशेष महत्त्व है । जायसी के विचार से स्मरण अनवरत और अंग के कण-कण से होना चाहिए । यथा—

औ संवरौं पद्मावति रामा । यह जिउ नेवछावरि जेइ नामा ॥
रकत क बूँद कया जस अहहीं । पद्मावति पद्मावति कहहीं ॥
रहै न बूँद बूँद महं ठाऊँ । परै त सोई लेइ-लेइ नाऊँ ॥
हाडहि हाड सबद सो होई । नस-नस माहँ उठै धुनि सोई ॥
—पृष्ठ १११ व ११२

विरही को स्मरण के अतिरिक्त और करना भी क्या है, परन्तु यह स्मरण दुःख ही में होता है[1]—

तन जिउ महं विधि दीन्ह बिछोहू । अस न करै तौ चीन्ह न कोऊ ॥
—पृष्ठ १८४

१—तुलना कीजिए—

दुःख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ ।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होइ ॥ —कबीर

सुख में तो सब भूल जाते हैं, स्मरण विस्मृत हो जाता है—

सहस बरिस दुख सहै जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई॥
जोगी इहै जानि मन मारा। तौहु न यह मन मरै अपारा॥
रहा न बाँधा, बाँधा जेही। ते लिआ मारि डार पुनि तेही॥

—पृष्ठ १८७।

प्राकृतिक व्यापारों से आध्यात्मिक संकेत

जैसा कि अभी कहा जा चुका है 'पद्मावत' प्रबन्ध-काव्य है। कवि ने इसमें उपयुक्त स्थानों पर बड़े कौशल से अध्यात्म की ओर संकेत किए हैं; मत-प्रतिपादन की दृष्टि से दर्शन-विवेचन नहीं किया। कवि-वर्णित प्रकृति-व्यापार हमारा ध्यान बरबस उस परम सत्ता की ओर आकृष्ट कर लेता है। सिंहलद्वीप की वाटिका का वर्णन करते हुए कवि सहसा रहस्योन्मुख हो उठता है—

ओही छाँह रैनि होइ आवै। हरियर सबै अकास देखावै॥
पथिक जो पहुँचै सहि कै घामू। दुःख बिसरै, सुख होइ बिसरामू॥
जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिर नहिं आइ सहै यह धूपा॥

—पृष्ठ ११।

उस वाटिका के जितने भी पक्षी हैं, वह सब अपनी-अपनी बोली में उसी प्रियतम का स्मरण करते हैं—

जावत पंखी जगत के, भरि बैठे अमराँउ।
आपनि-आपनि भाषा, लेहि दई कर नाँव॥५॥

—पृष्ठ ११।

सिंहलद्वीप के गढ़ के वर्णन में कवि ने नव-पौरी तथा दशम द्वार की कल्पना करके मानों सिंहलगढ़ को इस पंचभूतात्मक शरीर का प्रतीक-मात्र माना है।

फंदे में फँस जाने पर हीरामन भी उसी अन्तिम दिवस का स्मरण दिलाता है—

सुखी निचिंत जोरि धन करना। यह न चिंत आगे है मरना॥

—पृष्ठ ८८।

पिंजड़े से हीरामन के उड़जाने के दृश्य पर शरीर से जीवात्मा के निकल जाने की ओर कितना मार्मिक संकेत है—

पींजर जेहिक सौंपि तेहि गयऊ। जो जाकर सो ताकर भएऊ॥

—पृष्ठ ३६।

मान सरोदक-खण्ड में सखियों सहित पद्मिनी की जल-क्रीड़ा भी उसी ओर संकेत करती है। पद्मिनी के

"खोंपा छोरि केस मुकलाई" पर—

ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि के सरन लीन्ह जनु राहा॥

तथा उसके अनुपम सौन्दर्य पर जड़ तालाब का भी मोहित हो जाना—

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावै, एहि मिस लहरहि लेइ॥४॥—पृष्ठ २४।

बड़े ही मार्मिक एवम् आकर्षक संकेत हैं।

पद्मिनी के नख-शिख-वर्णन में तो कवि ने उसी परम ज्योति के ही अनुपम सौन्दर्य, आकर्षण, व्यापकता, आदि का आभास ही दिया ज्ञात होता है।

सूफी वास्तव में विरह में मतवाले प्रेमी हैं।[1] उनको प्रकृति का कण-कण उसी के वियोग में जलता और चकराता दृष्टि आता है। सूर्य देव की दशा बड़ी दयनीय है—

विरह कै आगि सूर जरि काँपा। रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥
खिनहि सरग, खिन जाइ पतारा। थिर न रहै एहि आगि अपारा॥

तथा, —पृष्ठ ७८।

गिरि समुद्र, ससि मेघ रवि, सहि न सकहि वह आगि।
मुहम्मद सती सराहिए, जरै जो अस पिउ लागि॥१५॥ —पृ० १५६।

नागमती की विरहाग्नि का पक्षी द्वारा वर्णन भी उसी परम प्रियतम के वियोग में सन्तप्त समस्त सृष्टि का चित्र है—

चहूँ खण्ड छिटकी वह आगी। धरती जरति गगन कहँ लागी॥
विरह दवा को जरत बुझावा। जेहि लागै सो सौहैं धावा॥
—पृष्ठ १६१।

पद्मावती की सखियाँ भी जब उस से राजा रत्नसेन के सौन्दर्य का वर्णन करती हैं, तब वे भी उसी परम विभु के अनुपम सौन्दर्य की ओर ही संकेत करती हैं—

१—बादशाह की दूती के दिल्ली चल कर रत्नसेन से भेंट करने के प्रस्ताव पर पद्मावती की उक्ति से तुलना कीजिए—

यह बड़ जोग, वियोग जो सहना। जेहु पीउ राखै तेहू रहना॥
घर ही में रहु भई उदासा। अँगुरी खप्पर, सिंगी सासा॥ —पृष्ठ २७८।

ऊ-उजियार जगत उपराहीं। जग उजियार सो तेहि परछाईं॥

—पृष्ठ १२२।

राघव चेतन उस अनन्त सुन्दरी पद्मिनी की झलकमात्र से अचेत हो जाता है। सखियों द्वारा संज्ञा-लाभ प्राप्त होने पर वह कितना मर्मस्पर्शी संकेत करता है—

भएउ चेत चित चेतन चेता। बहुरि न आइ सहौं दुख एता॥
रोवत आइ परे हम जहाँ। रोवत चले कौन सुख तहाँ॥
जहाँ रहे संसो जिउ केरा। कौन रहनि चहि चलै सवेरा॥

—पृष्ठ २०३।

सामाजिक रीतियों से आध्यात्मिक संकेत

जिस प्रकार जायसी ने प्रकृति व्यापारों द्वारा आध्यात्मिक संकेत उपस्थित किए हैं, उसी प्रकार उन्होंने सामाजिक रीतियों आदि से भी उसी दिशा में इंगित किया है। संसार में सब से प्रमुख और निश्चित तथ्य जाना—मरना है। जो चला गया, फिर लौट कर नहीं आता, उसकी कोई सूचना भी नहीं प्राप्त होती। इस ओर भी जायसी ने कतिपय संकेत किए हैं। प्रेम के मतवाले सूफियों के लिए मरना—प्रियतम के पास जाना—श्वशुर गृह जाने के समान आह्लाद कारक होता है। परन्तु वहाँ नैहर के उन प्रिय सम्बन्धों का, आमोद-प्रमादों का जो वय. सन्धि की अनुपम देन है, सर्वथा अभाव खटकता है। पद्मावती से खेल-कूद, झूलन, जल-क्रीड़ा, आदि का प्रस्ताव करती हुई, सखियाँ, इस गम्भीर परिस्थिति की ओर कितना मार्मिक संकेत करती हैं—

झूलि लेहु नैहर जब ताईं। फिरि नहिं झूलन देइहि साईं॥
पुनि सासुर लेइ राखिहि तहाँ। नैहर चाह न पाउब जहाँ॥
कित यह धूप कहाँ यह छाँहा। रहब सखी बिनु मंदिर माहाँ॥

—पृष्ठ २३।

पद्मावती बड़ी उत्सुकता से वर का दर्शन करती है, परन्तु उसकी झलक पाते ही मूर्छित हो जाती है। सखियों के उपचार से संज्ञा-लाभ होने पर पद्मावती उस स्थिति पर आध्यात्मिक प्रकाश डालती है—

तुम जानहु आवै पिउ साजा। यह सब सिर पर धमधम बाजा॥
जैसे बराती औ असवारा। आप सबै चलावन हारा॥

सो आगम हौं देखति भंखी। रहन न, आप न देखौं सखी॥
होइ बियाह पुनि होइहि गवना। गवनब वहाँ बहुरि नहिं अवना॥
—पृष्ठ १२३।

लड़कियों की विदा का भी दृश्य अन्तिम यात्रा के समान ही करुणा पूर्ण होता है। माता, पिता, परिजन तथा प्रियजन सभी रोते हैं। विदा-आयोजन में योग भी देते हैं और विदा होती भी अवश्य है। जायसी इस दृश्य को देख कर कब चुप रह जाने वाले थे। उन्होंने पद्मावती की विदा से अन्तिम-यात्रा का कितना स्पष्ट संकेत किया है—

रोवहिं सब नैहर सिंहला। लेइ बजाइ कै राजा चला॥
× × ×
कोउ काहू कर नाहिं निआना। मया मोह बाँधा अरुझाना॥
तथा, जब पहुँचाइ फिरा सब कोऊ। चला साथ गुन अवगुन दोऊ॥
—पृष्ठ १७०।

पद्मावती की महाप्रस्थान की तैयारी भी उसी ओर संकेत करती है—

सूरुज छिपा रैनि होइ गई। पूनों ससि सो अमावस भई॥
तथा, यही दिवस हौं चाहति नाहा। चली साथ पिउ देइ गलबाँहा॥
—पृष्ठ २६६।

अन्त में संसार के वैभव-विलास की असारता की ओर कितना सरल और सुस्पष्ट संकेत है—

बैठो कोइ राज औ पाटा। अन्त सबै बैठे पुनि खाटा॥

तथा, रातीं पिउ के नेह गइ, सरग भएउ रतनार।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोइ संसार॥३॥ —पृ० ३००।

मनुष्य देह दुर्लभ है। मोक्षादि ध्येय-प्राप्ति के साधन भी इसी मानव शरीर में सुलभ हैं (मोक्षस्तु मानवे देहे)। सूफियों के विचार से भी प्रेम-साधना के लिए ही यह देह प्राप्त हुई है। अतएव जो इस ओर ध्यान नहीं देते, उनका जीवन व्यर्थ है। सिंहल की हाट का वर्णन करते हुए कवि इस ओर कितना सूक्ष्म संकेत करता है। (स्मरण रखना चाहिए कि जायसी ने सिंहल का शरीर के प्रतीक के रूप में वर्णन किया है)—

जिन्ह एहि हाट न लीन्ह बेसाहा। ताकहँ आन घाट कित लाहा।।[1]

—पृ० १४।

अस्तु, मनुष्य को यह अनुपम शरीर पाकर निश्चिन्त नहीं रहना चाहिए, अन्यथा अवसर निकल जाने पर पछताना पड़ेगा—

का निचिंत रे मानुष, आपन चीते आछु।
लेहि सजग होइ अगमन, मन पछताव न पाछु।।३।।

—पृ० ५४।

वस्तुतः इस असार संसार की सम्पत्ति से अपनत्व की भावना जोड़ना भ्रम है। यह सब तो केवल उसी का है—

का कर मढ़, का कर घर माया। ता कर सब जाकर जिउ माया।।

—पृ० ५६।

अतएव यदि मनुष्य अहंकार त्याग कर दे तो उसका कल्याण ही कल्याण है—

हौं हौं कहत सबै मति खोई। जो तू नाहिं आहि सब कोई।।

—पृ० ६३।

मनुष्य भ्रम में पड़कर शरीर-पोषण में व्यस्त रहता है। इन्द्रियों के सुख-साधन जुटाता है। इनको अपना समझता है। इनका विश्वास करता है। परन्तु ये ही उसे गिराती हैं, मिटाती हैं तथा अन्तिम न्याय में उसके समक्ष ही उसके विरुद्ध साक्ष्य देती हैं। इस ओर भी जायसी ने एक सूक्ष्म संकेत किया है। राजा गंधर्वसेन को जिन शक्तियों पर अभिमान था, जिनके बल पर वह किसी की किंचित परवाह न करता था, वही शक्तियाँ अन्त में उसके विपक्ष में युद्ध को प्रस्तुत होगईं—

जेहि कर गरब करत हुत राजा। सो सब फिरि बैरी होइ साजा।।

—पृ० ११७।

एक और स्थल पर जायसी का कौशल और सूक्ष्म विवेचन दर्शनीय है। बादशाह अलाउद्दीन ने पद्मावती की झलक दर्पण में

१—तुलना कीजिए—

जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ जौ लहि पिंड महँ।
पुनि किछु परै न चीन्हि, मुहम्मद यह जग धुन्ध होइ।।१६।। —पृ० ११७।

देखी और देखते ही मूर्छित होगया।[1] वह झलक यद्यपि उसके समक्ष और बिलकुल निकट ही थी, तथापि वह उसकी पहुँच से नितान्त परे थी। इस तथ्य को कवि बादशाह द्वारा वर्णित कराता है—

देखि एक कौतुक हौं रहा। रहा अंतर पट पै नहिं अहा॥
सरवर एक देखि मैं सोई। रहा पानि पै पानि न होई॥
—पृष्ठ, २५७–५८।

इस प्रकार इस प्रबन्ध-काव्य में जहाँ भी उपयुक्त अवसर आया है, जायसी ने हमारा ध्यान अध्यात्म-पक्ष की ओर आकृष्ट कर लिया है। इन संकेतों के आश्रय में हमारी अध्यात्म-भावना बलवती होती गई है और अन्त में कवि के उपसंहार को पढ़ कर हम चकित हो जाते हैं तथा विचारने लगते हैं कि वस्तुतः कवि ने कोई कथा लिखी है अथवा अध्यात्म-मूलक अन्योक्ति।

भाग्य-विधान में अटल विश्वास

आस्तिक जातियों में भगवान् को नियामक संज्ञा भी दी जाती है। उसका विधान अटल एवम् अवश्यम्भावी है। मुसलमान तो कर्म-विपाक की अवहेलना कर केवल उसकी इच्छा-मात्र से संसार-चक्र का आयोजन मानते हैं।[2] जायसी का भाग्य-विधान में पूर्ण आस्था थी। इसका परिचय उन्होंने 'पदमावत' में कम से कम पांच स्थलों पर बड़े सरल एवम् स्पष्ट ढंग से दिया है—

१—भै चाहै असि कथा सलोनी। मेटि न जाइ लिखी जस होनी॥
—पृ० १६।

२—हीरामन तब कहा बुझाई। बिधि कर लिखा मेटि नहिं जाई॥[3]
— पृष्ठ, २१।

१—रत्नसेन हीरामन से पदमावती के सौन्दर्य-वर्णन को सुनकर मूर्छित हो जाता है, पदमावती भी दूल्हा रत्नसेन का स्वरूप देखकर मूर्छित हो जाती है तथा राघवचेतन भी पदमावती की झरोखे पर झलक देखकर मूर्छित हो जाता है। यह सब इस सूफी भावना को पुष्ट करते हैं कि उस परम की झलक-मात्र से साधक आनन्द-विभोर हो बाह्य-सज्ञा शून्य हो जाता है।

२—हदीस है कि अल्लाह जिसे चाहता है सुमार्ग पर चलाता है।

३—तुलना कीजिए—
हँसि बोले रघुबंस कुमारा। बिधिकर लिखा को मेटन हारा॥
—तुलसी।

३—जंबू दीप राज घर बेटा। जो है लिखा सो जाइ नहि मेटा।।
—पृष्ठ, ११५।

४—मानुष साज लाख मन साजा। होइ सोइ जो विधि उपराजा।।
—पृष्ठ, ११४।

५—मानुस चित्त आन किछु कोई। करै गोसाईं सोइ पै होई।।[1]
—पृष्ठ, १२६।

सूफ़ी-प्रवृत्ति

इनके अतिरिक्त दो अन्य विशेष सूफी-प्रवृत्तियों का परिचय भी जायसी के इस महा काव्य से मिलता है। वे हैं पारिभाषिक शब्द-प्रियता तथा ज्ञान-प्रदर्शन की अदम्य उत्कण्ठा। इनमें से द्वितीय के अन्तर्गत पक्षी, पुष्प आदि के नाम (पृ० ११, १३), भाँति भाँति के खाद्य व्यंजनों की निर्माण-कला (पृ० २४४ से २४७), शृंगार, आभूषणादि के नाम (पृ० १३१ से १३८), स्त्री-भेद (पृ० २०७ से २०८), दिशा शूल (पृ० १६८ से १७०) आदि का विस्तार पूर्वक वर्णन आदि सहज ही आ जाते हैं। जैसा कि पूर्व पृष्ठों में बताया जा चुका है इनमें से अधिकांश से न तो कथानक की रोचकता में वृद्धि होती है और न प्रबन्ध-सौष्ठव में सुघराई। ये प्रसंग केवल बहु-ज्ञान-प्रदर्शन के प्रयास-मात्र हैं, जो सूफियों तथा नाथ-परम्परा दोनों की देन हैं। रहा पारिभाषिक शब्दों का मोह सो सूफ़ी लोगों में इनके प्रति प्रारम्भ से ही आकर्षण था। गुह्य मतों की बातों को गुप्त रखने का, दूसरों पर प्रकट न होने देने का, यह सरल उपाय था। जायसी में यह प्रवृत्ति भी भारतीय सम्पर्क से अति को पहुँच गई थी। 'नव पौरी' तथा 'दशम द्वार' का वर्णन स्थान-स्थान पर है ही। चित्तौरगढ़ के वर्णन में भी—

सात रंग तिन्ह सातौ पँवरी। तब तिन्ह चढ़ै फिरै नौ भँवरी।।
—पृ० ७४६

का पूर्ण अर्थ 'पँवरी' तथा 'भँवरी' की निर्दिष्ट संख्या से ही खुलता है। अपनी प्रियतमा से प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर राजा रत्नसेन का रसायनिकों के परिभाषिक शब्दों का व्यवहारादि भी उसी भद्दी परम्परा का अनुपयुक्त प्रदर्शन है।

१—तथा तुलना कीजिये—

होइहि वही जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा।।
—तुलसी।

भारतीय-प्रभाव

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि जायसी पर भारतीय वातावरण का पर्याप्त प्रभाव था। अद्वैत की इतनी गहरी छाप वस्तुतः भारतीय है। भाग्य पर इतना अटल विश्वास भी तत्कालीन विजित भारत की अपने भीम-प्रयत्नों की निरन्तर असफलता पर भी जीवित बने रहने की तथा नवीन परिस्थितियों से समझौता कर लेने की प्रवृत्ति का परिचायक मात्र है।

नाथ और सिद्धों की परम्परा से भी जायसी सर्व साधारण की भांति ही अत्यधिक प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं। मछंदर नाथ, गोरखनाथ, बालनाथ आदि की कवि ने चर्चा की ही है। गोरखनाथ तो गुरु का प्रतीक ही बन गए हैं—

आइ पेम रस कहा संदेसा। गोरख मिला मिला उपदेसा॥
तथा, — पृ० ७६।
परा मांति गोरख कर चेला, जिउ तन छाँड़ि सरग कहँ खेला॥
तथा, — पृ० ८४।
बिनु गुरु पंथ न पाइय भूलै सों जो भेंट।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सों भेंट॥६॥ — पृ० ६२।

सिंहल में पद्मिनी का पाया जाना तथा साधक का वहाँ जाकर ही पूर्ण सिद्ध होना—पद्मिनी-प्राप्त करना, अर्थात् पद्मावत काव्य का समस्त पूर्वार्द्ध ही नाथ-परम्परा की देन है। राजा रत्नसेन जब जोगी बन कर निकलता है, तो उसका वेष साधारण नाथ-सम्प्रदायी गोरखपंथी साधु का ही वेष है—

मेखल, सिंघी, चक्र धंधारी। जोगबाट रुद्राछ अधारी॥
.........आदि। — पृ० ५३।

सिंहल द्वीप में राजा रत्नसेन और उसके साथी महादेव के मण्डप में ही डेरा डालते हैं। तथा अन्त में महादेव जी द्वारा ही साध्य की प्राप्ति होती है। यह भी नाथ पंथियों का प्रभाव है, क्योंकि गोरख पंथी मूलतः शैव ही हैं।

प्रवाद है कि सिंहल की पद्मिनी योगी को घेर कर अपने जाल में फँसाकर उसे पथ-भ्रष्ट कर डालती हैं। गोरखनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ स्वयम् उनके जाल में फँस गए थे। कवि ने इस ओर भी संकेत किया है—

लेइ संग सखी कीन्ह तहँ फेरा। जोगिहि आइ अपच्छरन्ह घेरा ॥
—पृ० ८४।

पद्मावत-रत्नसेन की प्रथम भेंट के अवसर पर राजा का 'धातु कमाना', 'सिद्धि-गुटिका' 'जोरा करना', 'लोना-बिरवा' आदि के विवरण देना भी इन्हीं सिद्धों और योगियों की कृपा है।[1]

इडा, पिंगला, सुष्मुना, शून्य-समाधि और तारी लगना भी विद्यमान हैं—

कहाँ पिंगला सुषमन नारी। सूनि समाधि लागि गई तारी ॥
—पृ० १००।

सामंजस्य-भावना

जायसी निस्संदेह प्रेम-मार्गी सूफी थे, किन्तु वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय किंवा साधना-पद्धति के विरोधी न थे, जिसकी स्पष्ट घोषणा कवि ने अपने अन्तिम काव्य में निर्विवाद शब्दों में कर दी थी—

विधिना के मारग हैं ते ते। सरग नखत, तन रोवाँ जेते ॥
—अखरावट, पृ० ३२१।

जायसी ने अन्य प्रेम-मार्गी एवम् भक्त व्यक्तियों की भाँति ज्ञान-मार्ग की भी निन्दा नहीं की है, अपितु दो स्थलों पर उन्होंने स्पष्ट ही उसकी श्रेष्ठता का महत्त्व स्वीकार किया है। प्रथम—जायसी का निर्णय है कि प्रेम-मार्ग इतनी उच्च साधना है कि उस तक ज्ञान-दृष्टि-सम्पन्न व्यक्ति विशेष की ही पहुँच हो सकती है—

ज्ञान दिस्टि सो जाइ पहूँचा। पेम अदिस्ट गगन तें ऊँचा ॥
धुव ते ऊँच पेम धुव ऊआ। सिर देइ पाँव देइ सो छूआ ॥
—पृ० ५०।

द्वितीय स्थल बड़े महत्व का है। राजा रत्नसेन प्रेम-मार्ग में पूर्ण सफलता—पद्मावती का सान्निध्य—प्राप्त कर चित्तौड़ लौटता है। प्रेम-साधना की दृष्टि से उसका यह पद उच्चतम है। परन्तु जायसी का विचार है कि इस उच्चावस्था पर योगी अधिक समय तक टिक नहीं सकता—

यह मन ऐंठा रहै न सूझा। विपति न सँवरै संपति अरूझा ॥
सहस वरिस दुख सहै जो कोई। घरी एक सुख बिसरै सोई ॥
—पृ० १८७।

---

१ देखिए जायसी-ग्रन्थावली, पृ० १२९ से १३० तक।

क्योंकि मन बड़ा विलक्षण है। बिना ज्ञान के अन्य किसी प्रकार भी—हठयोग की विकट साधनाओं द्वारा भी—इस पर काबू पाना असम्भव है—

जोगी यहै जानि मन मारा। तौहु न यह मन मरै अपारा॥
मुहम्मद यह मन अमर है, केहु न मारा जाइ।
ज्ञान मिलै तो एहि घटै, घटतै घटत बिलाय॥१॥

—पृ० १८७।

मुसलमान होते हुये भी, मूर्ति पूजा के कट्टर विरोधी होते हुए भी जायसी ने महादेव गौरा आदि की पूजा का वर्णन बड़ी श्रद्धा एवम् सहृदयता से किया है। तथा इस साधन विशेष से भी मनोरथ साफल्य की सूचना दी है। इसी प्रकार जायसी ने वेद, पुराणादि का नाम भी बड़ी श्रद्धा से लिया है तथा हिन्दू देवी-देवताओं को भी सराहा है। नारद को कलहप्रिय वृत्ति के कारण कदाचित् उनको झगड़ालू समझ कर, इबलीस (शैतान) का पर्याय मान लिया है। इस विषय में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है इबलीस सूफियों के विचार से अल्लाह का अनन्य भक्त है[1]। और हिन्दुओं के विचार से नारद जी न केवल भगवान के अनन्य भक्त हैं, वरन भक्ति-सम्प्रदाय के आदि प्रवर्त्तक हैं। सचमुच जायसी की सामञ्जस्य-बुद्धि और सूक्ष्मतत्त्व-बोधिता सराहनीय है।

अस्तु स्पष्ट है कि इस काव्य रचना के समय कवि बड़ा ही सहृदय और प्रेम-साधक था। उसकी बुद्धि साम्प्रदायिकता के जालों से मुक्त थी। उसकी वृत्ति सारग्राहिणी थी। तथा उसका हृदय नाथपंथी योगियों के आचार-विचारों से अत्यधिक चमत्कृत एवम् प्रभावित था, जो तत्कालीन वातावरण, उनके भ्रमण एवम् साधु-सत्संग का साक्षात् प्रसाद है।

———

१—तू सेवक है मार निनारा।

—अखरावट पृ० ३०७।

अखरावट में

प्राय: देखा जाता है कि मनुष्य के विचारों में शनैः शनैः प्रौढ़ता आती है। जिस समय मनुष्य की दृष्टि स्वच्छ हो जाती है, जब उसे अपनी साधना का प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर हो जाता है, तब वह अपने गत मार्ग पर एक विहंगम दृष्टि डालता है। उस समय उसको अपनी गति विधि में—साधना-मार्ग में कुछ त्रुटियाँ यदि रही हों तो स्पष्ट प्रतीत होती हैं। अतएव उसकी उत्कण्ठा होती है कि जनसाधारण उसके अनुभव से उसकी बताई हुई त्रुटियों से बच कर लाभ उठावें। फलतः हमको अनेक विद्वानों, दार्शनिकों भक्तों, संतों, आदि के अनुभव ग्रंथ रूप में प्राप्य हैं। लगभग सभी सूफी विद्वानों ने अपने अपने अनुभवों, दार्शनिक विवेचनों को भावी साधकों की सहायतार्थ प्रस्तुत किया है। जायसी ने भी अपनी समस्त साधनाओं, अनुभवों एवं विचारों का मन्थन कर अखरावट काव्य का निर्माण किया था। अस्तु हमको इसी काव्य में जायसी के दार्शनिक विचारों का पूर्णरूप उपलब्ध है और इसी की सहायता से जायसी के दर्शन का विवेचन महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक होगा।

ईश्वर-निरूपण

सर्व प्रथम जायसी के ब्रह्म-विषयक विचारों का विवेचन ही उपयुक्त होगा। उनके विचार से वह "आदिहु तें जो आदि गोसाँई" (पृ० ३०२) है। वह सर्वव्यापी है—

चौदह भवन पूरि सब रहा। —पृ० ३०३।

वह अकेला और केवल एक है—वाहिद और अहद है—

एक अकेल न दूसर जाती। उपजे सहस अठारह भाँती॥
पृ० ३०२।

अस्तु समस्त सृष्टि भी उसी से उत्पन्न हुई है।

वह जगत का आदि कारण है—

बिना उरेहु अरंभ बखाना। हुता आपु मँह आपु समाना॥
—पृ० २०४।

वह रंग-रूप-जाति रहित, ब्रह्मा, विष्णु, महेश से भी परे दार्शनिकों का निरुपाधि ब्रह्म है। वह अगम है, अगोचर है

सरग न धरति न खंभ मय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, ओहि न रंग न भेस ॥२॥

तथा, —पृ० ३०४।

वा—यह रूप न जाइ बखानी। अगम अगोचर अकथ कहानी॥
—पृ० ३२७।

तथा,

ओहि ना बरन न जाति अजाती। चंद न सुरुज दिवस ना राती॥
—पृ० ३२८।

परन्तु वही समस्त जगत् का कर्त्ता, धरता और हरता है:—

तुम करता बड़ सिरजन हारा। हरता धरता सब संहारा॥ पृ० ३०५।

यह सृष्टि उसकी शक्ति का विकास है—

औ उतपति उपराजै चहा। आपनि प्रभुता आपुसौं कहा॥ पृ० ३०५।

तथा,

आपुहि आपु जो देखै चहा। आपनि प्रभुता आपसौं कहा॥ पृ० ३१६।

तथा,

कै दरपन अस रचा बिसेखा। आपन दरस आप महँ देखा॥ पृ० ३३०।

वही केवल सत् है। उसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ नश्वर हैं—

सब जाइहि जो जग महँ होई। सदा सरबदा ओहि थिर सोई॥ पृ० ३३१।

इस प्रकार ब्रह्म-निरूपण के विचार से जायसी अद्वैतवादी प्रतीत होते हैं—

जो किछु है सो है सब, ओहि बिनु नाहिन कोइ।
जो मन चाहा सो किया, जो चाहै सो होइ॥

तथा, एक से दूसर नाहि, बाहर भीतर बूझि लै।
खांडा दुइ न समाइ, मुहम्मद एक मियान महँ॥४७॥
—पृ० ३३४ व ३३५।

जीव-निरूपण

ब्रह्म के अनन्तर जीव का स्थान है, क्योंकि वह उसी ब्रह्म का अंश है और प्रत्येक शरीर में विद्यमान है—

रहा जो एक जल गुपुत समुंदा। बरसा सहस अठारह बुंदा॥
सोई अंस घटै घट मेला। औ सोइ बरन बरन होइ खेला॥ पृ० ३०५।

और वह जीव उसी ब्रह्म के ही अनुरूप है—

बूँदहि समुद समान, यह अचरज कासौं कहौं।
जो हेरा सो हेरान, मुहम्मद आपुहि आपु महँ॥७॥ पृ० ३०८।

यह जीव ही वस्तुतः शरीर, इन्द्रिय, मन, आदि का स्वामी है—

तन तुरंग पर मनुआ, मन मस्तक पर आसु।
सोई आसु बोलावई, अनहद बाजा पासु॥ —पृ०, ३१०।

परन्तु वह बड़ा उतावला है—

पवनहु तैं मन चाँड, मन तैं आसु उतावला।
कतहु मेंड न डाढ़, मुहम्मद बहु बिस्तार सो॥ १०॥—पृ०, ३१०।

तथा, पवन चाहि मन बहुत उताइल। तेहि तै परम आसु सुठि पाइल॥
—पृ० ३११।

इसी जीव की विद्यमानता से शरीर जीवित है—प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने कार्य-सम्पादन में समर्थ है, परन्तु उस जीव के निकल जाने पर यह शरीर नितांत छूंछा, शक्तिहीन तथा दुर्गन्धिपूर्ण है—

गा सो प्रान परेवा, कै पींजर तन छूंछ।
मुए पिंड कस फूलै, चेला गुरु सन पूंछ।

तथा, बिगरि गए सब नाँव, हाथ पाँव मुँह सीस धर।
तोर नाँव केहि ठाँव, मुहम्मद सोइ बिसारिए॥ १३॥ पृ० ३१३।

यह जीव भी अलख है, और शरीर में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार दूध में घी अथवा काष्ठ में अग्नि व्याप्त होती है। परन्तु साधन-विशेष से उसका प्रत्यक्षीकरण भी हो जाता है—

दूध मांझ जस घीउ है, समुद माँह जस मोति।
नैन मीजि जौ देखउ, चमकि उठै तस जोति॥—पृ० ३१४।

तथा, सुमहि मँह मन-रूख, जस काया मँह जीउ।
काठी माँझ आगि जस, दूध माँह जस घीउ॥ —पृ० ३२४।

अथवा यह 'जीउ' फूल में गन्ध की भाँति व्याप्त है—

हिया कंवल जस फूल, जिउ तेहि मँह जस बासना।
तन तज मन मँह भूल, मुहम्मद तब पहिचानिए॥ ३१॥

तथा, —पृ०, ३२५।

पुहुप बास जस हिरदय, रहा नैन भरिपूर।
नियरे से सुठि नीयरै, ओहट से सुठि दूर॥ —पृ० ३२१।

जीव वास्तव में है तो वही, परन्तु अज्ञान से दूसरा प्रतीत होता है जिस प्रकार बालक दर्पण में अपने ही प्रतिबिम्ब को अन्य समझता है—

दरपन बालक हाथ, मुख देखै दूसर गनै।
तस भा दुइ एक साथ, मुहम्मद एकै जानिए।। ४४।। —पृ०, ३३३।
तथा,
उहै दोउ मिलि एकै भयऊ। बात करत दूसर होइ गएऊ।।
—पृ०, ३३४।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी ब्रह्म-जीव के एकत्व को स्वीकार करते थे।

संसार-निरूपण

यह जगत् भी ब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। इसकी रचना मुहम्मद साहब के प्रेम के कारण हुई है—

तेहि कै प्रीति बीज अस जामा। भए दुइ बिरिछ सेत औ सामा।।
—पृ० ३०४

यह जगत् द्वन्द्वात्मक रचा गया है, पुरुष और प्रकृति के संयोग से इसका आविर्भाव हुआ है—

होते बिरवा भइ दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता।।
सुरुज, चाँद दिवस औ राती। एकहि दूसर भएउ संघाती।।
चलि सो लेखनी भइ दुइ फारा। बिरिछ एक उपनी दुइ डारा।।
मेटेन्हि जाहि पुन्नि औ पापू। दुख और सुख, आनंद संतापू।।
औ तब भए नरक बैकुंठू। भल औ मंद, साँच औ झूँठू।।
—पृ० ३०५।

इसकी रचना भी ब्रह्म ने अपने अनुकूल की है—

ठा-ठाकुर बड़ आप गोसाईं। जेइ सिरजा जग अपनिहि नाईं।।
—पृ० ३१६।

सत्य तो यह है कि समस्त संसार आभास-मात्र है, सत् तो केवल वही है—

सबै जगत् दरपन कै लेखा। आपुहि दरपन, आपुहि देखा।।
आपुहि बन और आपु पखेरू। आपुहि सौजा, आपु अहेरू।।
आपुहि पुहुप फूलि बन फूले। आपुहि भँवर, बास रस भूले।।
आपुहि फल, आपुहि रखवारा। आपुहि सो रस चाखन हारा।।
आपुहि घट घट महँ मुख चाहै। आपुहि आपन रूप सराहै।।
आपुहि कागद, आपु मसि, आपुहि लेखन हार।
आपुहि लिखनी, आखर, आपुहि पंडित अपार।।
—पृ० ३१६।

अस्तु, जगत् में जो कुछ होता है, जो कुछ दृश्य आता है किंवा जिसको दृश्य आता है, वह केवल वही है—

सोइ देखे औ सोई गुनई। सोई सब मधुरी धुनि सुनई ॥
सोई करै कीन्ह जो चहई। सोई जानि बूझि चुप रहई ॥
सोई घट घट होइ रस लेई। सोइ पूछै, सोइ उत्तर देई ॥
सोई साजै अन्तर पट, खेलै आपु अकेल।
वह भूल जाग सेंती, जग भूला ओहि खेल ॥
—पृ० ३२६।

जायसी ने इसी बात की पुष्टि में प्रतिबिम्ब-वाद की भी एक उक्ति दी है—

गगरी सहस पचास, जो कोउ पानी भरि धरै।
सूरुज दिपै अकास, मुहम्मद सब महँ देखिए ॥४२॥
—पृ० ३३१।

एक स्थल और विशेष रूप से विचारणीय है। 'आदम' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए जायसी का कथन है कि इसका प्रथमाक्षर 'अलिफ', अल्लाह का द्योतक है, मध्यमाक्षर 'दाल', दीन तथा दुनिया का वाचक है तथा अन्तिमाक्षर 'मीम', मुहम्मद (प्रेम) की ओर संकेत करता है। अर्थात् संसार, अल्लाह माया और प्रेम के समन्वय का नाम है, जिसमें वस्तुतः अल्लाह प्रमुख है—

अलिफ एक अल्ला बड़ सोई। दाल दीन दुनिया सब कोई ॥
मीम मुहम्मद प्रीति पियारा। तिन आखर यह अरथ विचारा ॥
—पृष्ठ ३३०।

शरीर-रचना—

सृष्टि-रचना में शरीर का विशेष महत्व है। वही जीव के रहने का स्थान है। यह शरीर चार फरिश्तों—मीकाईल, जिब्राईल, इसराईल तथा इसराफील—द्वारा चार तत्त्वों—मिट्टी, जल, अग्नि और वायु[1]—से निर्मित किया गया है और उसमें पाँच इन्द्रियों को प्रविष्ट करा दिया है—

१—भारतीय विचार-परम्परा पाँच तत्त्वों से शरीर रचना मानती है। यथा—
छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित यह अधम सरीरा।
—तुलसी।
परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक आकाश जैसे सूक्ष्म तत्व की कल्पना न कर सके।

भइ आयसु चारिहु कै नाँऊ। चारि वस्तु मेरवहु एक ठाँऊ॥
तिन्ह चारिहु कै मंदिर संवारा। पाँच भूत तेहि महं पैसारा॥
—पृ० ३०६।

इस शरीर रूपी मंदिर के दस द्वार हैं, किन्तु दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र, बंद कर दिया गया है।[1]

नव द्वारा राखै मझियारा। दसंवं मूंदि कै दिएउ केवारा॥
—पृ० ३०६।

इस शरीर की भी रचना दो पक्ष-युक्त की गई है—

दुहू भाँति तस सिरजा काया। भए दुइ हाथ, भए दुइ पाया॥
भए दुइ नयन, स्रवन दुइ भाँती। भए दुइ अधर, दसन दुइ पाँती॥
—पृ० ३०८।

इस शरीर का मस्तिष्क स्वर्ग है और धड़ पृथ्वी है। इस प्रकार यह शरीर मानो जगत का एक संक्षिप्त संस्करण है—

माथ सरग, धर धरती भयऊ। मिलि तिन्ह जग दूसर होइ गएऊ॥
तथा.
—पृ० ३०६।

सुनु चेला जस सब संसारू। ओही भाँति तुम कया विचारू॥
—पृ० ३३५।

जायसी ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड की समानता का बड़े विस्तार से वर्णन किया है[2]। इस पिण्ड में सुमेर हैं, अन्य पर्वत भी हैं; वृक्ष हैं, पुले सरात भी है। इसमें स्वर्ग-नर्क, चाँद-सुरुज, दिन-रात, वर्षा-बिजली, ऋतु-महीने, फरिश्ते, मुरशिद, खलीफा, आसमानी पुस्तकें, आदि सभी कुछ विद्यमान हैं[3]। संक्षेप में—

सातौं दीप नव खंड, आठौ दिसा जो आहि।
जो बरम्हंड सो पिंड है, हेरत अन्त न जाहि॥ —पृ० ३०६।

१—बालक के जन्म-समय ब्रह्मरंध्र की सहज प्रतीत होती है। परन्तु वह ज्यों ज्यों बड़ा होता जाता है, वह कोमल स्थल कठोर होता जाता है। और अन्त में वह कोमलता विलुप्त-प्राय हो जाती है।

२—भागवत् कार ने संसार को विराट् पुरुष का शरीर बताते हुये प्रायः इसी प्रकार की तुलना की है। देखिये, श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कंध, अध्याय १, श्लोक ३३-३४।

३—देखिये, जायसी-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३१०।

कवि ने शरीर के सातों खण्डों में सात ग्रहों की कल्पना की है,[1] "वह सूर्य सिद्धान्त आदि ज्योतिष ग्रन्थों के अनुसार है"।[2]

जीव का ध्येय

इस शरीर का निर्माण ही इस कारण किया गया है कि जीव इस शरीर के रहते हुये उस परम प्रियतम परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त करले—

जेइ न चिन्हारी कीन्ह, यह जिउ जौ लहि पिंड मंह।
पुनि किछु परै न चीन्हि, मुहम्मद यह जग धुंध होइ ॥१६॥

तथा, —पृ० ३१७।

सा-सासा जौ लहि दिन चारी। ठाकुर सें करि लेहु चिन्हारी।
अन्ध न रहहु होहु डिठियारा। चीन्हि लेहु जो तोहि संवारा ॥
पहले स जो ठाकुर कीजिय। ऐसे जियन मरन नहिं छीजिय ॥
—पृ० ३२७ व ३२८।

इस ध्येय-प्राप्ति के अनेक साधन हैं, उससे साक्षात्कार करने के इतने मार्ग हैं कि उनकी संख्या करना असम्भव है—

विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते ॥
—पृ० ३२१।

परन्तु सच्चे मुसलमान की भाँति उनका पूर्ण विश्वास था कि इन असंख्य मार्गों में सहज और सरल मार्ग मुहम्मद साहब का है—

तेहि मंह पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई ॥
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा ॥
लिखि पुरान विधि पठवा साँचा। भा परवान दुऔ जग बाँचा ॥
सुनत ताहि नारद उठि भागै। छूटै पाप पुन्नि सुनि लागै ॥
वह मारग जो पावे, सो पहुँचे भव पार।
जो भूला होइ अनतहि, तेहि लूटा बट पार ॥ -पृ० ३२१।

अवस्थाएँ

सच्चे पाबन्द मुसलमान की भाँति वे 'शरअ' के कायल थे। उनका विश्वास था कि ऊपर चढ़ने के लिए सर्व प्रथम 'शरीयत'

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ३१५ व ३१६।

२—वही, पृ० ३१५ का फुट नोट।

की सुस्थिर सीढ़ी पर पैर रखना पड़ता है। तभी आगे बढ़ना सम्भव हो सकता है। शरीयत के अनुसरण के पश्चात् तो ध्येय-प्राप्ति निश्चित हो जाती है—

साँची राह सरीअत, जेहि बिसवास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै सोइ॥ —पृ० ३२२।

तरीकत अवस्था का तो इस काव्य में जायसी ने नामोल्लेख भी नहीं किया है। मारिफत एवम् हकीकत अवस्थाओं के भी नाम मात्र ही हैं। इनका कोई विशेष वर्णन नहीं है—

राह हकीकत परै न चूकी। पैठि मारफत पार पहूँची॥
—पृ० ३२१।

परन्तु जायसी चारों अवस्थाओं और सातों मुकामात का महत्त्व मानते थे, एवम् उनका विश्वास था कि ध्येय-प्राप्ति में सफलता इन्हीं अवस्थाओं और मुकामात में होकर जाने में है—

सात खण्ड और चार नसेनी। अगम चढ़ाव पंथ तिरवेनी॥
तथा, —पृ० ३२०।
बाँक चढ़ाव सात खण्ड ऊँचा। चारि बसेरे जाइ पहूँचा॥
—पृ० ३१८।

गुरु-महत्त्व

इस अगम मार्ग पर बिना गुरु की विशेष अनुकम्पा के कोई व्यक्ति अग्रसर नहीं होता—

दा-दाया जाकहँ गुरु करई। सो सिख पंथ समुझि पग धरई॥

× × ×

तथा,

तौ वह चढ़ै जो गुरू चढ़ावै। पाँव न डिगै, अधिक बल आवै॥
—पृ० ३२०।

बिना गुरु आश्रय के जो व्यक्ति अपनी शक्ति के बल पर चढ़ने का प्रयत्न करता है, वह अवश्य ही पथ-भ्रष्ट हो जाता है—वह शैतान के जाल में फँस जाता है—

जो अपने बल चढ़ि कै नाघा। सो खसि परा टूटि गइ जाँघा॥
नारद दौरि संग तेहि मिला। लेइ तेहि साथ कुमारग चला॥
—पृ० ३२०।

अस्तु यदि किसी पर योग्य अनुभवी गुरु की अनुकम्पा हो जावे, तो उसे इस मार्ग में अधिक कष्ट भी नहीं उठाने पड़ते, वरन् मार्ग सुख पूर्वक कट जाता है—

जेइ पावा गुरु मीठ, सो सुख मारग मँह चलै ।
सुख आनन्द भा डीठ, मुहम्मद साथी पोढ़ जेहि ॥२६॥

तथा,

फा-फल मीठ जो गुरु हुत पावै । सो बीरो मन लाइ जमावै ॥

तथा, —पृ० ३२२ ।

नवरस गुरु पइ भींज, गुरु परसाद सो पिउ मिले ।
जामि उठै सो बीज, मुहम्मद सोई सहस बुँद ॥४६॥
—पृ० ३३४ ।

प्रेम-मार्ग की कठिनाई

परन्तु उस मार्ग पर चलना—प्रियतम की खोज में निकल पड़ना—सरल कार्य नहीं है—

कटु है पिउ कर खोज, जो पावा सो मरजिया ।
तँह नहि हँसी न रोज, मुहम्मद ऐसे ठाँव वह ॥२३॥

तथा, —पृ० ३२० ।

देखि समुद मँह सीप, बिनु बूढै पावै नहीं ।[1]
होइ पतंग जल दीप, मुहम्मद तेहि धसि लीजिए ॥२७॥
—पृ० ३२२ ।

जिस प्रकार पतंग दीपक पर प्राणाहुति कर देता है अथवा फनिंग अपना रूप छोड़कर भृंग के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति अपने प्राण न्योछावरि कर देता है वही पूर्ण सिद्ध हो जाता है—

मरन खेल देखा सो हँसा । होइ पतंग दीपक मह धसा ॥
तन फनिग कै भिरिंग कै नाई । सिद्ध होइ सो जुग जुग ताई ॥
बिनु जिउ दिए न पावै कोई । जो मरजिया अमर भा सोई ॥
—पृ० ३२८ ।

अतएव अपने को खोकर उसकी खोज करना परम कर्त्तव्य है, क्योंकि प्रियतम के खो जाने पर—उसको विस्मृत कर देने पर, सर्वस्व विनिष्ट हो जाता है—

आपुहि खोए पिउ मिलै, पिउ खोए सब जाइ ।
देखहु बूझि विचार मन, लेहु न हेरि हेराइ ॥ —पृ०, ३२० ।

१—तुलना कीजिए—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि ।
हौं बोरो ढूँढन गई, रही किनारे बैठि ॥ —कबीर

रहस्य-गोपन

अपनी रहस्य-साधना के परिणाम को गुप्त ही रखना चाहिये—

तुम अनुगुपुत मते तेस सेऊ। ऐसन सेउ न जानै केऊ ॥
—पृ० ३२७।

क्योंकि प्रथम तो कोई व्यक्ति बिना साधन किए हुए उस रहस्य को समझ ही नहीं सकता—

आपु मरै बिनु सरग न छूवा। आँधरि कहहि चाँद कँह ऊबा।
—पृ० ३२७।

तथा जो व्यक्ति रहस्य को प्रकट कर देता है, उसकी साधना भंग हो जाती है—

मति ठाकुर कै सुनि कै, कहै जो हिय मझियार।
बहुरि न मति तासों करै, ठाकुर दूजी बार॥ —पृ० ३३१।

अस्तु जो व्यक्ति साधना में सफल हो जाता है, वह चुप ही रहता है—

जो जाने सो भेद न कहई। मन मह जानि बूझि चुप रहई॥
—पृ०, ३३१।

साधन

जायसी ने इस काव्य में उस ध्येय-प्राप्ति के साधनों का भी वर्णन विस्तार से किया है। सबसे प्रथम साधक को काम, क्रोध, तृष्णा, मद और माया—इन पाँच ठगों[1] से बचने के लिये सात्विक भोजन करना चाहिये। महात्मा गाँधी के शब्दों में अस्वाद व्रत लेना चाहिए—

छाँड़हु, घिउ औ मछरी माछू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध मासु घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू॥
एहि विधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिसना मद माया॥
—पृ०, ३२८।

मन की दो दशाएँ होती हैं। एक अन्तर्मुखी और दूसरी बहिर्मुखी। बहिर्मुखी वृत्ति से मन संसार में रमण करता है, परन्तु अन्तर्मुखी वृत्ति से मन आत्म-ज्ञान की ओर अग्रसर होता है—

१—जेहि घर ठग हैं पाँच, नवौ द्वार चहुं दिसि फिरहि।
सो घर केहि मिस बाँच, मुहम्मद जो निसि जागिए॥ —पृ० ३४०।
तथा, तेहि संग लागी पाँचौ छाया। काम कोह तिसना मद माया॥
पृ० ३४१।

तेहि मँह जोति अनूपम भाँती। दीपक एक बरै दुइ बाती॥
एक जो परगट होइ उजियारा। दूसर गुपुत जो दसँव दुवारा॥

तथा, —पृ०, ३२५।

अरध उरध अस है दुइ हीया। परगट गुपुत बरै जस दीया॥
परगट मया मोह जस लावै। गुपुत सुदरसन आप लखावै॥

—पृ० ३२६।

अस्तु मन की अन्तः वृत्ति रखना, उसको उसी ओर स्थिर रखना परम कर्त्तव्य है—

मनुआ चंचल ढाँप, बरजै अहथिर ना रहै।
घाल पिटारै आप, मुहम्मद तेहि विधि राखिए॥ ३८॥

—पृ०, ३२६।

इस चंचल-वृत्ति को दूर करने के साधन कष्ट-साध्य हैं—

पाँच भूत लोहा गति तावै। दुहूँ साँस भाटी सुलगावै॥
कया ताइ कै खरतर करई। प्रेम के संड़सी पोटक धरई॥
हनि हथौव हिय दरपन साजे। छोलनी जाय लिहे तन भाजै॥

—पृ० ३२६।

तत्पश्चात् अनवरत जप एवम् स्मरण करना चाहिये। यह जप चीख-पुकार कर नहीं, अपितु गुप्त रूप से—जिक्र-खफ़ी होना चाहिए—

करनी करै जो पूजै आसा। समरै जाव जो लेइ लेइ सासा॥

तथा, —पृ०, ३२६।

जेकर पास अनफाँस, कहु हिय फिकिर सभारिकै।
कहत रहै हर साँस, मुहम्मद निरमल होइ तब॥ ३६॥

तथा, —पृ०, ३३०।

साठि बरिस जो लपई झपई। छन एक गुपुत जाप जो जपई॥

—पृ०, ३२६।

इस प्रकार उस प्रियतम की खोज अपने अन्दर ही करनी चाहिए—

जो यह खोज आप मँह कीन्हा। तेइ आपुहि खोजा, सब चीन्हा॥

—पृ० ३३०।

वस्तुतः जीव और ब्रह्म एक थे। किन्तु अहंकार के उत्पन्न हो जाने से दो दृष्टिगोचर होने लगते हैं—

'हौं' कहते भए ओट, पियै खण्ड मोसौं किएउ।
भए बहु फाटक कोट, मुहमद अब कैसे मिलहिं?॥१६॥

—पृष्ठ ३१५

अतएव अहंकार को मिटाकर फिर से एक हो जाना चाहिए—

एकहिं तें दुइ होइ, दुइ सौं राज न चलि सकै।
बीचु तें आपुहि खोइ, मुहमद एकै होइ रहु ।।१५।।

तथा, —पृष्ठ ३१४।

आपुहिं पेरि उड़ावै खोई। तब रस औटि पाकि गुड़ होई ।।

तथा, —पृष्ठ ३२३।

जौ लहि आपु न जीयत मरई। हँसै दूर सौं बात न करई ।।

तथा, —पृ० ३३३।

ला-लखई सोई लखि आवा। जो एहि मारग आपु गँवावा ।।

तथा, —पृ० ३२६।

अस मन बूझि छाडु को तोरा। होहु समान करहु मति मोरा ।।
—पृ० ३३४।

उस समय ऐसा प्रतीत होने लगता है कि समस्त स्थानों पर वह फूल में सुगन्धि की भाँति व्याप्त है—

अस वह निरमल धरति अकासा। जैसे मिली फूल महँ बासा ।।
सबै ठाँउ औ सब परकारा। ना वह मिला न रहै निनारा ।।
—पृ० ३३६।

भारतीय-प्रभाव

जायसी पर भारतीय नाथ-सम्प्रदाय की पूर्ण छाप है। उनकी अनेक बातें जायसी ने पूर्णत: स्वीकार करली हैं। स्थूल रूप से आसन, प्राणायाम, आदि गोरखपंथी योगियों के प्रधान अंग हैं। जायसी ने भी इनका महत्त्व माना है—

तब बैठहु, बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगला नारी ।।
—पृ० ३२८।

शून्य का इतना अधिक महत्त्व और विवेचन भी नाथ सम्प्रदाय की देन है।[1] दशम द्वार, अनहदनाद, सोऽहं, ओंकार-ध्वनि, आदि भी उन्हीं के प्रभाव को प्रकट करती हैं।[2] पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकता का इतना सांग एवम् सूक्ष्म विवेचन भी इन्हीं हठयोगियों के प्रभाव का प्रसाद है।[3]

१—देखिए, जायसी-ग्रन्थावली, पृष्ठ ३२४ (२६ वें तथा ३० वें सोरठे की बीच की चौपाइयाँ और दोहा)।

२—वही पृ० ३०७, ३१२, ३१६, तथा ३२५।

३—वही पृ० ३०६।

योगियों का विश्वास है कि दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) को बेध कर लेने पर योगी सर्वज्ञाता हो जाता है—उसे अद्भुत करामात सिद्ध हो जाती हैं। जायसी ने भी इसमें अपना विश्वास प्रकट किया है—

अस दरगाह जाइ नहिं पैठा। नारद पँवरि कटक लेइ बैठा॥
पंडित पढ़ै सो लेइ लेइ नाऊँ। नारद छाँड़ि देइ सो ठाऊँ॥
जेकर हाथ होइ वह कूँजी। खोलि केबार लेइ सो पूँजी॥
उघरै नैन हिया कर, आछै दरसन रात।
देखै भुवन सो चौदहो, औ जानै सब बात॥ —पृष्ठ ३२६।

जायसी के वर्णन भी—साधना-मार्ग के कतिपय रूपक, यथा घा-रूपक[1], घन-दरपन[2]-रूपक, जोलाहा-कर्म-रूपक[3], आदि उसी नाथ शैली के अनुकरण हैं।

एक बात और विशेष ध्यान देने योग्य है। "कबीरदास जिस वंश में पालित हुए थे उसमें योगमत का काफी प्रचार था। उनका पालन-पोषण योगमत के वातावरण में हुआ था इसीलिये उनकी युक्तियों में, भाषा पर तथा तर्क-शैली में उस मत का प्रभाव रह गया है।"[4] और जायसी ने कबीर को बड़ा सिद्ध माना है तथा उनका महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है, जो जायसी पर योगियों के अत्यधिक प्रभाव का द्योतक है—

ना-नारद तब रोइ पुकारा। एक जोलाहै सौं मैं हारा॥ —पृ० ३३१।

सामंजस्य-भावना

उस युग की विशेष प्रवृत्ति थी सामंजस्य-भावना। उसका पूर्णोपयोग जायसी ने अपने सभी काव्यों में किया है। प्रस्तुत काव्य में उन्होंने इस प्रवृत्ति का विशेष उदारता से प्रदर्शन किया है। इस काव्य में जायसी ने हिन्दू-त्रिदेव - ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश का नाम भी दिया है—

सरग न, धरति न खंभमय, बरम्ह न बिसुन महेस।
बजर बीज बीरौ अस, आहि न रंग न भेस॥
—पृ०, ३०४।

१—देखिये, जायसी-ग्रंथावली, पृ० ३२४ तथा ३२५।

२—वही, पृ० ३२९।

३—वही, पृ० ३३२।

४—हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृ० २२।

अल्लाह का नाम तो केवल एक स्थल पर प्रसंग-वश ही है—

अलिफ एक अल्ला बड़ सोई। दाल दीन दुनिया सब कोई॥
—पृ०, ३३०।

'नूर' के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में तो इब्लीस ही नाम दिया है, अन्यथा समस्त स्थलों पर नारद ही संज्ञा दी है—

नूर मुहम्मद देखि तौ, भा हुलास मन होइ।
पुनि इबलीस संचारेउ, डरत रहै सब कोइ॥—पृ०, ३०५।

'कुरान' को तो जायसी ने स्पष्ट शब्दों में पुरान कहा है—

लिखि पुरान विधि पठवा साँचा। भा परवान दुश्रौ जग बाँचा॥

तथा, —पृ० ३२१।

लिखि पुरान मँह कहा विसेखी। मोहि नहि देखहु, मैं तुम्ह देखी॥
—पृ०, ३३०।

स्वर्ग को जायसी ने सदैव कैलाश ही कहा है—

आदम हौवा कहँ सिरजा, लेइ घाला कैलास।
पुनि तहँवा तैं काढ़ा, नारद कै विसवास॥—पृ०, ३०७।

सोऽहं तथा अनलहक के पर्याय होने पर भी जायसी ने केवल सोऽहं का ही प्रयोग किया है—

परम हंस तेहि ऊपर देई। सोऽहं सोऽहं सांसै लेई॥—पृ० ३१२।
सोऽहं सोऽहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥
—पृ०, ३३८।

हिन्दू-मुस्लिम भावनाओं में इतना सामंजस्य दिखलाकर भी उनको संतोष न हुआ। अन्ततोगत्वा जायसी ने अपने इस अन्तिम काव्य में सुस्पष्ट एवम् निर्विवाद शब्दों में दोनों की एकता का उद्घोष कर ही दिया—

तिन्ह संतति उपराजा, भाँतिहि भाँति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥ —पृ०, ३०८।

तथा, मातु कै रकत पिता कै बिंदू। उपनै दुवौ तुरुक औ हिन्दू॥
—पृ०, ३१३।

कबीर साहब ने इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए मुस्लिम दुराग्रह को बुरी तरह डाँटा था—

"जौ तू तुरुक तुरुकनी जाया।..........................॥"

परन्तु यही बात जायसी ने बड़ी सरस उक्ति से हृदयंगम करा दी। वास्तव में जायसी की सामंजस्य-भावना बड़ी सराहनीय है।

तीनों काव्यों के विचारों में सामंजस्य

जायसी के तीनों काव्यों में से 'आखिरी-कलाम' में नाम-मात्र को दार्शनिक विवेचन है। किन्तु जितना भी विवेचन है वह अन्य काव्यों में विवेचन के अनुकूल है। जायसी के तीनों काव्यों में गुरु-महिमा को विशेष महत्त्व दिया गया है। बिना गुरु की विशेष कृपा के कोई साधक सफल मनोरथ नहीं हो सकता- ऐसा उनका सिद्धान्त है। शिष्य की सच्ची लगन और निष्ठा की परख करके गुरु यथावसर साहाय्य प्रदान कर उसे उत्तरोत्तर अग्रसर करता है।

जायसी ने अपने तीनों काव्यों में संसार को असार बतला कर केवल 'उसी' की सत्ता प्रतिपादित की है। वह प्रकाश-पुंज है। उसका भान आत्म-प्रकाश द्वारा ही होता है। यही साधक का परम लक्ष्य है।

इनके तीनों काव्यों से पूर्णतया विदित होता है कि जायसी पर नाथों और सिद्धों का पूर्ण प्रभाव था। उनकी सिद्धियों के वह कायल थे, उनकी करामातों से वह चमत्कृत हो चुके थे। अतएव उनके दशम द्वार, नाद-भेद, तारी लगना, आदि उनको सिद्धान्त रूप से मान्य हुए।

परन्तु जायसी के दार्शनिक विचारों का पूर्ण विवेचन 'पद्मावत' और 'अखरावट' से ही मिलता है जिनका अलग-अलग अनुशीलन गत पृष्ठों में हम अभी कर चुके हैं। इस अनुशीलन के परिणाम स्वरूप विदित होता है कि इन दोनों की विचार शैली एक है। एक काव्य में कथा के आधार पर जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, दूसरे में उन्हीं का विवेचन शास्त्रीय पद्धति पर किया है।

दोनों काव्यों में प्रेम-साधना के मार्ग को सर्वोत्कृष्ट ठहराया गया है। यह साधना जीव का ध्येय है, जो इसी शरीर में सम्भव है। इस मार्ग में कष्ट भी पड़ते हैं। इस साधना की सफलता स्वयम्–अहम्–को मिटा देने में है। परन्तु सच्ची लगन होने पर अनुभवी कृपालु गुरु पार लगा देते हैं।

यह मार्ग रहस्य-भावना से ओत-प्रोत है। इस रहस्य को प्रकट न करने का आदेश जायसी ने अपने काव्यों में स्पष्ट शब्दों में देकर किसी प्रकार के विवाद के लिये स्थान नहीं छोड़ा है।

सूफ़ी-साधना में साधक चार अवस्थाओं तथा सात मुकामात को तय करता हुआ लक्ष्य पर पहुँचता है। इन चार बसेरे और सात मुकामात की चर्चा भी जायसी ने अपने काव्य-द्वय में की है।

उस युग की एक विशेष भावना थी सामंजस्य की, जिसकी ओर हमारे कवि की पूर्ण दृष्टि थी। यह भावना कवि के जीवन में उत्तरोत्तर वृद्धि पाती गई प्रतीत होती है। अन्ततोगत्वा अपने अन्तिम काव्य 'अखरावट' में कवि साम्प्रदायिक रूढ़ियों से बहुत उच्च स्तर पर पहुँच जाता है और हिन्दू-मुस्लिम एकत्व का उद्घोष सुस्पष्ट शब्दों में कर देता है।

अस्तु इस विवेचन से स्पष्ट है कि जो विचार-धारा 'आख़िरी-कलाम' में एक सूक्ष्म तरंगिणी के रूप में निसृत हुई थी वह 'पद्मावत' की सुरम्य स्थली में भीमकाय होकर मंथर गति से कलकल करती हुई 'अखरावट' के उर्वर डेल्टा में सहस्र मुखी होकर केवल 'एक' की ओर अग्रसर होकर विलीन हुई है। सत्य तो यह है कि सभी तत्त्वदर्शी महानुभावों एवम् आचार्यों के निर्णय समानान्तर रेखाओं के सदृश्य प्रतीत होते हुए भी अनन्त बिन्दु (Infinity) पर आ मिलते हैं।

———

रहस्य-भावना

रहस्यवाद

साधारणतया देखने में यजुर्वेद के बृहदारण्यकोपनिषद् का "अहं ब्रह्मास्मि" तथा सूफियों का "अनलहक" एक से प्रतीत होते हैं। किन्तु भारतीय अद्वैतवाद बड़े बड़े ज्ञानी ऋषियों के तत्त्व-चिन्तन का परिणाम है और अनलहक एक अतृप्त भावना का। यह पहले ही कहा चुका है कि इस्लाम-धर्म में बुद्धि को—संयत तर्क को—स्थान न था, वह एक विश्वास-मूलक धर्म है। अस्तु "जब अद्वैतवाद का आधार लेकर कल्पना या भावना उठ खड़ी होती है अर्थात् जब उसका संचार भाव-क्षेत्र में होता है तब उच्चकोटि के भावात्मक रहस्य-वाद की प्रतिष्ठा होती है।"[1]

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक। साधनात्मक रहस्यवाद के अन्तर्गत हठयोग, तंत्र, रसायन, आदि की प्रक्रियाएँ आती हैं, जिनके द्वारा साधक रहस्य की खोज करने का प्रयास करता है; और भावात्मक रहस्यवाद में साधक उस परम सत्ता के प्रति किसी सम्बन्ध विशेष की भावना में अटल विश्वास करता है। कोई उसे पिता के रूप में देखता है, तो कोई सखा के रूप में; कोई उसको प्यारी दुलहिन बनता है, तो कोई उसका प्यारा प्रियतम बन उसके प्रणय की कामना करता है। किन्तु इन सब सम्बन्धों के मूल में अटल विश्वास अभिप्रेत है—बिना विश्वास के यह चल ही नहीं सकता।

सूफियों की रहस्य-भावना

सूफियों की रहस्य-भावना मूलतः भावात्मक है। वह परम विभु उनका प्यारा प्रियतम है। वे उसकी प्रणय-कामना के लिए कष्ट उठाते हैं। किन्तु जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है भारत में सूफियों का सम्पर्क यहाँ के नाथ योगियों से हुआ और वे उनके साधनात्मक रहस्यवाद से भी बहुत कुछ प्रभावित हुए। अस्तु भारतीय सूफियों में दोनों प्रकार की रहस्य-भावना दृष्टिगोचर होती हैं।

१—रामचन्द्र शुक्ल : जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृ० १५३।

एक बात और ध्यान देने की है। अद्वैतवाद में एक ओर तो ब्रह्म और जीव का एकत्व प्रतिपादन किया जाता है और दूसरी ओर ब्रह्म तथा प्रकृति (संसार) की भी एकता स्थापित की जाती है। अतएव सूफी न केवल उस परम में लय हो जाने की उत्कट अभिलाषा लिए होता है, वरन संसार के प्रत्येक पदार्थ में—उसके कण-कण में—उसी परम का चमत्कार देखता है। अस्तु प्रकृति का प्रत्येक व्यापार उसको उसी विभु की सत्ता का आभास देता है।

जायसी की रहस्य-भावना

अब जायसी की रहस्य-भावना पर थोड़ा सा विचार कर लेना उचित होगा। यह तो स्पष्ट है कि जायसी भारतीय सूफी थे। अस्तु, उन पर भी नाथ आदि सम्प्रदायों का पूरा प्रभाव था। फलतः उनके काव्यों में दोनों प्रकार की रहस्य-भावनाओं का पता चलता है। हम पहिले जायसी की साधनात्मक रहस्य-भावना का ही विवेचन करेंगे।

जायसी की साधनात्मक रहस्य-भावना

यह कहा जा चुका है कि जायसी के विचारों के सम्बन्ध में आखिरी-कलाम से कोई विशेष सहायता नहीं मिलती। उसके शेष दोनों ग्रन्थों में उसके दार्शनिक विचारों का पता चलता है। 'पद्मावत' में स्थान-स्थान पर इड़ा, पिंगला, सुखमन नाड़ियों की चर्चा है, दशम द्वार, बज्रासन, तारी लगना, आदि भी प्रसंगानुकूल उपस्थित हैं। गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोपीचन्द, मयनावती आदि के भी प्रसंग हैं। किन्तु ऐसे स्थलों से यह स्पष्ट धारणा होती है कि कवि का मन इनमें नहीं रमा है। कवि इस साधनात्मक क्षेत्र के बाह्य से ही परिचित ज्ञात होता है। कदाचित् इसमें इसका पूर्ण विश्वास भी न था।

अखरावट में अवश्य ही जायसी ने कई स्थलों पर रहस्य-साधनाओं का उल्लेख किया है। एक स्थल पर तो स्पष्ट शब्दों में हठयोग की साधना का आदेश दिया है—

छाँड़हु घीउ और मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू॥
दूध, माँसु, घिउ करु न अहारू। रोटी सानि करहु फरहारू॥
एहि विधि काम घटावहु काया। काम क्रोध तिसना मद माया॥
तब बैठहु बज्रासन मारी। गहि सुखमना पिंगल नारी॥

—पृ० ३२८

जायसी की भावात्मक रहस्य-भावना

वस्तुतः जायसी का रहस्यवाद भावात्मक ही है। इनसे पहले की प्रेम-कहानियों में भी इस रहस्य-भावना के दिग्दर्शन होते हैं। जायसी एक सच्चे कवि थे। अतएव वह इन भावों का चित्रण करने में पूर्ण सफल हुए हैं।

प्रथमतः ये दोनों—ब्रह्म और प्रकृति—एक थे, परन्तु न मालूम किसने बीच में भेद डालकर उनमें बिछोह करा दिया—

धरती सरग मिले हुत दोऊ। केइ निनार कै दीन्ह बिछोहू ॥

इसीलिए समस्त महाभूत उस तक पहुँचने का निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं। सफल न होने पर भी इसी में तत्पर रहते हैं—

धाइ जो बाजा कै मन साधा। मारा चक भएउ दुइ आधा ॥
चाँद सुरुज औ नखत तराईं। तेहि डर अँतरिख फिरहिं सवाईं ॥
पौन जाइ तहँ पहुँचै चहा। मारा तैस लौटि भुँइ रहा ॥
अगिनि उठी, जरि बुझी निआना। धुआँ उठा, उठि बीच बिलाना ॥
पानि उठा उठि जाइ न छूआ। बहुरा रोइ, आइ भुँइ चूआ ॥

—पृ० ६६।

जायसी सम्पूर्ण सृष्टि को उसी के अनुराग में डूबी पाते हैं—

सूरुज बूड़ि उठा होइ राता। औ मजीठ टेसु बन राता ॥
भा बसन्त रातीं बनसपती। औ राते सब जोगी जती ॥
पुहुमि जो भीजि, भएउ सब गेरू। औ राते तहँ पंखि पखेरू ॥
राती सती अगिनि सब काया। गगन मेघ राते तेहि छाया ॥
ईंगुर भा पहार जो भीजा। × × ॥

—पृ० ६८।

कवि की दृष्टि में संसार का प्रत्येक व्यापार केवल उसी के सामीप्य की प्राप्ति का प्रयत्न है—

सरवर रूप विमोहा, हिए हिलोरहि लेइ।
पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहिं लेइ ॥४॥ —पृ० २४।

संसार में जो कुछ दिव्य है, जिसमें जो कुछ चमक है उन सब पदार्थों में जायसी को उसी की आभा की झलक मिलती है—

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥

—पृ० ४४।

वह दिव्य आलोक तो सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी दूर क्यों प्रतीत होता है—

चख महँ नियर निहारत दूरी। सब घट माँह रहा भर पूरी ॥

—पृ० ३१४।

कवि कभी-कभी इतना रहस्योन्मुख हो उठता है कि उसको सर्वत्र उसी की झलक दिखाई देने लगती है—

परगट गुपुत सकल महँ, पूरि रहा सो नाँव।
जहँ देखौं तहँ ओही, दूसर नहिं जहँ जावँ ॥६॥[1]

—पृ० १०५।

उस तक पहुंचने का मार्ग भी सरल है—

जो ओहि हेरत जाइ हेराई। सो पावै अमृत फल खाई ॥

—पृ० ३१६।

वास्तव में जायसी की रहस्य-भावना बड़ी उच्च कोटि की थी। वह सृष्टि के प्रत्येक प्राणी में, प्रत्येक व्यापार में और प्रत्येक घटना में उसी की झलक देखते थे। प्रकृति का प्रत्येक कण उनको उसी के वियोग में व्यथित दृष्टिगोचर होता था और प्रतीत होता था उससे मिलने के लिए उतावला।

———

१—तुलना कीजिए—

तूँ तूँ करता तू भया, मुझ में रही न हूँ।
वारी तेरे नाम पर, जित देखौं तित तू ॥

—कबीर।

अन्य सूफियों से तुलना

समस्त सूफी साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम, वह ग्रन्थ हैं जिनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन शास्त्रीय-पद्धति पर किया गया है, तथा द्वितीय, वे ग्रन्थ हैं जिनमें सूफी विचारों का समावेश कथा किंवा व्यक्तिगत भावोद्रेक के रूप में हैं। पहले प्रकार के ग्रन्थ शुद्ध शास्त्र और दूसरे प्रकार के सरस साहित्य के अन्तर्गत आते हैं।

शास्त्र-ग्रन्थों का प्रणयन तो अनेक सूफ़ी विद्वानों ने समय-समय पर किया ही था और अब भी हो रहा है, किन्तु शाह शहाबुद्दीन सुहरावर्दी ने अपने लोक-विख्यात 'अवारिफ-उल-मारिफ' में केन्द्रीय दर्शन (Central Philosophy) का तथा शाह मुहीउद्दीन इब्न अरबी ने वाम पक्षी दर्शन (Leftist Philosophy) का विवेचन इतनी योग्यता एवम् पूर्णता से कर दिया है कि इनके पश्चात् रहस्य-दर्शन पर किसी को कोई नवीन बात लिखना शेष न रहा, यद्यपि अनेक सूफ़ी विद्वान् कतिपय बड़े-बड़े ग्रन्थ इस विषय पर लिखते आ रहे हैं।[1]

दूसरे प्रकार के साहित्य में आकर्षक मसनवी हैं, भावपूर्ण रूबाइयाँ हैं तथा सरस ग़ज़ल हैं। उमर ख़य्याम को तो लोग केवल उद्भट गणितज्ञ के रूप में ही जानते थे। फिट्ज-जीराल्ड की कृपा से वह आधुनिक युग में सूफी भी प्रसिद्ध हो गया है। ग़ज़ल सरस तो होते हैं, किन्तु उसमें तसव्वुफ का लिखा जाना भी एक प्रकार से नवीन प्रयत्न है। सूफी-साहित्य में तो प्राचीन-काल से ही मसनवियों का बोल-बाला रहा है।

१—मुहम्मद हबीब : अर्ली मुस्लिम मिस्टीसिज्म, काशी-विद्यापीठ रजत-जयन्ती, अभिनन्दन ग्रन्थ, में लेख, पृ० ८५

"Writh these two great thinkers Muslim Mystic Philosophy reached its culmination. Great mystic works in prose and verse were still to come—works of great capacity, power and art. But to the philosophy of mysticism there was little to add."

फारसी मनसवी लेखकों में "सनाई प्रथम, अत्तार द्वितीय और रूम तृतीय है।[1] इतिहास की दृष्टि से यह ठीक है, किन्तु उत्कृष्टता की माप से यह क्रम उल्टा है, अर्थात् रूम सर्व प्रथम और सनाई का स्थान तृतीय है।

प्रस्तुत कवि ने दोनों प्रकार के साहित्य का सृजन किया है। 'अखरावट' प्रथम प्रकार की और 'पद्मावत' द्वितीय कोटि में आती है। जायसी के सूफी दर्शन-विवेचन में नवीनता का समावेश भले ही न हो, किन्तु उसकी एक विशेषता अवश्य है। उसने अपनी सामंजस्य-बुद्धि के उपयोग से सुहरावर्दी स्कूल के केन्द्रिय-दर्शन को लोकप्रिय बना दिया है। तथा कतिपय सूफी सिद्धान्त जो भारत के ऋणी थे, परन्तु भारत में नवीन परिधान में आए थे जायसी के सद् प्रयत्न से अपने प्रकृत रूप में दृष्टिगोचर होने लगे।

रही जायसी की 'पद्मावत' उसका हिन्दी-जगत् में ही नहीं, वरन् भारतीय साहित्य में वही प्रसिद्धि है जो फारसी में मौलाना रूम की मसनवी की। परन्तु जायसी की कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं। इन्होंने अपनी प्रेम-कहानी में करुणा का इतना सरस योग दिया है कि उसका प्रत्येक शब्द आर्द्र होकर ओस-बिन्दु-सिंचित गुलाब-दल सा प्रतीत होता है। उसकी प्रेम-पद्धति में पार्थिव माध्यम विलुप्त प्रायः हो गया है। तथा उसकी सामंजस्य भावना ने प्रत्येक सहृदय एवम् विवेकशील प्राणी के हृदय में स्थायित्त्व प्राप्त कर लिया है।

१—ब्राउन : लिटरेरी हिस्ट्री ऑव परशिया।

सूफ़ी साहित्य की देन

मुसलमानों की धार्मिक भाषा अरबी है। अतएव प्रारम्भ में सूफीमत के ग्रन्थ भी इसी भाषा में रचे गए। परन्तु ईरान-विजय के पश्चात् फारसी ने मुसलमानों को आकर्षित कर लिया और एक प्रकार से फारसी उनकी राज्य-भाषा के रूप में ग्राह्य हुई। फलतः मुस्लिम-साम्राज्य के साथ-साथ फारसी भी भारत में व्याप्त होने लगी। यहाँ के सूफियों ने भी इसी भाषा को अपना माध्यम स्वीकार किया। इनके ग्रन्थ भी इसी भाषा में रचे गये। परन्तु सर्व साधारण से वे उनकी बोली में भी बात-चीत करते थे।[1] कभी-कभी हिन्दी 'भाषा' में दो-चार 'दोहरे' भी कह देते थे।[2] भारतीय जनता इनके सिद्धान्तों को पूर्णतया न समझकर भी, साधुओं के प्रति सम्मान की सहज भावना से ही उनका सत्कार करती थी तथा उनकी करामातों के समक्ष नत मस्तक होती थी। अस्तु हजरत मुईनुद्दीन चिश्ती, हजरत औलिया एवम् उनके कतिपय प्रसिद्ध शिष्यों का अपना व्यक्तिगत आकर्षण था। परन्तु अभी तक उनके सिद्धान्त लोकभाषा में पुस्तक रूप में उपलब्ध न हो सकने के कारण, जनता का हृदय एक प्रकार से अतृप्त ही था।

इस अभाव की पूर्त्ति मलिक मुहम्मद जायसी ने की। वह अवध प्रान्तान्तर्गत एक नगर के रहने वाले थे। उन्होंने अपने स्थान की जन-साधारण की बोली में सूफी-सिद्धान्तों को रच डाला। जनता

१—मौ० अब्दुलहक़ : उर्दू की नशोनुमा में सूफियाये कराम के काम, पृ० ४—

"जितने औलिया अल्लाह सरजमीं हिन्द में आए या यहाँ पैदा हुए वह वावजूद आलियो फाजिल होने के 'खवास को छोड़कर' अवाम से इन्हीं की बोली में बात-चीत करते और तालीमोतलकीन फर्माते थे।"

२—वही, पृ० ६।

के अतृप्त हृदय को संतोष प्राप्त हुआ। जायसी के जीवन काल ही में उनके काव्य लोक-प्रिय होगए। जिस व्यक्ति ने उनके चार-छः पद्य सुने, उनका मुरीद होगया।[1] 'पद्मावत्' की लोक-प्रियता के प्रमाण तो इसके अनुवाद बंगला, पश्तो, फ़ारसी, उर्दू, खड़ी बोली हिन्दी, फ्रेंच तथा अंगरेजी[2] में पाये जाना हैं।

अस्तु, जायसी के काव्य भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी में सूफी-साहित्य की अक्षय निधि हैं जिसकी तुलना अभी तक कोई अन्य सूफी कवि न कर सका। तथा इन्हीं काव्यों के कारण सूफी सिद्धान्तों के प्रति भारतीय सद्भावना अक्षुण्ण बनी हुई है।

———

१—पद्मावत् के एक दोहे पर रीझ कर अमेठी के राजा का जायसी को सत्कार पूर्वक अपने यहाँ बुलाना प्रसिद्ध ही है।

२—डा० कमल कुलश्रेष्ठ: मलिक-मुहम्मद-जायसी, पृ० २५-२६।

एकादश अध्याय

उपसंहार

कवि का महत्त्व

सच्चा कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसके काव्य में तत्कालीन प्रगतियों की पूर्ण झलक पाई जाती है तथा उसमें वह अपने समय की मुख्य-मुख्य गुत्थियों के सुझाव समाज के सम्मुख उपस्थित करता है। इसीलिए तो साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। अन्य महापुरुषों की भाँति महान् कलाकार कवि भी प्रस्तुत समाज को अभीष्ट जगत्—आदर्श लोक की ओर ले जाना चाहता है, जिस की सुरम्य छवि वह अपने काव्य में चित्रित कर समाज के समक्ष उपस्थित करता है। कभी-कभी समाज की पतनोन्मुख दशा से वह विचलित हो क्रान्ति के बीज वपन करता है, परन्तु एक कुशल इंजीनियर की भाँति वह प्रायः समाज-प्रवाह में यत्र-तत्र मोड़ और बाँध देता हुआ उसे अभीष्ट-पथ की ओर अग्रसर करता है। राष्ट्र और समाज की आवश्यकताएँ कवि का सृजन करती हैं और उसका काव्य राष्ट्रोपयोगी तथा समाजोपयोगी सुधारकों का निर्माण। अस्तु कवि की कृतियों का स्थायी महत्त्व है। अब हम इसी दृष्टिकोण से विवेचन करके देखेंगे कि जायसी के काव्य साहित्य-विकास तथा सामाजिक उत्थान आदि में कहाँ तक योग दे सके हैं। जायसी का पूर्ण परिशीलन करने के उपरान्त यह विवेचन करना भी समीचीन है।

हिन्दी-साहित्य में योग

प्रस्तुत निबन्ध में साहित्यिक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा है। अतएव पहले हम साहित्य-विकास में जायसी के हाथ का विवेचन करेंगे। जायसी के पूर्ववर्ती कवियों का हमारे साहित्य में अभाव नहीं है वरन् उनकी संख्या पर्याप्त है—उनमें महाकाव्य-कार भी हैं,

गीति-काव्यकार भी हैं और फुटकरिये भी। परन्तु उनमें से किसी का काव्य न तो क्षेपकों से मुक्त प्राप्त होता है, न उनकी भाषा का ठिकाना है और न शैली में स्वच्छन्दता और प्रवाह है। पृथ्वीराज-रासो एक विशद् महाकाव्य है। हम उसमें प्रक्षिप्तांश की पर्याप्त मात्रा भी स्वीकार करते हैं। 'इसकी सब से बड़ी विशेषता वर्णन है'।[1] परन्तु इसके 'पद्मावती-समय', 'रेवातट-समय', आदि के अतिरिक्त और कितने समयों की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान गया है? कबीर साहब अवश्य ही हिन्दी के विद्वानों तथा सर्व-साधारण में समान भाव से आदरणीय हैं, किन्तु भाषा की दृष्टि से तथा छन्दों (दोहा) की सफाई की दृष्टि से वह कितने पिछड़े हुए हैं, इसका विवेचन पूर्व पृष्ठों में हो चुका है। हम यह मानते हैं कि भाव भाषा के भूखे नहीं रहते, फिर भी भाषा और छन्द की दुर्बलताएँ साहित्य के विकास में त्रुटियाँ अवश्य मानी जायँगी।

जायसी की भाषा शुद्ध है, स्वच्छ है, प्रवाहमयी है। उसमें सबलता है, व्यंजक क्षमता है और है सरसता। उसके छंदों (दोहे, चौपाइयाँ तथा सोरठा) में गति है, सफाई है और माधुर्य है। उसके अलंकारों में मौलिकता भी है और परम्परा-पालन भी; रसों की पूर्ति सरस वर्णनों द्वारा हो गई है। अस्तु, जायसी का 'पद्मावत्' हिन्दी-साहित्य का प्रथम निर्दोष एवम् सरस महाकाव्य है, जिसके समय, रचयिता, क्षेपक-मुक्तता, सरसता आदि के विषय में विद्वानों में मत-भेद नहीं है। अस्तु एक प्रकार से जायसी हिन्दी के सर्व प्रथम महा-काव्यकार हैं।

महाकाव्यों की परम्परा की चर्चा करते हुए यह पहले ही बताया जा चुका है कि भारत में महाकाव्यों का पर्याप्त चलन था। यह तो हमने कहीं भी स्वीकार नहीं किया है कि जायसी ने इन काव्यों किंवा इस परम्परा का अध्ययन किया था, परन्तु यह अनुमान होता है कि उसने इस परम्परा के पूर्वरूप—मौखिक कथाओं को उत्सुकता से सुना था। उस समय नाथ-पंथियों की कृपा से भर्तृहरि, गोपी-चन्द, जाहरपीर (जहरपी) मयनावती, आदि की कथाएँ उत्तर भारत में पूर्ण प्रतिष्ठा पा चुकी थीं। दूसरे जायसी के निवास स्थान की

१—डा० धीरेन्द्र वर्मा: काशी-विद्यापीठ, रजत-जयन्ती स्मारक-ग्रन्थ में लेख, पृ० १७६।

"जन-साधारण में अब भी साहित्य की एक जागृत और सजीव परम्परा विद्यमान है। आज भी कोई ऐसा गाँव न होगा जिसमें दो चार सौ कवित्त याद रखने वाले दो चार कविता प्रेमी न निकल आवें।.........जीवन के हर काम और बात-बात में कवियों की उक्तियों को उद्धृत करना यहाँ की बोलचाल की विशेषता है"।[1] जायसी के समय में भी यह बात अक्षरशः सत्य रही होगी और जायसी उस समय के जायस के 'दो चार कविता प्रेमियों' में रहे होंगे। इसके परिणाम स्वरूप उनके काव्य कथा-प्रसंगों, सूक्तियों, मुहाविरों और कथाओं से ओत-प्रोत है।

जायसी ने एक और दिशा में हमारे साहित्य के विकास में योग दिया है। वह है फारसी-साहित्य का प्रभाव। उन्होंने कुछ अप्रस्तुत फारसी-साहित्य से भी प्रस्तुत किए हैं और वहाँ की ऊहात्मक भाव-व्यंजना प्रणाली को भी अपनाया है जिसके प्रभाव का विवेचन आगे मिलेगा। संक्षेप में हमारी साहित्य-निधि के संचय में जायसी के सफल प्रयत्न सराहनीय हैं।

दार्शनिक विचार-धारा में योग

जायसी के दर्शन-विवेचन में यह बात स्पष्ट कर दी गई है कि उनके विचारों में सम्बद्धता न थी। वस्तुतः दार्शनिक विचारों में परिपक्वता सतत अध्ययन और मनन का परिणाम होती है। केवल बहुश्रुत व्यक्ति साधारणतः अव्यवस्थित विचारों के होते हैं, क्योंकि उनके समक्ष किसी भी भाव का स्वच्छ और स्पष्ट रूप नहीं आने पाता। यही कारण है कि जायसी के विचार नितान्त स्पष्ट नहीं हैं। कभी वह एकेश्वरवाद के समर्थक प्रतीत होते हैं तो कभी अद्वैत के। वस्तुतः वे इन दोनों के सूक्ष्म-भेद को समझने में असमर्थ थे। इसी कारण उनकी विचार-धारा में जनता का मन न रमा। इसका एक और भी कारण हो सकता है। वह यह कि उनका सिद्धान्त-ग्रन्थ—अखरावट—एक सम्प्रदाय विशेष (सूफीमत) की सम्पत्ति समझी जाकर अन्य गुह्यमतों के सिद्धान्तों की भाँति विशिष्ट लोगों (Inner Circle) तक सीमित होगया। भारतीय विचार-

१—नया साहित्य, भाग ६—निराला अंक, पृ० २१।

धारा में जायसी से अधिक प्रभाव तो निर्गुणिए संतों का लक्षित होता है।

सामंजस्य-भावना

उस काल की एक साधारण भावना थी सामंजस्य की। नानकदेव, रामानन्द, कबीर आदि उसी भावना के पोषक व्यक्ति थे। जायसी ने इस भावना में पूर्ण सहयोग दिया था, जिसके उदाहरण 'पद्मावत' के प्रत्येक पृष्ठ पर पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। इस दिशा में जायसी के काव्य विशेष सफल हो सके, उसका विवेचन पूर्व पृष्ठों में विस्तार से किया जा चुका है। किन्तु हमें स्वीकार करना पड़ता है कि जायसी का यह प्रयत्न स्थायित्व न प्राप्त कर सका। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित प्रतीत होते हैं—

१—जायसी के काव्य की भाषा एक प्रदेश विशेष की बोलचाल की है जिसका क्षेत्र सीमित है। उस क्षेत्र से अधिक दूर उस भाषा का ठीक-ठीक समझना कठिन ही था। अतएव अवध प्रान्त के बाहर उसके काव्यों का प्रचार न हो सका। एकाध जायसी-भक्त ने उनके अनुवाद द्वारा प्रचार के असफल प्रयत्न भी किए। किन्तु व्यर्थ। हिन्दी साहित्य की भाषाओं में अवधी कभी भी विशेष लोक-प्रिय न हो सकी, यद्यपि यह विरोधाभास प्रतीत होता है कि हिन्दी का सर्वोत्तम काव्य-रत्न—रामचरित मानस—अवधी भाषा में ही है। हमारी तो धारणा है कि रामचरित मानस का हिन्दी-क्षेत्र में सर्वत्र सुबोध होना उसकी संस्कृत तत्समता और कोमल-कान्त पदावली के कारण है। यदि जायसी के काव्य में भी बोलचाल की भाषा का इतना निखार न होकर तत्समता किंवा 'सधुक्कड़ी भाषा'—जो निर्गुणिये सन्तों की कृपा से उत्तर भारत और राजस्थान की प्रायः राष्ट्रभाषा हो गई थी—का प्रयोग हुआ होता, तो वे विशेष प्रचार में आगये होते। (यद्यपि हिन्दी-साहित्य लोक-भाषा के अनूठे माधुर्य से पूर्ण एक अन्यतम ग्रन्थ से सदैव के लिए वंचित रह जाता।)

२—इसका दूसरा कारण है मुसलमानों का हिन्दी से खिंचाव। मुगलों ने तो हिन्दी के विरोध में उर्दू का राज्याश्रय ही प्रदान किया था। इतिहास साक्षी है कि अकबर के आदेश से नागरी अक्षर राज-मुद्राओं—सिक्कों—से हटा दिए गये थे।[1] परिणाम यह हुआ कि

१—चन्द्रबली पांडेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत, पृ० १६५ का नुटनोट।

मुसलमान हिन्दी से खिंचते गए और जायसी जैसे सहृदय व्यक्तियों के सामंजस्य के प्रयत्न निष्फल होते गए और अन्त में हिन्दू-मुसलमानों के बीच ऐसी चौड़ी खाड़ी का निर्माण हो गया कि जिसके दुष्परिणाम के प्रायश्चित में भारत का विभाजन भी अपर्याप्त प्रतीत होता है।

३—एक कारण इन काव्यों को सूफीमत की सम्पत्ति समझा जाना है, जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं।

४—एक अन्य कारण शायद यह है कि विचारशील पाठक के लिए इन काव्यों में कोई आकर्षक एवम् मनन करने योग्य सामग्री भी नहीं है। वर्णन की सरसता मनन का विषय नहीं हो सकती तथा विदग्धता, व्यंग और अलंकारिक चमत्कारों में भी स्थायी आकर्षण नहीं होता।

अस्तु स्पष्ट है कि जायसी के विचार एक छोटे क्षेत्र की साधारण जनता के अतिरिक्त अन्य भारतीयों में प्रचार न पा सके।

भारतीय विचार-धारा पर न सही, हिन्दी-साहित्य पर जायसी का ऋण अवश्य है। इसका महत्त्व उस समय और बढ़ जाता है, जबकि हम देखते हैं कि लगभग उसी ढाँचे में (उसके व्यवस्थित, संशोधित तथा संवर्द्धित रूप में) इनसे लगभग तीस वर्ष पश्चात् हिन्दी-जगत् का सर्वोत्तम रत्न निर्मित किया गया। क्या भाषा, क्या छंद, क्या प्रासंगिक कल्पनाएँ—सभी में जायसी की स्पष्ट छाप है। इसके उपरांत तो जायसी-छाप के स्थान पर तुलसी-छाप चल निकली।

साहित्यिक विधानों के अन्तर्गत हम दिखला चुके हैं कि तुलसी ने अपने काव्य की रूपरेखा भी उसी परम्परा से ग्रहण की, जिससे जायसी ने अपनी कथा के लिए सामग्री चुनी थी। तुलसी ने कुछ जायसी का अनुकरण न किया था।

एक और दिशा में हमारे साहित्य पर जायसी का दूर का प्रभाव लक्षित होता है। वह है फारसी-साहित्य का प्रभाव। हमारे कहने का यह कदापि अर्थ नहीं है कि फारसी का जो भी प्रभाव हमारे साहित्य में लक्षित होता है, वह सब जायसी द्वारा ही आया। प्रत्युत हम स्वीकार करते हैं कि इस प्रभाव का विशेष कारण तो भारतीयों

का फारसी-साहित्य मे सम्पर्क है। परन्तु हमारे साहित्य में पहले-पहल जायसी के काव्य में ही यह प्रभाव लक्षित होता है। इस प्रभाव के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं:—

प्रथम—फारसी के अप्रस्तुतों का प्रयोग। इस प्रभाव के कारण जायसी ने कुछ ऐसे अप्रस्तुत भी प्रयोग कर डाले हैं जो शृंगार में बीभत्स उपस्थित कर देते हैं, जिसके कारण रस-संचार में बाधा पड़ती है। इस प्रकार के—रस-विरोधी—प्रायः सभी उपमान हिन्दी में अवांछनीय समझे जाकर अग्राह्य रहे। परन्तु जो अनुकूल और भाव-व्यंजना तथा रूप-सादृश्य में सहायक प्रतीत हुए उनका प्रयोग होने लगा। कुछ नवीन उपमानों की कल्पना कर परम्परा-बंधन से मुक्त होने का प्रोत्साहन भी कवियों को मिला।

द्वितीय—ऊहात्मक पद्धति का प्रयोग। जायसी ने इसका प्रयोग अवश्य किया है, इसका दिग्दर्शन हम करा चुके हैं। यह पद्धति चमत्कार पूर्ण होने से तात्कालिक प्रभाव डालने में समर्थ होती है। अस्तु चमत्कारी कवियों में (बिहारी आदि में) इसका प्रयोग बहुलता से मिलता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार पूर्ण परिशीलन के पश्चात् हमारा विचार है कि मलिक मुहम्मद हमारे हिन्दी-साहित्य के सुनिश्चित एवम् कुशल कलाविद् प्रथम महाकाव्य कार हैं। वे अवध प्रान्त की जनता के अन्यतम एवम् प्रतिनिधि कवि हैं। बोलचाल की भाषा का जो निखरा हुआ रूप और मिठास उनके काव्य में प्राप्त होता है वह अन्यत्र दुलभ है। एक और बात में वे बेजोड़ हैं। वह है उनकी आर्द्रता। इतना आर्द्र हृदय सम्पूर्ण हिन्दी जगत में किसी ने भी नहीं पाया। प्रसिद्ध कवियित्री मीरा ने रो-रोकर गाया था। उसके पद-पद में क्रन्दन बन्दी है, किन्तु उसके रोने में एक आवेश है, मतवालापन है, एक मस्ती है जो श्रोताओं में उसके प्रति सहानुभूति तो जागरित कर देती है, किन्तु उनके हृदय को पूर्णतया गीला नहीं कर पाती। सुश्री महादेवी वर्मा के गीतों में भी करुण-कलाप है, हार्दिक वेदना है, एक टीस है, किन्तु उनमें भी जायसी की आर्द्रता का अभाव है।

आजकल की बोली में कहना चाहें तो हम कह सकते हैं कि जायसी सोलहवीं शताब्दी के प्रगतिशील कवि हैं। उन्होंने जनता की भाषा को अपनाया, उनके मनरंजन की सामग्री प्रस्तुत की, उनके धार्मिक, सामाजिक प्रतिबन्धों पर आलोचना की और उनको सुझाया एक लक्ष्य। भारतीय ग्राम्य वातावरण का इतना सुरम्य चित्रण; उनके उत्सव, मनोरंजनों, उल्लासों का इतना सजीव विवरण; उनकी हार्दिक विमलता, विशालता, उच्चता का इतना स्पष्टीकरण अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता। 'पद्मावत' के कतिपय स्थलों को पढ़ते समय अवध प्रान्त की प्रकृत रम्य स्थली नेत्रों के समक्ष उपस्थित सी होने लगती है।

कवि स्वयं धार्मिक तथा सामाजिक प्रतिबन्धों से उन्मुक्त विनयशील व्यक्ति है जिसका मन यहाँ के वातावरण में पूर्णतया रम गया था। इसीलिए तो उसका काव्य इतना आकर्षक हो सका।

एक बात और, वैसे तो जायसी के विषय में विद्वान् विभिन्न दृष्टिकोण से अध्ययन कर ही रहे हैं और होना भी चाहिए, किन्तु इन 'अध्ययनों' का दृष्टिकोण संकुचित न होना चाहिए। कवि की वास्तविक महत्ता और उसके गुणों की सच्ची परख होनी चाहिए। सब से बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि उसके काव्यों का एक वैज्ञानिक पाठ प्रस्तुत किया जावे उसमें लगभग सभी प्राप्य पाठान्तर दिये जावें, तथा उन पर आवश्यक टिप्पणी रहे[1]। इस कार्य में प्राकृत (पुरानी हिन्दी) जैन-साहित्य, नाथ एवम् सिद्ध साहित्य और अवध के वातावरण का विशेष अध्ययन होना चाहिये। यह तो स्पष्ट है कि जायसी भारत की ग्राम्य जनता के कवि हैं। अस्तु यदि अवध में प्रचलित देहाती कहानियों का संग्रह भी कर लिया जावे तो आशा है कि जायसी का पाठ निश्चित करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त हो सकेगी। उत्तर भारत ही नहीं वरन् राजस्थान में भी अब तक नाथों का प्रभाव लक्षित

१—हर्ष का विषय है कि डा० माताप्रसाद गुप्त ने कतिपय हस्त लिखित प्रतियों के आधार पर 'पद्मावत्' का वैज्ञानिक प्रणाली पर सुन्दर पाठ प्रस्तुत किया है तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'पद्मावत्' के पाठ में अन्य सुधारो का सुझाव देते हुए विद्वत्तापूर्ण सुविस्तृत भाष्य प्रस्तुत कर दिया है।

होता है और जायसी पर भी इनका प्रभाव स्पष्ट है। अतएव यदि अन्य प्रान्तों की लोक कहानियों का भी संग्रह कर लिया जावे तो और भी उत्तम हो।

दूसरे, हिन्दी साहित्य पर जैनों और नाथों का प्रभाव इतना अधिक है कि इसके स्वतन्त्र और विस्तार पूर्वक अध्ययन की आवश्यकता है। प्रस्तुत निबंध के साहित्यिक विधान वाले अध्याय में इस ओर इङ्गित किया गया है कि ये वर्णन किसी परम्परा के विकसित रूप हैं। अत: साहित्यिक विधानों के विकास संबन्धी अध्ययन की भी आवश्यकता है।

इस प्रकार इन विभिन्न अङ्गों पर अध्ययन के पश्चात् जायसी के काव्यों का ही नहीं वरन् हिन्दी-साहित्य के विकास का पूरा पूरा विवेचन प्रस्तुत हो सकेगा। आशा है हिन्दी प्रेमी विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे।

परिशिष्ट

सहायक पुस्तकों की सूची—

(क) हिन्दी-पुस्तकें

१—अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध : कबीर बचनावली (इण्डियन प्रेस, प्रयाग) सप्तम संस्करण, १९८७ वि० ।

२—कबीर ग्रन्थावली (नागरी प्रचारिणी सभा) ।

३—डा० कमल कुलश्रेष्ठ : मलिक मुहम्मद जायसी, प्रथम भाग (साहित्य भवन लि० प्रयाग), १९४७ ई० ।

४—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार : काव्यकल्प द्रुम, (नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा) द्वि० सं०, सं० १९८३ वि० ।

५—पं० कालीचरन शर्मा : कुर्आन मजीद (आर्य मुसाफिर पुस्तकालय आगरा), प्रथम संस्करण ।

६—काशी विद्यापीठ, रजत-जयन्ती अभिनन्दन-ग्रन्थ, वसन्त ५, २००३ वि० ।

७—कोशोत्सव स्मारक ग्रन्थ (नागरी प्रचारिणी सभा काशी)

८—म० म० डा० गंगानाथ झा : कवि-रहस्य (हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग) सन् १९२९ ई० ।

९—म० म० डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा : राजपूताने का इतिहास, भाग १ तथा २ ।

१०—चन्द्रबली पाण्डेय : तसव्वुफ अथवा सूफीमत (सरस्वती मन्दिर, जतनबर, बनारस) १९४५ ई० ।

११—जयशंकर प्रसाद : चन्द्रगुप्त (भारती भण्डार, काशी) सं० १९८८ वि० ।

१२—तुलसी-ग्रन्थावली ।

१३—द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ ।

१४—प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ ।

१५—बाँके बिहारी तथा कन्हैयालाल : ईरान के सूफी कवि (भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग) सं० १९९६ वि० ।

१६—डा० माता प्रसाद गुप्त : तुलसीदास (हिन्दी परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय), सन् १९४६ ई० ।

१७—मिश्र बन्धु : मिश्रबन्धु विनोद ।

१८—रघुपति सहाय फिराक : उर्दू कविता पर बात चीत (तरुण कार्यालय, इलाहाबाद) तृतीय संस्करण १९४५ ई० ।

१६—डा० रघुवीरसिंह : पूर्व मध्यकालीन भारत १२०६ से १५२६ ई० (इण्डियन प्रेस, प्रयाग) सं० १६८६ वि० ।

२०—डा० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद ।

२१—वही : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (रामनरायन लाल एण्ड को, इलाहाबाद) सन् १६३८ ई० ।

२२—रामचन्द्र शुक्ल : काव्य में रहस्यवाद (साहित्य भूषण कार्यालय, बनारस) प्रथम संस्करण, १६८६ वि० ।

२३—वही : हिन्दी साहित्य का इतिहास (इंडियन प्रेस, प्रयाग), १६६७ वि० ।

२४—वही : जायसी-ग्रन्थावली (ना० प्र० सभा, काशी) प्रथम सस्करण, सन् १६२४ ई० ।

२५—वही : जायसी-ग्रन्थावली, द्वि० सं०, १६३५ ई० ।

२६—वही : तृतीय संस्करण, सं० २००३ वि० ।

२७—वही : बुद्ध चरित— भूमिका भाग ।

२८—वही : तुलसीदास ।

२६—राहुल सांस्कृत्यायन : पुरातत्त्व निबन्धावली (इंडियन प्रेस, प्रयाग), सन् १६३७ ई० ।

३०—डा० श्याम सुन्दर दास : भाषा-विज्ञान (साहित्य-रत्न-माला कार्यालय, काशी), सं० १६८१ वि० ।

३१—वही : हिन्दी-साहित्य (इंडियन प्रेस, प्रयाग) तृतीय संस्करण, सं० २००१ वि० ।

३२—सुन्दरलाल : गीता और कुरान (हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी, इलाहाबाद) सन् १६४६ ई० ।

३३—डा० सूर्यकान्त शास्त्री : हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास ।

३४—हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई) सन् १६५२ ई० ।

३५—जिन विजय मुनि : कवि अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक' की भूमिका ।

३६—गणेश प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी के कवि और काव्य, भाग १ (हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद), १६४१ ई० ।

३७—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १; भाग ३; भाग १२ (सं० १६८७); भाग १३ (सं० १६८८); भाग १५ (सं० १६६०); भाग ५१ (सं० २००३); भाग ५२ (सं० २००४) ।

३८ - चन्द : पृथ्वीराज रासो।
३९—साहित्यदपण।
४०—काव्य-प्रकाश।
४१—हिन्दी भाषा कोष।
४२—हिन्दी शब्द सागर।

(ख) अँग्रेजी पुस्तकें

1. A. Yusuf Ali : The Holy Qoran (English Translation and commentary)—Shaikh Mohammad Asharaf, Kashmeri Bazar, Lahore, Second Edition, 1934.
2. The Holy Bible.
3. Dr. Tara Chand : Influence of Islam on Indian Culture (Indian Press Ltd. Allahabad) 1936.
4. Dr. Ishwari Prasad : Mediaeval India (Indian Press Ltd., Allahabad), New Edition.
5. Dr. Iswari Prasad : A Short History of Muslim Rule in India (Indian Press Ltd., Allahabad).
6. Elliot and Dowson: History of India as told by its Historians, par. III.
7. S. N Zaffar : The Mughal Empire (S. M. Sadiq Khan, Peshawar) 1936.
8. Rush Brook William : An Empire Builder of the 16th century - Babar.
9. V. A. Smith: Akbar.
10. Kanungo : Sher Shah.
11. Dr. I. H. Qureshi : The Administration of the Sultanate of Delhi.
12. S. R. Sharma : Mughal Empire in India (Karnatak Publishing House) 1940.
13. Todd : Annals of Rajisthan.
14. Dr. S. B. Dasgupta : Obscure Religious Cults (Calcutta University) 1946.
15. C. E. M. Joad : The Story of Indian Civilization (Mac Millan & Co. (1936.)
16. N. N. Basu : The Social History of Kamrupa (Visva Kosh lane, Calcutta) 1922,
17. Dr Isharat Husain : Meta physics of Iqbal, 1944.

18. Sardar Iqbal Ali Shah : Islamic Sufism (Bider and Co. London) 1923.
19. Richard Bill : The Origin of Islam in the Christian Environment (Mac Millan and Co) 1926.
20. Dwight Goddard : Was Jesus Influenced by Budhism (U. S. A.) 1927.
21. E. W. Hopkins : The Religions of India.
22. J. C. Archer : Mystical Element in Mohammad (Yale University Press) 1929.
23. J. C Archer : Mohammad's Practice of Mystical.
24. D. B. Macdonald : Aspects of Islam (Mac Millan and Co.) 1911.
25. Saiyid Amir Ali : The Life and Teachings of Mohammad.
26. R. A. Nicholson : The Idea of Personality in Sufism (Cambridge University Press) 1923.
27. R. A. Nicholson : Studies in Islamic Mysticism (Cambridge University Press) 1921.
28. Allama Dr. Iqbal : Lectures.
29. E. W. Hopkins : Origion and Evolution of Religion 1924.
30. Sir Dr. A. G. Griesson : Essay on Jayasi in the Modern Vernacular Literature of Hindustani.
31. Prof. Pratt : Religious Conciousness.
32. Ranade : Rise of Maratha Powar.
33. Dr. P. D. Barthawala : The Nirgun School of Hindi Poetry.
34. A. G. Sherrif I. C. S. : Padmavat of Malik Mohammad Jayasi (Royal Asiatic Society of Bengal) 1944.
35. Worsfold : Judgment in Literature.
36. Syed Mohammad Badaruddin Alvi : Arabian poetry and Poets (The Jamia Millia Press, Aligarh) 1924.
37. T. P. Hughes : Dictionary of Islam.
38. Modern Review—Nov. 1910.
39. Modern Review – Oct. 1946.
40. Modern Review—Feb. 1947.
41. Amirt Bazar Patrika—Annual Puja Number 1947.
42. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal Part LXXXII, Vol. I.

43. The Imperial Gazetteer.
44. The Gazetteer of Rai-Bareli.
45. The Gazetteer of Sultanpur.
36. Chamber's Encyclopedia.
47. The Everyman's Encyclopedia.
48. The English Encyclopedia.

(ग) उर्दू पुस्तकें

१—सैयद कल्बे मुस्तफा : मलिक मुहम्मद जायसी (तरक्की-ए अंजुमन उर्दू) सन् १९४१ ई० ।

२—डा० मौलाना अब्दुल हक़ : उर्दू की इब्तिदाई नशोनुमा में सूफियाये कराम के काम (तरक्की-ए-अंजुमन उर्दू) द्वि० संस्करण १९३९ ई० ।

३—मौलाना आजाद : आबे हयात ।

४—मौलाना हाली : मुकद्दमा शेरो शायरी ।

५—मौलाना शिबली : मुकालात शिबली, भाग १ व २ (आसी प्रेस, महमूद नगर, लखनऊ)

६—मीर हसन दहलवी : रमूजे-अल-आरफीन, ११८८ हि० ।

७—मुंशी गुलाम सरवर लाहौरी : खंजीता-अल-आसफ़िया (नवल किशोर प्रेस, लखनऊ) भाग १, १२८२ हि० ।

८—नूरुल हसन : हिन्दी जुबान और मुसलमानों का तबई मिलान (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, अक्टूबर सन १९३६ ई० में लेख)

९—अब्दुल शकूर : हसरत मोहानी, १९४४ ई० ।

१०—नूरुल-लुगात ।

११—लुग़ात किशोरी ।

१२—हिन्दुस्तानी-इंगलिश डिकशनरी ।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library
मसूरी
MUSSOORIE
यह पुस्तक निम्नांकित तारीख तक वापिस करनी है ।
This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 891.431
JAI
123904
LBSNAA

H
891.431

अवाप्ति सं०
ACC. No. 15527

वर्ग स.
Class No. ....
पुस्तक सं.
Book No. ....

लेखक
Author ....

शीर्षक
Title ....

H
891.431
जायसी

LIBRARY 15527
LAL BAHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. 123904

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.